मार्कण्डेय और शिव प्रसाद के कहानियों का तुलनात्मक मूल्यांकन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के अन्तर्गत
हिन्दी में डी0 फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० रूद्रदेव
हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

शोधार्थी
दुर्गा प्रसाद सिंह

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2003

अनापत्ति प्रमाण-पत्र

मैं सहर्ष प्रमाणित करता हूँ कि दुर्गा प्रसाद सिंह ने डी.फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध जिसका विषय "मार्कण्डेय और शिव प्रसाद के कहानियों का तुलनात्मक मूल्यांकन" है, मेरे निर्देशन में पूरी निष्ठा, लगन और मेहनत से पूर्ण किया है। इन्होंने शोध सम्बंधी सभी नियमों, निर्देशों का भी सद्यः पालन किया है तथा इनकी उपस्थितियां भी निर्धारित नियमों के अनुकूल रही हैं।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के विषय में शोधकर्ता द्वारा जिन निष्कर्षों एवं मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है प्रायः वे ज्ञानवर्धक एवं मौलिक हैं। मुझे इनकी डी. फिल उपाधि हेतु इस शोध–प्रबन्ध को इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, के समक्ष प्रस्तुत करने में कोई आपत्ति नहीं है।

दिनांक 4. 12. 2003

शोध–निर्देशक

(डॉ0 रूद्र देव)

अनुक्रमणिका

भूमिका

हिन्दी में ही नहीं, विश्व की तमाम समृद्ध भाषाओं में कथा–साहित्य को गम्भीर–रूप की प्रतिष्ठा मिले बहुत दिन नहीं बीते। यूँ भी हिन्दी का गद्य–साहित्य कुछ देर से उठा पर युग की संवेदना के साथ, उसकी क्रिया–प्रतिक्रिया के साथ। राष्ट्रवाद की बढ़ती चेतना तथा उपनिवेशवादी–पूंजीवादी घेरावों के बीच हिन्दी–गद्य साहित्य की जो संवेदना निर्मित हुई उसका प्रारम्भिक रूप तो निबन्धों–नाटकों में मिलने लगा था लेकिन कथा–साहित्य में यह पूरी प्रतिष्ठा प्रेमचन्द के प्रवेश से ही पाता है। जहाँ, नये जमाने की सीमाएँ और समस्याएँ तथा विविधता एवं जटिलता के प्रति साहित्य की संवेदना अभिव्यक्त होती है।

कथा साहित्य में उपन्यासों को प्रतिष्ठा पहले मिली फिर भी कहानी अपनी संवेदना में उससे पीछे नहीं रही। क्योंकि, उपन्यास यदि महाकाव्यों के आधुनिक संस्करण हैं तो कहानी को खण्डकाव्यों का आधुनिक संस्करण कहने में गुरेज नहीं। प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', जयशंकर प्रसाद की पहली खेप कुछ ऐसा ही तथ्य प्रस्तुत करती है। लेकिन, कहना न होगा कि यह नई कहानी आन्दोलन ही था, जिसने कहानियों को उपन्यासों के ऊपर बढ़त दिलायी चाहे, वह समय की संवेदना हो, या जीवन से जुड़ने की प्रक्रिया, प्रत्येक क्षेत्र में कहानियों ने उपन्यासों को पीछे छोड़ा। अमरकान्त, भीष्म साहनी, मार्कण्डेय, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, शेखर जोशी, निर्मल वर्मा, शिव प्रसाद सिंह जैसे नाम साहित्य में नई कहानी की ही देन हैं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के चलते नई कहानी ने प्रभावित किया और उसमें भी ग्राम कहानीकारों ने। ग्राम कहानीकारों के प्रति सहज आकर्षण ग्रामीण पृष्ठभूमि से होने तथा उससे गहरे जुड़ाव के चलते तो था ही, पीछे प्रेमचन्द की किसानों से जुड़ी कहानियों की संवेदना का भी आकर्षण कम नहीं था। अतः शोध का अवसर मिलने पर इन्हीं कहानीकारों को शोध का विषय बनाया गया। चूँकि कहानी किसी न किसी रूप में जीवन का सदैव से ही एक महत्वपूर्ण अंग रही है तथा उसकी आदिम जिज्ञासा से जुड़ी हुई भी है लेकिन आधुनिक युग में कहानियों की भूमिका में परिवर्तन आया जहाँ वह लौकिक जीवन की धार्मिक एवं रहस्यात्मक प्रस्तुति तथा मनोरंजन के स्तर से नीचे

उतर कर मनुष्य से सीधे जुड़ी। कहानियों का एक स्पष्ट उद्देश्य हो गया जीवन–संघर्षों की पक्षकारी। मनुष्य के सुख–दुख कहानियों के सुख–दुख हो गये। ऐसे में कहानियों ने समय की संवेदना को तो अभिव्यक्त किया ही समय के प्रतिपक्ष की भूमिका भी निभाई तथा सामाजिक बदलावों का एक प्रमुख हथियार बन गयी। यहीं आकर दृष्टि एवं विचारधारा महत्वपूर्ण होने लगी अतः शोध का विषय 'मार्कण्डेय और शिव प्रसाद के कहानियों का तुलनात्मक मूल्यांकन' रखा गया ताकि कहानियों को उनकी बदलती भूमिका के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जा सके।

यद्यपि, कि शोध–विषय के दोनों कहानीकारों की पहचान ग्राम कहानीकार के रूप में है लेकिन यहाँ कहानियों के कथ्य एवं उसकी प्रस्तुति को ही केन्द्र में रखने की कोशिश है, न कि, ग्राम और शहर जैसी बहसों को। क्योंकि, युग की संवेदना से जुड़ाव तथा समय की प्रतिक्रिया मनुष्य मात्र में समान होती है, वह गांवों और शहरों में बंटकर नहीं आती। आम–जीवन संघर्षों के स्वरूप में अन्तर हो सकता है लेकिन उसकी प्रतिक्रिया गाँवों और शहरों में नहीं बटती। अतः मुख्य ध्यान यही रखा गया है कि कहानियाँ समय के परिवर्तनों एवं युग की संवेदना को पकड़ने में कितनी सफल रही हैं! यथार्थ की भाव–भंगी को पहचानने में वे कितनी सजग–सचेत रही है क्योंकि प्रसिद्ध हंगरियन आलोचक जार्ज लुकाच के अनुसार वास्तविकता खुद को खास–खास चीजों द्वारा ही अभिव्यक्त करती है। इन्हीं खास–खास चीजों को उभारना तथा उसके तहत दोनों कहानीकारों की कहानियों को देखना ही मुख्य लक्ष्य रहा है।

कहानी ही नहीं बल्कि, साहित्य वृहत्तर सामाजिक उद्देश्यों से परिचालित होता है , अगर ऐसा नहीं है तो उसे होना चाहिए क्योंकि मनुष्य स्वयं सामाजिक उद्देश्यों से चालित होता है जहाँ भौतिक घटनाएँ उसको बनाती–बिगाड़ती, उसका स्वरूप निर्मित करती चलती हैं। अतः एक लेखक के लिए जरूरी होता है कि वह उन सभी परिस्थितियों से जूझे जिससे मनुष्य की सामाजिकता प्रभावित होती है, प्रतिबन्धित होती है क्योंकि तभी वह रचना के स्तर पर उन मूल्यों को प्राप्त कर सकता है जिसे मनुष्य की साझी जरूरतों ने हजारों वर्षों के संघर्षों के पश्चात निर्मित किया है। यहीं आकर एक लेखक के लिए वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भो की समझ जरूरी हो जाती है। क्योंकि मनुष्य अचानक या सोचने भर से पैदा हो गया कोई पिण्ड या प्राणी नहीं है बल्कि विभिन्न भौतिक अवस्थाओं से संघर्ष करके वह यहाँ तक पहुंचा है। अतः एक

लेखक के लिए यथार्थ की प्रकृति जानने के लिए ऐतिहासिक दृष्टि विकसित करनी पड़ती है। शोध–विषय के दोनों कहानीकारों की कहानियाँ इसी आलोक में देखी गयी हैं। साथ ही, साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में कहानी का अपना नियम होता है, उसके कुछ विधान होते हैं, जो परम्परागत ढाँचा तोड़कर भी बने हुए हैं। उससे छूट लेकर कहानी लिखने का मतलब, कहानी को खतरे में डालना है। दोनों कहानीकार इस पर कितने खरे उतरे हैं इसकी भी पड़ताल हुई है।

सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को उपसंहार सहित कुल सात अध्यायों में बाँटा गया है। प्रथम अध्याय में कहानी की परम्परा और विकास का एक सामान्य अध्ययन है, तत्पश्चात युग एवं परिवेश की पड़ताल दूसरे अध्याय में हुई है। तृतीय अध्याय दोनों कहानीकारों के सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। शेष तीन अध्याय कहानी के कथ्य, शिल्प और भाषा से सम्बन्धित हैं तथा अन्तिम अध्याय में सामान्य निष्कर्षों के साथ उपसंहार हुआ है। अन्त में परिशिष्ट के रूप में मार्कण्डेय एवं शिव प्रसाद सिंह की कहानियों के नाम संग्रह के क्रमानुसार दिये गये हैं तथा सहायक पुस्तकों को हिन्दी वर्णक्रम में रखा गया है। अंग्रेजी पुस्तकों को अंग्रेजी वर्णक्रम में रखा गया है।

इस शोध–प्रबन्ध को प्रस्तुत करते हुए सुखद अनुभूति हो रही है क्योंकि शोध–विषय के रूप में ग्राम कहानीकारों का चयन करते समय जो उत्साह था, वह जल्द ही ठण्डा पड़ता प्रतीत हुआ जब ग्राम कहानियों से सम्बन्धित सीमित सामग्रियों तथा उसे हाशिए के रूप में रखकर चर्चा करने की प्रवृत्तियों से पाला पड़ा, लेकिन इसे चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए खुशी ही हुई क्योंकि ऐसे में चीजें और निखर कर सामने आती हैं, फिर इसमें गुरूदेव एवं शोध–निर्देशक डा० रूद्रदेव जी के सहयोग एवं सलाहों का विशिष्ट योगदान रहा। क्योंकि उन्हीं की सलाह से कुछ कहानीकारों एवं साहित्यकारों–समीक्षकों से मिलना तय किया गया।

इस क्रम में नीलकान्त जी, अमरकान्त जी, मार्कण्डेय जी, काशीनाथ सिंह जी एवं विवेकी राय जी से कहानियों पर तो बातचीत हुई ही उनकी सलाहें भी मिलती रहीं। लेकिन एक और जो अनुभूति मिली वह थी, उनकी अनौपचारिक ढंग की मुलाकातें जो यादों के रूप में जीवन से जुड़ गयीं। शुकदेव सिंह जी का भी नाम लेना चाहूँगा जिन्होंने कुछ अपने ढंग का योगदान दिया एवं शिव प्रसाद सिंह के निजी

जीवन से जुड़े कुछ खट्टे–मीठे पहलुओं से परिचित कराया। इसके अतिरिक्त हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के गुरूजनों का भी महत्वपूर्ण सहयोग रहा, जिसमें प्रो0 सत्यप्रकाश मिश्र एवं डा0 रामकिशोर शर्मा जी विशेष उल्लेखनीय हैं।

शोध–प्रबन्ध के पूरा होने में कुछ पुस्तकालयों का भी भरपूर सहयोग मिला, जिसमें साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खास करके साहित्य अकादमी का मैं आभारी हूँ क्योंकि शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का प्रथम खण्ड मुद्रण में था और जल्द उपलब्ध होने की कोई सम्भावना नहीं थी ऐसे में साहित्य अकादमी ने उसे मुहैया कराकर शोध–कार्य को आसान किया। इसके अलावा अरूण सिंह, जिराक्स सेक्शन, केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं कुमार विरेन्द्र, हिन्दी परिषद पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का भी सहयोग रहा।

उपर्युक्त सभी लोगों के प्रति आभार प्रकट करते हुए अब उन लोगों के सहयोग की चर्चा करना चाहूँगा जिसका कोई मूल्य नहीं। इसमें सबसे पहले मैं नाम लेना चाहूँगा आशीष सिंह 'बादल' पूर्व छात्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, का, जिसने पांच सौ किलोमीटर की लगातार बाइक ड्राइविंग कर इलाहाबाद, वाराणसी, जौनपुर, गाजीपुर की दूरियों को बौना कर दिया। उसी के जीवट का फल था कि कम समय में जहाँ तमाम तथ्यों का संकलन करने में सफल रहा, वहीं विवेकी राय जी, काशीनाथ सिंह जी एवं शुकदेव सिंह जी से मुलाकात एवं बातचीत कर शोध–प्रबन्ध से सम्बन्धित सहयोग प्राप्त करने में भी सफल रहा। यह उसका जीवट ही था कि सब कुछ आसान होता गया एवं भूदान, भूमि हदबन्दी एवं जमीन्दारी उन्मूलन जैसे भूमि सुधारों की क्षेत्रीय स्थिति एवं तत्कालीन (1950 के दशक) विकास परियोजनाओं की वास्तविक स्थिति, तथा राजनीति की क्षेत्रीय सक्रियता के बारे में तमाम जानकारियाँ प्राप्त कर सका। इन जानकारियों के लिए मैं आभार व्यक्त करना चाहूँगा मार्कण्डेय भाई जी, समग्र सेवा आश्रम, रतनूपुर, जौनपुर एवं उस पूरे क्षेत्र के ग्रामवासियों का जिसमें बराईं एवं पेसारा के ग्रामवासियों का विशेष उल्लेख करना चाहूँगा। उल्लेखनीय है कि बराईं, जहाँ मार्कण्डेय जी का मूल गाँव है वहीं उनकी कहानियों का परिवेश भी रहा है, जहाँ से उन्होंने कई कहानियाँ उठाई हैं।

इस शोध–प्रबन्ध को पूरा करने में जिन मित्रों का सहयोग मिला उसमें अमरजीत सिंह बल, सौरभ राय एवं रजनीश सिंह (प्रतियोगी छात्र, मुखर्जी नगर, दिल्ली) का विशेष योगदान रहा जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर कहानियाँ पढ़ीं तथा एक आम पाठक की राय से परिचित कराया। खास करके आंचलिकता पर अमरजीत सिंह बल की दृष्टि एवं कहानी की सम्प्रेषणीयता पर सौरभ राय एवं रजनीश सिंह की दृष्टि का उपयोग शिल्प खण्ड के लिए उपयोगी साबित हुआ। इसके अतिरिक्त राकेश कुमार द्विवेदी (शोध–छात्र, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) एवं दिनेश प्रताप राव (शोध–छात्र, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के साथ चर्चाओं से भी लाभ उठाया। खास करके दिनेश प्रताप राव की सक्रियता और सहयोग का मैं ऋणी रहूँगा।

इसके अलावा मैं खुद की दृष्टि के विस्तार एवं विकास में पापा (श्री राम यश सिंह) एवं भ्राता श्री (श्री अजीत प्रताप सिंह) के योगदान को भी महत्वपूर्ण मानता हूँ। क्योंकि, शोध प्रबन्ध में जिस ऐतिहासिक दृष्टि और सामाजिकता की मांग को केन्द्र में रखने की कोशिश हुई है, वह उन्हीं के सानिध्य में विकसित हुई। भ्राताश्री को पढ़कर ही मैंने सामन्तवाद एवं फांसीवाद को करीब से जाना, महसूस किया। उनके साथ रहकर सामाजिक जुड़ाव भी हुआ एवं मैं समाज के पिछड़े एवं निचले तबके के लोगों के जीवन के सम्पर्क में आया। उनके जीवन को करीब से देखने का अवसर मिला। उनकी जीवन जीने की कला, उनकी जीवटता–जीवन्तता, नैतिकता के उनके मानदण्ड, सामूहिकता में उनके विश्वास एवं जीवन में उनकी अटूट आस्था से परिचित हुआ। जिससे कहानियों के कथ्य एवं चरित्र की प्रकृति को समझने में तो आसानी हुई ही वस्तुगत ऐतिहासिक दृष्टि भी विकसित हुई। अन्त में शोध–प्रबन्ध के टंकण–मुद्रण के लिए भाई अवधेश मौर्य जी का आभार व्यक्त करता हूँ जिनके सहयोग से यह शोध–प्रबन्ध समय से सामने आ सका।

अन्त में अपनी वाणी को विराम देते हुए इस ग्रन्थ में अवश्यम्भावी गलतियों के लिए श्रेष्ठ एवं विज्ञ जनों से क्षमा–प्रार्थना करता हूँ।

प्रस्तुतकर्ता

दुर्गा प्रसाद सिंह

(दुर्गा प्रसाद सिंह)

अध्याय - 1
कहानी
परम्परा और
विकास

कहानी : परम्परा और विकास

1.1. परिचय

मनुष्य ने जगत में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है, और पा रहा है, उसी को साहित्य कहते हैं और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।[1] साहित्य की बहुत सी परिभाषाएं की गयी हैं, पर उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना[2] है। वह चाहे जिस रूप में हो उसे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।[3] कहानी उससे अलग नहीं, बल्कि "कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है"।[4] उसी समय से जबसे आदमी ने बोलना सीखा।[5]

भारतीय साहित्य का प्रारम्भिक परिचय हमें धार्मिक साहित्य के रूप में मिलता है। लेकिन धार्मिक साहित्य भी अन्ततः मानव आख्यान ही हैं, जरूरत इस बात की है कि उसमें से उस मानव[6] को निकालकर स्थापित किया जाय जिसका बिम्ब–प्रतिबिम्ब, रूपक–प्रतीक, प्राकृतिक रहस्यों के आलोक में धार्मिक हो गया है। क्योंकि किसी भी कला का जन्म भौतिक विकास की अवस्थाओं के अनुरूप ही होता है।[7] कथा–कहानियाँ भी मानव विकास के या सभ्यता के आरम्भ से ही उसके राग–द्वेष, भावों–अनुरागों, सुखों–दुःखों एवं उसकी कल्पना से जुड़ी रही हैं। अपने–अपने रूपाविधि एवं प्रयत्न के साथ प्रत्येक देश–काल में।

जैसा कि जाहिर है, कला साहित्य भौतिक अवस्थाओं के ही प्रतिफल होते हैं, न कि किसी अतीन्द्रिय[8], पारलौकिक अवस्थाओं के। और धर्म भी भौतिक जीवन की ही अभिव्यक्ति थी लेकिन पारलौकिकता का प्रवेश राजतन्त्रों के उदय[9] के साथ ही होता है। और आदमी उसकी शरण में जाने के लिए विवश हो जाता है। ऐसे मानव के लिए धर्म एक कवच बन गया, उसकी जरूरत बन गयी।

साहित्य और कला इसी विवश मानव की अभिव्यक्ति थी जिसे धार्मिक कहकर खारिज नहीं किया जा सकता क्योंकि साहित्य सदैव से मानवता का पक्षधर रहा है तथा उसने परिवर्तन कारी शक्तियों का ही साथ दिया है। यह बात और है कि शासन–सत्ता उस पर कब्जा करता रहा और अपने हितों की तरफ मोड़ देता रहा।

1.2 इतिहास एवं साहित्य

राजतन्त्रात्मक उठान तथा वैदिक कर्मकाण्डों के विरूद्ध जो प्रतिक्रिया उपनिषदों एवं बौद्ध–जैन धर्म के रूप में होती है, उसी की अभिव्यक्ति रूपक एवं जातक कथाएं हैं। नई उभरती शक्तियों व जन सामान्य को उसने वाणी दी तथा तत्कालीन परिवर्तनकारी एवं प्रगतिशील तत्वों का प्रतिनिधित्व किया।

बाद में चलकर पुरोहितवाद तथा पुरोहित–साहित्य समझौते के रास्ते पर चलकर पुनः वापस आते हैं।[10] जहाँ पहले वेद एवं शस्त्र–शिक्षा ही दी जाती थी, राम को बला–प्रतिबला की शिक्षा देने का भी उल्लेख है[11] तथा रावण भी वेद–विद्या में पारंगत बताया जाता है।[12] मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि उस समय अधिकतर विद्यार्थी वैदिक–साहित्य के अतिरिक्त स्मृतियाँ, इतिहास और पुराण पढ़ते थे।[13] कुछ अन्य विद्यार्थी नास्तिक–सम्प्रदायों के शास्त्र पढ़ते थे।[14] वहीं मिलिन्दपन्हों में शकुन–विज्ञान, स्वप्न–विज्ञान आदि की शिक्षा का भी उल्लेख है।[15] अर्थशास्त्र, इतिहास–शिक्षा की भी चर्चा करता है।[16] उस समय इतिहास में पुराण, इतिवृत्ति, आख्याइका, उद्धरण (रूपक–कथाएं), धर्म–शास्त्र सभी विषयों का अध्ययन सम्मिलित था।[17]

निश्चित रूप से कथा–कहानी पुरोहितेत्तर साहित्य–विद्या थी जिसका विकास 6वीं शदी ई0पू0 के धार्मिक–सामाजिक आन्दोलनों के साथ ही होता है जिसमें जहाँ वैश्यों *(वाणिज्य–व्यापार) की स्थापना* हुई तो वहीं राज्य–शक्ति में वृद्धि हुई और इसी के साथ आर्यो के समता मूलक समाज के विघटन की प्रक्रिया भी पूरी हो गयी तथा एक दूसरी विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसमें शूद्र एवं घुमन्तू जातियाँ कृषि–व्यवस्था से जुड़ी तथा अनेक जन–जातियाँ कृषि प्रसार के तहत वर्ण–धर्म व्यवस्था में समाहित हुई। जाहिर है, उनके साथ उनकी मान्यताएं, पूजा–पद्धति, जीवन शैली भी आयी। इसका प्रभाव कला एवं साहित्य दोनों स्थानों पर नजर आता है।[18] कथाएं भी इन्ही लोकतत्वों की देन थी।[19] इतना ही नहीं धर्मसूत्रों द्वारा वेदांगों के *अध्ययन की व्यवस्था कृष्ण पक्ष*[20] *में दी गयी है जबकि वेदों की शुक्ल पक्ष में। यह* पुरोहितवाद का लोकतत्वों से समझौते का ही परिणाम है। यह कृष्ण पक्ष ब्राह्मणेत्तर पक्ष ही है।

मौर्यकाल में सीमान्त प्रदेशों में हुए कृषि–विस्तार एवं वहाँ पुराहितों को लगाए जाने से भी इन तत्वों का समावेश संस्कृति के बनने एवं साहित्य–सृजन में हुआ।

पुरोहितों द्वारा उन्हें उन्हीं की शैली में ब्राह्मण धर्म के बारे में जानकारी दी जाती थी जिसमें *कथा–गोष्ठियाँ*[21] प्रमुख थी जिनका आयोजन गाँव वाले या सीमान्तवासी करते थे। इन कथा–गोष्ठियों में धर्म ग्रन्थों एवं इतिहास–पुराण का पाठ एवं व्याख्याएं होती थीं। यह कृषि विस्तार का प्रत्यक्ष परिणाम था।[22] नई उत्पादन शक्तियों एवं श्रमिक शक्तियों को वाणी देने के कारण बौद्ध धर्म ने जो लोकप्रियता प्राप्त की उसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण धर्म ने लोकप्रिय उपासनाओं को आगे बढ़कर अपनाया।[23] त्रिदेव की परिकल्पना सामने आयी जिसमें ब्रह्म प्रारम्भिक समता मूलक आर्य–समाज के प्रतीक थे, विष्णु राज्य स्थापना एवं शासक के प्रतीक थे तथा शिव अनार्यवादी मान्यताओं के प्रतीक थे। शिव की पूजा के साथ–साथ लिंग–पूजा और नंदी–पूजा जैसी आर्येत्तर युग की कृषि–जीवन से सम्बन्धित अनेक पूजा–पद्धतियाँ चल पड़ी।[24]

वैदिक परम्परा से अलगाव का परिणाम यह हुआ कि वैदिक ग्रन्थों में जिस धार्मिक जीवन के महत्व का चित्रण किया गया था, अब वह महाकाव्यों (महाभारत–रामायण) तथा पुराणों में प्रतिध्वनित होने लगा।[25] महाकाव्यों में मूलतः तो लौकिक दृष्टिकोण से वीरों का यशगान किया गया था इसलिए पुरोहितों ने उन्हें धार्मिक स्वरूप देने के लिए संशोधित किया तथा अनेक क्षेपक जोड़कर उनके मूल स्वरुप को बदल दिया।[26] इसी तरह पुराणों के साथ भी होता है।[27] जिसका जन्म अतीत की लोक प्रचलित स्मृतियों के रूप में हुआ था।

लोक–उपासनाओं के साथ मिश्रण के माध्यम से विकसित होने वाला ब्राह्मणीय धर्म[28] भक्ति के सिद्धान्त पर आधारित था। बौद्ध धर्म से उधार लिए गए इस सिद्धान्त की शिक्षा यह थी कि देवता और उसके भक्त के बीच सर्वथा व्यक्तिगत सम्बन्ध सम्भव है लेकिन मात्र यज्ञ करने से नहीं बल्कि भक्ति से। भक्ति अडिग श्रद्धा से उत्पन्न होती है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आपत्तिजनक व्यक्तिगत जीवन–चरित्र के बावजूद कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार किया गया बल्कि भगवद्गीता में भक्ति का प्रथम स्पष्ट प्रतिपादन करते स्वयं कृष्ण को चित्रित किया गया है।

वस्तुतः भक्ति की यह परम्परा नई उभरती आर्थिक शक्तियों की भी अभिव्यक्ति थी जो भू–अनुदानों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो रही थी। यह बढ़ते सामाजिक स्तरीकरण की अभिव्यक्ति थी।

पुराण–आख्यानों को अगर बदली हुई दृष्टि से देखा जाय तो जो तश्वीर उभरती है वह तत्कालीन इतिहास की भौतिक अवस्था को ही दिखाती है लेकिन उसमें अभी तक सिर्फ देवी–देवताओं या पारलौकिकता को ढूंढा गया और उसकी व्याख्या हुई। जब तक उसमें मनुष्यों का इतिहास ढूढने की कोशिश नहीं होगी और उसे धर्म–आख्यान के स्तर से नीचे नहीं उतारा जाएगा वह मृत साहित्य ही बना रहेगा।

उपनिषदों की रूपक कथाएं जहाँ पूर्व कबीलियायी जीवन या समतामूलक समाज की कल्पना करती हैं, जब राजन्य (ब्रह्म) और सामान्य जन (आत्मा) में कोई विभेद नहीं था। यह तात्कालिक राजनीतिक ढाँचे के अनुकूल था क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में बड़े–बड़े महाजनपदों का उद्भव होने लगा था तथा राजा एवं प्रजा में वही दूरी स्थापित हो चुकी थी जो ब्रह्म एवं जीव में। इस तरह ब्रह्म प्रतीकात्मक रूप में राजतन्त्र की ऊँचाई और उठान को रेखांकित करता है।

वही पुराण–आख्यानों में जो इन्द्रलोक या देव लोक की चर्चा मिलती है, वस्तुतः वह तात्कालीन राजनीतिक अवस्था की द्योतक है क्यूँकि केन्द्रीय सत्ता ढीली पड़ने लगी थी एवं नीचे के स्तर पर सामन्तीकरण एवं सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न होने लगा था। अर्थात सैद्धान्तिक रूप से केन्द्रीय सत्ता थी लेकिन व्यवहार में सत्ता भू–अनुदान भोगियों के हाथ में थी। यही है देवलोक एवं भू–लोक का चक्कर। साथ ही शूद्रों के किसान–रूप में स्थापित[29] हो जाने से देवता–राक्षस परिकल्पना भी सामने आयी क्योंकि शूद्रों के अन्दर द्विज जातियों के प्रति वैर–भाव था। वे अपने जीवन की स्थितियों से पूरी तरह असन्तुष्ट थे और अपराध कर्मों में लिप्त थे।[30] अधिकतर शूद्र बहुत ही क्षुब्ध और असन्तुष्ट थे, इसलिए यदि वे शकों एवं कुषाणों जैसे विदेशी शासकों के जमाने में, जिनका वर्ण–व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं था, पुरोहितों के विरोधी हो गये हों, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं मानी जाएगी।[31] और फिर भूमि अनुष्ठानों से यह विरोध और तीव्र हुआ होगा क्योंकि इसमें अनुदान–भोगियों और

किसानों के बीच टकराव सम्भव था।[32] कलियुग की अवधारणा एवं भक्ति तथा पुराणों में देवता–राक्षस कथाएं इसी की देन हो तो आश्चर्य नहीं।

गुप्तकाल में एक नये ढंग के गॉव सामने आते हैं जहाँ राज प्रसाद–प्राप्त लोगों को आश्रय मिलता था। मार्कण्डेय पुराण बतलाता है कि ऐसे गाँवों में अधिकांशतः दुष्ट और शक्तिशाली लोग रहते थे, इनके पास अपनी जमीन और खेती–बारी नहीं होती थी और ये दूसरों की जमीन और खेती–बारी पर जीते थे।[33] ऋषियों के जंगलों में रहने की जो अवधारणा बनी उसके पीछे भी सम्भवतः भूमि–अनुदान या कृषि प्रसार ही था। लोकनाथ के टिपड़ा अभिलेख[34] में 100 ब्राह्मणों के जीवन निर्वाह के लिए जंगली इलाका दान दिये जाने का प्रमाण मिलता है। ऐसे में पुराण–आख्यानों में तमाम ऋषियों की कुटी जंगलों में मिलना स्वाभाविक ही था। रामायण की कथाओं एवं पुराणों के राक्षस सम्भवतः ऐसे ही क्षेत्रों के मूल बासिन्दे रहे होंगे जो अपने अधिकारों को छिनते देख उत्पात पर उतर आते रहे होंगे।

अतः प्राचीन कथाएं, धार्मिक कथाएं मात्र न होकर इतिहास का एक पक्ष हैं। साथ ही तत्कालीन समाज को समझने का एक जरिया भी। नैतिक कथाओं का आधार भी यही है। यह मानना खाम खयाली है कि नीतिशास्त्र और मानदण्ड, मूल्य आदि हवा में बनते हैं और वहाँ से हमेशा मानव सभ्यता पर प्रभाव डालते हैं।

1.3 कथा साहित्य की परम्परा और ऋग्वेद

कथा–साहित्य की परम्परा का उद्‌गम वैदिक साहित्य से ही माना जा सकता है। ऋग्वेद में कई संवाद–सूक्त हैं, जिनसे कथा–साहित्य का मुख्य संवाद तत्व प्राप्त होता है। ऋग्वेद में मानवेतर जीवों को मानव का प्रतिनिधि बनाया गया है और उनसे वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित किया गया है। ऋग्वेद 10–108 में[35] देवशुनी सरमा और पणियों का संवाद प्रस्तुत किया गया है। इसमें सरमा (कुतिया) पणियों (कृपणों) को उपदेश देती है।[36] इससे आस–पास के जीवन, परिवेश से सम्बन्ध का पता चलता है लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात कि इसी परम्परा का विकास प्रेमचन्द (दो बैलों की कथा) तथा मार्कण्डेय तक (प्रलय और मनुष्य, सवरइया) में मिलता है जो युगीन सन्दर्भों एवं संवेदनाओं से सम्पृक्त होकर भी एक देशीपन[37] एवं जातीयता लिए हुए है।

पर कथा–साहित्य में जो खास प्रवेश होता है; वह है इन्द्र–वृत्र–युद्ध आदि को कथा का रूप दिया जाना। यास्क ने जिसे निरूक्त में इत्यैतिहासका[38] कहा है।

"अब (मैं) इन्द्र के पराक्रमों का कथना करूँगा, जिन्हें वज्रधारी ने पहले किया था। (उसने) अहि को मारा, जल का भेदन किया (तथा) पर्वतों को काटकर नदियों को बहाया"[39]।

यह *"कथन करना" ही कथा–साहित्य का महत्वपूर्ण प्रवेश माना जाना चाहिए* क्योंकि इन्द्र के इन्हीं पराक्रमों का विकास अपने कई चरण पूरा करता है, रामायण से लेकर महाभारत, पुराण तक। जन से लोक और लोक से जन। जैसे–जैसे आर्य–अनार्य, आर्य असुर सम्पर्क बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे इन कथाओं का लोकग्रहीकरण, संस्कृतीकरण होता जाता है। संस्कृतियों के बनने के क्रम में इन कथाओं का विकास होता है। कौन, किससे कहाँ प्रभावित हुआ और क्या जोड़ा गया, क्या हटाया गया यह जिज्ञासा का विषय होना चाहिए और यही एक सही तरीका भी *हो सकता है।*[40]

इन्द्र शक्ति और पराक्रम[41] का ही प्रतीक मालूम पड़ता है। जिसने आर्यों की सत्ता की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसे लोग यदि कथाओं के विषय बन जाँय तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि शक्ति, पराक्रम और तेजस्विता ने लोक–कल्पना को आधुनिक युग में भी प्रभावित किया है।

बोल्गा से गंगा में पुरुहूत[42] को प्रथम इन्द्र बताया गया है। जो व्यापार एवं कृषि करने वाली नस्लों (अनार्य, असुर)[43] के सम्पर्क में आ चुके आर्य जनों से अपनी विशिष्टता बचाए रखने के लिए चुना गया प्रतीत होता है।[44]

"पुरुहूत को साफ दीख रहा था कि यदि मद्रों के इस व्यापारिक अन्याय को रोका नहीं गया, तो ऊपरी जनों के लिए कोई आशा नहीं"।[45]

इसी तरह इन्द्र के सम्बन्ध में कई वर्णन मिलते हैं जो बाद में कथाओं के रूप में विकसित हुए।

"इन्द्र (तुमने) जिस समय अहियों में सर्वप्रथम जनमने वाले को मारा, और माया करने वालों की माया को भली–भाँति नष्ट कर दिया, उस समय सूर्य, द्युलोक (तथा) उषा को जनमाते हुए (तुमने) निश्चित रूप से (किसी) शत्रु को नही पाया"।[46]

रामायण की कथा में रावण को जहाँ मायावी माना गया है, वहीं महाभारत में घटोत्कच की कथा भी, उसे माया–विद्या से युक्त दिखाती है। यह सम्भवतः कोई पुरोहित विधान–कर्म लगता है जिससे आर्य परिचित नहीं थे। युद्ध–सम्बन्धी सभी कथाओं में इस परम्परा का विकास होता है।

"पैरों, हाथों से हीन (वृत्र) ने इन्द्र से समर करना चाहा, (इन्द्र ने) उस (वृत्र) के कन्धे पर वज्र से प्रहार किया। नपुंसक वृत्र बलवान के समान बनने की इच्छा करता हुआ *अनेक स्थानों में (अंगों द्वारा) विखरकर सो गया।*[47]

पैरों, हाथों से हीन का तात्पर्य घोड़ों (रथों) से हीन तथा वज्र जैसे हथियारों से हीन जाति प्रतीत होती है। आर्यों के पास दोनों चीजें थीं ऐसे में बाद में चलकर रावण अगर कई भुजाओं वाला, रथों से युक्त एवं राम पैदल हो गये हों तो आश्चर्य नहीं। अभावों द्वारा भावों की सृष्टि ही (कल्पना) लोक–कथा है। यह बौद्ध–धर्म का प्रभाव भी हो सकता है क्योंकि बुद्ध ने शिक्षाओं के माध्यम से जंगली जातियों को सभ्यता के दायरे में शामिल किया। (बाल्मिक, अँगुलीमाल की कथाएं)।

"इन्द्र, (तुमने) अहि के किस अनुयायी को देखा? जिससे तुम्हारे ह्रदय में डर घुस गया है।"[48]

इसे महाभारत की अर्जुन के मोह वाले प्रसंग से जोड़कर देखा जा सकता है। युद्ध के बाद मृत्युबोध से तमाम कथाओं ने मानवीय पक्ष पर अधिक बल देना शुरू कर दिया तो गलत नहीं। (जातक कथाएं, प्राकृत कथाएं)

"जिसने डगमगाती हुई पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने विक्षुब्ध पर्वतों को स्थिर किया, जिसने अति विस्तृत अन्तरिक्ष को नाप लिया (तथा) जिसने द्युलोक को स्तब्ध *(स्थिर) कर दिया, लोगो! वह (ही) इन्द्र है।*[49]

यह कथा ऋग्वेद में बहुशः वर्णित इन्द्र द्वारा पर्वत दृढ़ीकरण के पौराणिक विकास के कथारूप को संकेतित करती है। इससे रूपक–कथाओं का विकास हुआ माना जा सकता है।

> *"जिसने अहि को मारकर सात जलधाराओं को प्रवाहित किया,*
> *जिसने बल के बाड़े में (बंद) गायों को बाहर निकाला,*
> *जिसने दो बादलों के बीच अग्नि उत्पन्न की (और जो)*
> *समर में सबको समेटने वाला है, लोगों। वह इन्द्र है।"*[50]

परशुराम–सहस्त्रबाहु अर्जुन कथा इसी का विकास सम्भव है बल ही बाद में बालि (अर्जुन का पिता) हो गया हो तो अचरज नहीं। विश्वामित्र द्वारा भी गायों को चुराने की कथा है। यह पुरोहित रूपान्तर प्रतीत होता है। लेकिन दिलचस्प बात है कि इन्हीं गुणों का (इन्द्र के) आरोपण हनुमान में भी सम्भव है। अहिरावण को मारने की कथा उसी का विकास है।

- "जो समृद्ध का, जो दरिद्र का और जो याचना करते हुए मन्त्र स्तोता का प्रेरक है, सुन्दर कपोल वाला जो (देव) (सोम चुआने के निमित्त) पाषाणों को संयोजित करने वाले सोम को चुआने वाले (यजमान) का सहायक है, लोगों वह इन्द्र है।"[51]
- "जिसके शासन में घोड़े, गायें, गाँव तथा सब रथ है। जिसने सूर्य, (और जिसने) उषा को उत्पन्न किया है, (एवं) जो जलों को बहाने वाला है, लोगों! वह इन्द्र है"।[52]
- "युद्ध में लड़ती हुई और सिंहनाद करती हुई दो सेनाएं जिसे (इन्द्र को) विविध प्रकार से पुकारती हैं। इधर तथा उधर के दोनों ही शत्रु (जिसे पुकारते हैं) और समान रथ में आरूढ़ (दो रथी) (जिसे) पृथक–पृथक पुकारते हैं, लोगों! वह इन्द्र है"।[53]
- "जिसके बिना लोग विजय नहीं पाते, युद्ध करते हुए (लोग) जिसे सहायता के लिए पुकारते है, जो विश्व का प्रतिरूप है, (और) जो अचलों को भी चल बना देता है, लोगों! वह इन्द्र है।"[54]
- "जो महान पाप धारण करने वाले बहुत से अपूजकों को वज्र से मार डालता है, जो दृप्र के दर्प को नहीं सहन करता, (तथा) जो असुर का बध करने वाला है। लोगों! वह इन्द्र है।"[55]

राम और कृष्ण से सम्बन्धित कथाएं इन्हीं का अलग–अलग विकास प्रतीत होती हैं। जिसकी कथाएं रामायण–महाभारत के रूप में विकसित हुई। राम–कृष्ण से जुड़ी उद्धार–कथाएं यहीं से प्रभाव ग्रहण करती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित तत्वों का प्रवेश भी इन कथाओं में अपना विशिष्ट योग देता है। साथ ही लोकरूपों से भी इन कथाओं में काफी परिवर्तन किया

होगा एवं प्रभाव ग्रहण किया होगा। आज भी गाँवों में बीर–स्मारकों से जुड़ी कथाएं पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही हैं। मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह की प्रारम्भिक कहानियों में यह परिलक्षित होता है। स्वतन्त्रता संघर्ष ने ऐसी कहानियों को और भी जीवन्त कर दिया होगा सन्देह नहीं। ऐतिहासिक एवं मानवीय संघर्ष की जो प्रतिध्वनि[56] इन्द्र द्वारा "अमानुष" मायावी असुरों के साथ युद्ध में होती है, उसका कथारूपों में विकसित होना अचरज नहीं। रामायण–महाभारत पुराण से लेकर जातक–प्राकृत कथाओं एवं लोक–रूपों में होती हुई वह स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़ गयी हो तो, इसमें गलत कुछ भी नहीं क्योंकि मानव से उसकी संस्कृतियों का सम्बन्ध जगजाहिर है। ऐसे में "उराने कहा था" का लहना सिंह आधुनिक युद्ध का इन्द्र प्रतीत नहीं होता? "उसने कहा था" एक युद्ध–विरोधी कहानी[57] तो है ही, साथ ही वह अपने यहाँ की कथा–परम्परा के राह में पड़ने वाली कहानी भी है। उसकी लोकप्रियता की यह भी एक विशेषता है।

तो युद्ध–विभीषिका की कहानी हो (महाभारत) या मानवीय संघर्ष (रामायण) की, दर्शन (रूपक–कथाएं, उपनिषद) की हो या धर्म (पुराण) की, या फिर व्यक्तिगत पराक्रम और प्रेम की (वृहत्कथा की परम्परा की कहानियाँ) सभी ने ऋग्वैदिक कथाओं की क्रिया–प्रतिक्रिया में ही रूप और आकार ग्रहण किया। और स्वयं उन कथाओं के भी लोक से प्रभाव ग्रहण करने से इनकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि लोककथाएं अभावों द्वारा भावों की सृष्टि है यानि कल्पना। कल्पना में रूपकों–प्रतीकों और मानवीकरण का विशेष महत्व होता है। जैसे आर्यों की लोक–कथाओं में यदि दुर्ग (किला) का विशेष महत्व होगा तो अनार्यों की लोक–कथाओं में घोड़ों और रथों का। यह दोनों के सम्पर्क का, संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम है। आर्यों की लोक–कथाओं में यदि वृक्षों–पशुओं या प्रकृति का मानवीकरण महत्वपूर्ण है तो आनार्यों की कथाओं में घोड़ों और युद्ध–प्रियता (आर्यों के) के चलते दैवीकरण महत्वपूर्ण है। आर्यों की कथाओं में यदि असुरों, राक्षसों की संख्या अधिक होगी तो अनार्यों की कथाओं में देवताओं की। पुराणों के आख्यानों तक आते–आते रामकथा और कृष्णकथा में देवताओं–राक्षसों का बाहुल्य, दोनों के मेल–मिलाप और सम्पर्क का ही नतीजा मालूम पड़ता है।

1.4 जातक कथा

भारत का सांस्कृतिक रूप तैयार करने में बौद्ध–धर्म की भूमिका, ब्राह्मण धर्म से अधिक ही ठहरती है क्योंकि लोक मानस एवं हाशिये पर पड़ी जनसंख्या तथा विदेशी तत्वों को समाज की मुख्य धारा से जोड़ने में इसी धर्म ने रास्ता तैयार किया। इसी का आधार लेकर वैष्णव–धर्म खड़ा हुआ जो कालान्तर में शैव–शाक्त तथा अन्य मतों को समेटता हुआ वर्तमान "किसान केन्द्रित हिन्दू"[58] धर्म बना।

बौद्ध धर्म ने तत्कालीन उभरती आर्थिक एवं सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व किया। यह कृषि व्यवस्था की बढ़ती भूमिका एवं नगरों के उदय से सम्बन्धित था। इसी समय गंगा–घाटी के जंगलों के माध्यम से जनसंख्या में एक नये तत्व (अर्थात शिकारी)[59] का समावेश हुआ। अँगुलिमाल और बाल्मीक की कथाएं जग प्रसिद्ध हैं जो इसी ओर संकेत करती हैं। दूसरी ओर, कृषि–बस्तियों की बढ़ती जनसंख्या ने पशुओं की खालों, जंगलों से प्राप्त होने वाली अन्य वस्तुओं – यहां तक कि मांस के लिए भी बाजार उपलब्ध कराया (बी0बी0 लाल)[60] बदले में शिकारी अपने जंगली भोजन के साथ अब अन्न भी ग्रहण कर सकते हैं।

अतः यह माना जा सकता है कि स्थाई रूप से बसे समुदायों के चारों और भोजन संग्रही जनसंख्या बढ़ती रही होगी तथा नागा, कोली और निषाद फलते–फूलते रहे तथा उनका प्रभाव परवर्ती वैदिक अनुष्ठानों में प्रवेश पाता चला गया (कोशाम्बी, विवेकानन्द झा)[61] । वे चौथी शताब्दी ई0पू0 तक इतने उल्लेखनीय ढंग से महत्वपूर्ण हो चुके थे कि चरवाहों के साथ उन्होंने जिस जाति का निर्माण किया वह मेगस्थनीज द्वारा वर्णित सात जातियों में से तीसरी थी।[62]

कृषि के इस जनतन्त्रीकरण के साथ सामाजिक परिवर्तन भी जुड़ा हुआ था। जन जातियों का विघटन हुआ और उनका स्थान जातियों ने ले लिया। जैसे–मूल गुर्जर जनजाति से उद्भूत गूजरों से बदगूजर अलग हो गये। उसी प्रकार गौंडो से राजगोंड अलग हो गये। ऐसे ही किसानों की बहुत सी जातियों का विकास हुआ।[63] किसान जातियों का उद्भव अंशतः एक अन्य परिवर्तन की ओर संकेत करता है।[64] अर्थात श्रम के सामाजिक विभाजन का अगला विकास जिसमें किसान, कारीगरों से

अधिक दृढ़तापूर्वक अलग होते चले गये। जातकों से हमें कुछ ऐसे विनिर्माताओं के गाँवों के बारे में पता चलता है, जो पूर्णतः लुहारों और बढ़इयों के ही थे।

कृषि और शिकार के बीच सह–आस्तित्व कदाचित विभिन्न कालों में विभिन्न क्षेत्रों में एक विशेष बिन्दु पर जाकर टूट गया। जंगल के वे क्षेत्र जो शिकारियों को अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक थे, समाप्त हो गये। साक्यों और कोलियों का टकराव वस्तुतः विस्तार पाती हुई खेती के प्रवर्तकों और जंगल में उनके शत्रुओं के बीच संघर्ष का द्योतक है। (कोशाम्बी)[65] किसानों द्वारा शिकारी जातियों के प्रति इसी भाव ने अश्पृश्यता को जन्म दिया एवं टहलुआ जातियों की रचना हुई। उनका अस्तित्व समाज बहिष्कृत ग्रामीण सर्वहारा के रूप में सामने आया और उसके बाद वे भारतीय समाज व्यवस्था के एक विशिष्ट चरित्र बने रहे।[66]

यह नया तंत्र (किसान वर्ग) बौद्ध धर्म से बड़ी गहाराई से जुड़ा था और इसीलिए बौद्ध धर्म में कर्म सिद्धान्त एवं अहिंसा पर अधिक जोर दिया गया है क्योंकि उसका समाज की व्यापक रूप से सक्रिय प्रक्रियाओं के साथ कहीं गहरा रिश्ता था।[67] निश्चित रूप से वर्तमान हिन्दू धर्म में इसका कहीं अधिक योगदान है। जो किसान केन्द्रित है।[68]

जातक कथाओं को इसी परिप्रेक्ष्य में लिया जा सकता है जो बौद्ध धर्म के उपदेशों शिक्षाओं मात्र का संकलन नहीं अपितु तत्कालीन उभरते नये वर्गों की मनोदशा को भी दर्शाता है। अंगुलिमाल की प्रसिद्ध कथा हो या बाल्मिक कथा दोनों वस्तुतः नये कृषक वर्गों के उदय जन जातीय विघटन को ही दर्शाते हैं। और यह कोई आकस्मिक नहीं कि प्रेमचन्द कहानियों में सुधारवाद एवं आदर्शवाद से भूमि सम्बन्धों की जटिलता की तरफ बढ़ते हैं।

पाली गद्य पर विचार करते हुए ए०एल० बाशम लिखते हैं–[69] *"पाली भाषा संस्कृत की अपेक्षा साधारण जन की भाषा से निकटतर थी"। एक कथा के बारे में वह* आगे लिखते हैं, यह कथा–संग्रह ग्रन्थ की संक्षिप्त एवं नीरस शैली का आदर्श रूप है और यह कुतूहलपूर्ण कथाओं का भी आदर्श रूप है जो उस समय आजकल के ही समान भारत में अत्यधिक जन प्रिय थी।[70]

एक तरफ जहाँ रामायण कथा में विभिन्न जन–जातीय तत्वों को साम्राज्य विस्तार के क्रम में सभ्य बनाया जाता है वहीं जातक कथाएं उसके लिए बुद्ध की शिक्षाओं और उनके उपदेशों को माध्यम बनाती हैं और उसका कारण है कि जहाँ ब्राह्मण धर्म में उन तत्वों के लिए कोई स्थान नहीं था वहीं बौद्ध धर्म में उनका स्वागत था। जातक कथाओं की लोकप्रियता के पीछे भी लोक तत्वों की प्रधानता ही प्रमुख कारण थी कालान्तर में पुरोहित साहित्य ने भी उसे ग्रहण किया।

1.5 संस्कृत गद्य साहित्य

संस्कृत–साहित्य में कथा–आख्याइका को गद्य–काव्य के अन्तर्गत रखा गया है। इसकी सर्वप्रथम चर्चा "अग्नि पुराण"[71] में मिलती है। तत्पश्चात् इसका विवेचन रूद्रट के 'काव्यालंकार'[72] दण्डी के 'काव्यादर्श'[73] विश्वनाथ के 'साहित्य–दर्पण'[74] और 'अमरकोश[75]' में हुआ है। इनमें कथा एवं आख्याइका में अन्तर[76] भी बताया गया है। जैसे कि, *कथा कवि–कल्पित तथा रचना केवल गद्य में जबकि, आख्याइका* ऐतिहासिक घटना पर निर्भर एवं कहीं–कहीं पद्य में भी रची जाती है। कथा की भाषा जहाँ संस्कृत एवं प्राकृत दोनों बताई गयी है, वहीं आख्याइका की भाषा केवल संस्कृत बताई गयी है। कथा का वक्ता अन्य भी हो सकता है जबकि आख्याइका आत्मकथा के रूप में ही होती है। लेकिन रूद्रट[77] ऐसा नहीं मानते जबकि दण्डी इस विभाजन को ही व्यर्थ मानते हुए दोनों को सजातीय [78] स्वीकार करते हैं।

पतंजलि ने कथा को आख्यान कहते हुए उसके तीन उदाहरण दिये हैं– *यावक्रीतिकः, प्रैयंगविकः, यायातिकः*। तीनों रचनाएं पतंजलि के महाभाष्य में दृष्टिगत होती हैं। तीनों उदाहरणों से तीन विधाएं संस्कृत के आचार्यों ने सोची, काल्पनिक कथा, नीति कथा, आत्मकथा इसी प्रकार पतंजलि ने आख्याइका में सुबन्धु के "वासवदत्ता" की गणना[79] की है। इसी तरह से पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी बाण की *कादम्बरी को कथा एवं "हर्षचरित" को आख्याइका मानते हैं।*[80]

संस्कृत–साहित्य के इतिहासकार संस्कृत गद्य–काव्य की परम्परा को आधुनिक कथा साहित्य का प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं[81] जबकि, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी इससे इनकार करते हैं।[82] फिर भी ध्यान देने योग्य मजेदार यह है कि प्रायः सभी चरित–काव्यों ने अपने "कथा' कहा है।[83] पुराने साहित्य में कथा शब्द का व्यवहार

स्पष्ट रूप से दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरा अलंकृत काव्य–रूप के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में तो पंचतन्त्र की कथाएं भी कथा हैं, महाभारत और पुराणों के आख्यान भी कथा हैं और सुबाहु की वासवदत्ता, बाण की कादम्बरी, गुणाढ्य की वृहत्कथा आदि भी कथा है। चरित–काव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही। तुलसीदास जी का "रामचरितमानस" चरित तो है ही कथा भी है। उन्होंने कई बार इसे कथा कहा है। विद्यापति ने अपनी छोटी सी पुस्तक कीर्तिलता को कहाणी या कहानी (कथनिका) कहा है।[84] अर्थात कथाओं का विकास काव्य–परम्परा के अन्तर्गत प्राकृत–अपभ्रंस (प्रेम और युद्ध कथानक) से हिन्दी काव्यों तक होता आया था।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात, जो है वह यह, कि चरित काव्य हों या कथा–आख्यान सबका आधार लोक कथाएं ही हैं लेकिन वे चर्चा के पूरे परिदृश्य से ही गायब रहती हैं। यह लोक कथाएं ही हैं जिन्होंने समय–समय पर नयी उभरती प्रवृत्तियों को प्रतिभाषित किया। यह लोककथाएं ही हैं जिससे प्रत्येक युग ने प्रेरणा ली यह और बात है कि उसका रूप भिन्न–भिन मतों सम्प्रदायों एवं दरबारों के प्रभाव में अलग–अलग हो गया चाहे वह रामायण–महाभारत की कथाएं हो या गुणाढ्य की वृहत्कथा। वृहत्कथा के निर्माण की कथा दिलचस्प है[85] जो संस्कृत से उपेक्षित प्राकृत में तथा सभ्यजनों से दूर पिशाचों के बीच रहकर लिखी गयी है। यह लोक–कथाओं का सर्वोत्तम रूप तो है ही साथ ही उस काल के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रूप को भी समझने में सहायक है। नामवर सिंह लिखते हैं, "किस युग की विचारधारा ने मूलकथा पर कौन सी चिप्पी लगायी, यह जानना कम महत्वपूर्ण नहीं है। समय–समय पर जोड़ी हुई ये चिप्पियाँ किसी युग के साहित्य और समाज को समझने में विशेष सहायक हुआ करती हैं"। एक ही राम–कथा को बाल्मिक से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक किस प्रकार संशोधित किया गया– इसके विवेचन से बाल्मीक से लेकर आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन तक के विविध सामाजिक परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है और फिर इन सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि पर विभिन्न साहित्यिक उत्थानों को भी समझने में मदद मिल सकती है।[86]

जो भी हो, इतना तो तय है कि लक्षणकारों के सामने कथा–आख्याइकाओं के उदाहरण रहे होंगे जिसके आधार पर उन्होंने लक्षणों की रचना की लेकिन इससे भी बढ़कर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि दरबारी अभिरूचि का दबाव कहीं अधिक योग कर रहा था, जिसका प्रमाण सुबन्धु की वह प्रतिज्ञा देती है जिसमें वे सर्वत्र श्लेष के निर्वाह पर बल देते हैं। (वासवदत्ता)[87]

ए०एल० बाशम दण्डिन, सुबन्धु एवं बाण की शैली को पाली–जातकों की सरल कहानियों से भिन्न मानते हैं।[88] दण्डिन का "दशकुमार चरित" भावोत्तेजक कथा चातुर्य पूर्ण कहानियों का संग्रह ग्रन्थ है। दशकुमारों का कुछ हित तुलनात्मक वास्तविकता के अभिज्ञान में निहित है अर्थात विभिन्न दर्शनों, मतों–सम्प्रदायों के ज्ञान के आलोक में वास्तविकताओं की जानकारी। क्योंकि, अपने साहसिक कार्य में दक्ष महावीर, व्यापारियों और चोरों, राजकुमारियों और वेश्याओं, कृषकों और वन्य पर्वतवासियों के सम्पर्क में आते हैं। ए०एल० बाशम जोड़ते हैं, भारतीय साहित्य के बहुत थोड़े से ग्रन्थ निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के जीवन के विषय में हमें इतना बताते हैं।[89]

सुबन्धु, केवल अपनी एक कृति द्वारा ही ज्ञात हैं, जो उस ग्रन्थ की नाइका वासवदत्ता के नाम से ही अभिहित है और जिसमें राजकुमार कन्दर्पकेतु के लिए वासवदत्ता के प्रेम विपर्यय के विषय में वर्णन किया गया है। सुबन्धु के पास वर्णन की शैली दण्डिन के समान नहीं थी। पात्रों के विषय का कोई बोध नहीं था। उनकी श्रेष्ठता अपने अलंकारिक वर्णनों तथा भाषा के आचार्यत्व में निहित है। उनकी रचनाएं *क्षीण कथा युक्त से संयुक्त, वर्णनात्मक चित्रमालाओं से परिपूर्ण हैं। प्रत्येक विस्तृत* वर्णन, दो या दो से अधिक पृष्ठों में समाप्त होने वाले, एक वाक्य में किया गया है। यह ग्रन्थ समस्त प्रकार के अलंकारों– श्लेष, द्वियर्थक शब्दों या वाक्यांशों, अनुप्रास तथा स्वरैक्य से भरपूर है और साहित्यिक रचना की गौण शैली का आदर्श उदाहरण है, जो कालिदास तथा दण्डिन द्वारा प्रयुक्त, अपेक्षाकृत सरल वैदर्भ शैली से विभिन्न है, *जिसमें अपेक्षाकृत लघु तथा न्यून मात्रा में जटिल वाक्यों का प्रयोग होता है*।[90]

बाण की शैली सुबन्धु की शैली के समान ही है, परन्तु उनकी कृति अपेक्षाकृत अधिक प्राणवान और "पश्चिम" के व्यक्तियों की रूचि के अनुकूल है। न केवल उनके विस्तृत वर्णन यथार्थ तथा सूक्ष्म निरीक्षण को प्रदर्शित करते हैं, अपितु "हर्षचरित" और

कादम्बरी दोनों कृतियों में, सर्वत्र लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट होता है। प्रथम रचना में इससे भी अधिक, वह आत्मकथा का एक अंश भी हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, जो संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है।

धर्मात्मा होते हुए भी, बाण अपने समस्त जीवन में रूढ़िवादिता की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले और अपने उन्मत्त यौवन की कुछ आरूढ़ियों को धारण करने वाले प्रतीत होते हैं। वे उन विचारों को पुनः स्थापित करने में भयभीत नहीं होते थे, जो कदाचित, उन्हें अपने संरक्षक राजा का भी आप्रिय बना देते – उदाहरणार्थ, उन्होनें राजकीय देवत्व के सिद्धान्त को, महाचाटुक्ति कहकर दोषपूर्ण बताया तथा कौटिल्य के राजनीति विषयक कूटनीतिक पद्धति को अनैतिक तथा अमानुषिक कहा।[91] उनकी रचना में यत्र–तत्र ऐसे अवतरण आते है जिनमें निर्धन तथा निम्न स्थिति के प्राणियों के साथ निःशंक सहानुभूति प्रदर्शित की गयी है। यह भाव प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। वे यथार्थ निरीक्षण पर पूर्ण अधिकार रखते हैं। शैली की पूर्ण अलंकारिता होते हुए भी, बाण का पर्यवेक्षण, किसी अन्य प्राथमिक भारतीय लेखक के पर्यवेक्षण की अपेक्षा 20वीं शताब्दी के पर्यवेक्षण से अधिक मिलता जुलता है।[92]

बाण यद्यपि कि अपने व्यंग्य के लिए पसिद्ध हैं लेकिन यथार्थ का अंकन अलंकारों के बोझ तले दब गया है तथा शास्त्रीय दृष्टि ही चित्रण में उभरकर सामने आती है। निर्धन तथा निम्न स्थिति के प्राणियों के प्रति प्रदर्शित सहानुभूति का ठोस आधार उभरकर सामने नहीं आता तथा वह एक करूणामूलक दृष्टि भर ही होकर रह जाती है। बाण की सीमा दरबारी कला से मुक्त नहीं।

बाण के पश्चात, गद्य प्रेमकथाएं प्रायः लिखी गयीं और मिश्रित गद्य–पद्य में भी प्रायः कथाएं लिखी गयीं (चम्पूकाव्य) परन्तु कोई भी रचना अधिक साहित्यिक महत्व नहीं रखती। उनमें से अधिकांश परास्तिक, नीरस तथा पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र है।

गद्य कथा साहित्य की दूसरी शाखा छोटी कहानी थी, जो प्रथम पाली जातकों में मिलती है। ये आनन्द दायक छोटी कहानियॉं, जिनके पात्र प्रायः वार्तालाप करने वाले पशु हैं, प्राचीन ग्रीस की जनप्रिय कहानियों से अधिक मिलती–जुलती हैं। इन कहानियों का जो भी आदि उत्पत्ति स्थान रहा हो भारतीय लोककथाओं ने पश्चिम के साहित्य को अवश्य ही प्रभावित किया, क्योंकि सर्वाधिक प्रसिद्ध भारतीय कहानियों के

एक संग्रह ग्रन्थ "पंचतन्त्र" का अनुवाद छठी शताब्दी में पह्लवी अथवा मध्यकालीन फारसी में किया गया।[93]

पंचतन्त्र सिद्धान्त रूप में नीति के उपदेश का एक ग्रन्थ है, जो राजाओं और राजनीति में निपुण व्यक्तियों के लिए, विशेष रूप से सोद्येश्य रचित है। छोटी–छोटी कहानियों में अनेक अन्तर्कथाएं निहित हैं जो बताती हैं कि किस प्रकार एक राजा अपने पुत्रों की मूर्खता और दुर्गुणों पर दुःखी था और उसने उन्हें एक साधू को सौपा, जिसने अनेक कहानियाँ कहकर छः महीने के भीतर ही उन्हे सुधार दिया। पुस्तक बहुत से पाठान्तरों में विभिन्न प्रकार के विस्तार तथा गुणों के साथ वर्तमान है। अधिकांश गद्य में, परन्तु बहुत से लोकोक्ति सदृश श्लोकों के साथ–साथ इन पाठान्तरों में सबसे अधिक प्रसिद्ध, बारवीं शताब्दी में, बंगाल में रचित नारायण का "हितो पदेश" है।[94]

कुल मिला–जुलाकर कथाओं की परम्परा लोक से ही ग्रहण की हुई जान पड़ती है और यह आश्चर्य नहीं कि आधुनिक कथा–साहित्य को गम्भीर साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले प्रेमचन्द[95], कहानी–कला पर बात करते समय "महाभारत, उपनिषद एवं बुद्ध–जातकों" को याद करते हैं। उनकी कहानियाँ अपने रूप में वहीं से प्रभाव ग्रहण करती हैं।[96]

प्रेमचन्द की पकड़ केवल लोककथाओं पर ही नहीं बल्कि उसके ऐतिहासिक वस्तुगत सन्दर्भों से भी थी जिसके चलते उनकी कहानियाँ जीवन–संघर्षों एवं पीड़ितों–उपेक्षितों की व्यथा–कथा की हामीदार बनती हैं। क्योंकि केवल यह सत्य नहीं कि "लोक–कथाएं प्रायः स्त्री–जाति द्वारा ही रची जाती हैं"[97] बल्कि, लोक–कथाएं हर पीड़ित और उपेक्षित, हाशिए पर जीने वाले लोगों द्वारा रची जाती हैं। चाहे, वह व्यवस्था द्वारा हाशिए पर की गयी जातियाँ एवं वर्ग हों या फिर परिवार की उपेक्षा से पीड़ित बुजुर्ग। पहली श्रेणी के हामीदार यदि प्रेमचन्द हैं, तो दूसरी श्रेणी के, मार्कण्डेय एवं शिव प्रसाद। यह बात और है कि उनमें दृष्टियों का अन्तर महत्वपूर्ण है।

1.6 आधुनिक गद्य-साहित्य की विधा के रूप में कहानी का विकास

आधुनिक गद्य साहित्य का उदभव योरोप की औद्योगिक क्रान्ति, विज्ञान की नयी खोजों, प्रबोधन काल, साहसिक सामुद्रिक यात्राओं के मिले–जुले असर तथा ज्ञान–विज्ञान से युक्त एवं प्राकृतिक रहस्यों से मुक्त नये मानव की

जरूरतों–अभिरूचियों से ही सम्भव हो सका। क्योंकि आधुनिक युग में आकर मनुष्य सारे चिन्तन का केन्द्र[98] बनता है। विचारों की अपनी सम्पदा को अभिव्यक्ति देना चाहता है, अपनी विजयों का बखान प्रस्तुत करना चाहता है, जो वर्णन की माँग करती है, जिसमें विस्तार की संभावना हैं साहित्यिक–सांस्कृतिक स्तर पर पुनर्जागरण इसी की देन है।

पुनर्जागरण एक ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो बहुत से देशों के इतिहास में घटित होती रही है,[99] भारत के सन्दर्भ में पुनर्जागरण 19वीं शदी से माना जाता है, नयी योरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति ने भी इसमें अपना योग दिया। लेकिन उससे बढकर यह बढ़ते राष्ट्रवादी चेतना के उभार से ही सम्भव हो सका। राष्ट्रवादी चेतना का आदिम रूप राष्ट्रीय आन्दोलन के पूर्व जनजातीय एवं कृषक विद्रोहों में मौजूद था जिसने 1857 के आन्दोलन की पटकथा लिखी। इसी प्रकार मुंशी सदा सुखलाल, सैयद इंशा अल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्र[100] तथा राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' एवं राजा लक्ष्मण सिंह ने[101] आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य की भूमिका तैयार की जिसे भारतेन्दु युग के, प्रतिभाशाली लेखकों तथा पत्र–पत्रिकाओं ने युगीन संवेदनाओं से सम्पृक्त कर आगे बढ़ाया। जो 'किताबी और औपचारिक भाषा की जकड़बन्दी'[102] से मुक्त लोक से ग्रहण की गयी आम बोलचाल की भाषा का सहज, सरल सप्राण एवं सँवरा हुआ रूप है। तथा वह नामवर सिंह के इस बात को बखूबी सिद्ध करता है। "जिसे हम गद्य कहते है अथवा गद्य के रूप में जानते हैं वह बोलचाल का काफी सँवरा हुआ रूप है, अपने सर्वोत्तम रूप में वह भले ही बोल–चाल के मुहावरे और लबो–लहजे पर खड़ा हो पर अपने व्याकरण और शब्द सम्पदा में एक हद तक कँटा–छँटा और गढ़ा हुआ होता है। काँट–छाँट, सजाव–सँवार के ये सारे काम लिखने की प्रक्रिया में सम्पन्न हो जाते हैं"।[103]

1.6 (i) कहानी का विकास

आधुनिक खोजों एवं आपसी सम्पर्कों ने कहानी को कहने–सुनने से लिखने पढ़ने तक पहुँचा दिया और यहीं नहीं कहानी ने मानव–मुक्ति की विजय गाथा भी प्रस्तुत की, प्राकृतिक रहस्यों से भी और प्राचीनता से भी। योरोप में इसकी शुरूआत शेक्सपियर के नाटकों से होती है लेकिन जल्द ही कथा–साहित्य ने वह भूमिका ग्रहण कर ली जिसमें प्रमुखता उपन्यासों की रही लेकिन कहानी ने जल्द ही साहित्य के और

सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली। और यह कहना गलत न होगा कि जैसे किसी जमाने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है योरोप के कितने ही महान कलाकारों की प्रतिभा से, जिसमें बालजाक, मोपासॉ, चेखव, टाल्सटाय, मैक्सिम गोर्की[104] आदि मुख्य हैं।

इतना ही नहीं कहानी अभिजात्य अभिरूचि के विरूद्ध लोक अभिरूचि की भी उपज है। औद्योगिक जगत में मालिक और मजदूर के उदय ने भी इसमें योग दिया। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रूपया है, और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका[105] साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिसके पास न धन है, न समय। यहाँ तो सरलता में सरसता पैदा कीजिए, यही कमाल है।

इसके अतिरिक्त कहानियों के प्राबल्य का मुख्य कारण समयाभाव और जीवन संग्राम भी है।[106] जिस उपन्यास को पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द यदि फिल्मों में दो घण्टे में लेते हैं तो कहानी के लिए पन्द्रह–बीस मिनट ही काफी है।[107] अतएव कहानी थोड़े से थोड़े शब्दों में प्रस्तुत हो जाती है। जिसमें एक भी वाक्य, एक भी शब्द अनावश्यक न आने पाए, इसके प्रति कहानी कार सचेष्ट रहता है। एडगर एलन पो, ने कहानी को ऐसी छोटी रचना कहा है जो एक ही बैठक में पूरी पढ़ी जा सके। एच0जी0 वेल्स ने भी कहानी को एक लघु रचना ही माना है।[108]

1.6(ii) पश्चिम में कहानी

पाश्चात्य साहित्य में कहानी–कला का उद्भव सर्वप्रथम अमेरिका में "एडगर एलन पो" (1809–49) द्वारा हुआ। अमेरिका के पश्चात् रूस में पुश्किन द्वारा सर्वप्रथम 1830 ई0 में कहानी–साहित्य का श्रीगणेश हुआ। फ्रांस में अमेरिका के उद्गम–सूत्र से ही कहानी–कला का जन्म हुआ। अँग्रेजी–साहित्य में कहानी का उद्भव और विकास उपर्युक्त देशों की अपेक्षा देर में हुआ। रूस के प्रसिद्ध कहानीकार चेखव (1860–1904) की कला का उत्तराधिकार लेकर इंग्लैण्ड में कैथराइन मैसफील्ड (1888–1923) ने कहानी–कला का विकास किया। इस प्रकार इग्लैण्ड में उन्नीसवीं शदी के अन्तिम दिनों में कहानी–साहित्य विकसित एवं लोकप्रिय हो सका।[109]

लेकिन उच्च कोटि की कहानियाँ फ्रांस और रूस के साहित्य में जितनी मिलती हैं, उतनी अन्य योरपीय भाषाओं में नहीं। अँगरेजी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किप्लिंग, शार्लट यंग, ब्रांटी आदि ने कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ मोपासाँ, बालजक या पियेर लोटी के टक्कर की नहीं। प्रेमचन्द[110] ने टालस्टाय की कहानियों को सर्वश्रेष्ठ रूसी कहानियाँ बताया है लेकिन समूचे योरोपीय साहित्य में एक हलचल और क्रान्ति मैक्सिम गोर्की की कहानियों से होता है।

1.6 (iii) प्रारम्भिक हिन्दी कहानियाँ

प्रारम्भिक हिन्दी कहानियाँ, जो आधुनिक हिन्दी गद्य के विकास के साथ ही लगभग आती हैं, "सरस्वती" और "सुदर्शन" के प्रकाशन से (1900 ई0) सामने आती हैं। "सरस्वती" में प्रकाशित कहानियों में "इंदुमती" (किशोरी लाल गोस्वामी) ग्यारह वर्ष का समय' (रामचन्द्र शुक्ल) तथा "दुलाईवाली" (बंग महिला)[111] विशेष उल्लेखनीय है लेकिन इनका विकास कालान्तर में नहीं होता, हाँ जयशंकर प्रसाद का हिन्दी–कहानी में प्रवेश एक महत्वपूर्ण आयाम अवश्य है। "ग्राम", "आकाशदीप", "स्वर्ग के खंडहर" आदि उनकी महत्वपूर्ण भाववादी कहानियाँ हैं जिनकी परम्परा का विकास प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के समानान्तर होता रहता है। उस समय यह "विश्वम्भर नाथ शर्मा", कौशिक एवं चन्द्रधर शर्मा "गुलेरी" के रूप में मौजूद था। "उसने कहा था" गुलेरी जी की ऐसी रचना है जो प्रेमचन्द की कहानियों के साथ अकेली खड़ी है।

1.7 आधुनिक गद्य एवं प्रेमचन्द

"गद्य लिखने का एक ढंग भर नहीं, बल्कि देखने, सोचने–समझने और रचने का भी ढंग है। इसी अर्थ में हेगेल ने आधुनिक युग को गद्य का युग कहा था। इसीलिए यथार्थ और व्यवसायात्मिका बुद्धि से भी गद्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।" (नामवर सिंह)[112]

"यदि हमें चीजों को उनके नाम से पुकारना फिर शुरू करना है तो हमें काफी जमीनी तय करनी होगी और साहित्य के पंडितों से अत्यन्त भोंडे युद्ध में उतरना पडेगा।" (राल्फ फॉक्स)[113]

कहना न होगा कि इन दोनों उद्धरणों के आलोक में आधुनिक, हिन्दी गद्य–साहित्य को कसौटी पर रखना, उसको ठीक नजरिये से देखना होगा। यूँ भी हिन्दी का गद्य–साहित्य कुछ देर से उठा पर युग की संवेदना के साथ, उसकी क्रिया–प्रतिक्रिया के साथ। काव्य का इतिहास जहाँ साहित्य की आन्तरिक प्रतिक्रिया को प्रतिविम्बित करता है, वही गद्य का इतिहास उसके बाहर की भी प्रतिक्रिया को प्रतिविम्बित करता है। अर्थात शुक्ल जी ने भक्ति–कांल के सन्दर्भ में जिस प्रतिक्रिया की बात की है, वह वहाँ उतनी सार्थक नहीं जितनी कि गद्य साहित्य के लिए। यानि कि, समय के साथ साक्षात्कार से आगे बढ़कर सीधे मुठभेड़ भी।

इस लिहाज से आधुनिक गद्य जहाँ पहचान बनाना शुरू करती है, वहाँ हमारा परिचय होता है बालमुकुन्द गुप्त जी से जो "भारतेन्दु–युग के महारथियों में एक साधारण सिपाही की तरह शामिल हुए, लेकिन बहुत जल्द उन्होंने सेनापति का स्थान[114] पा लिया"। बालमुकुन्द गुप्त की मुठभेड़ प्रजा की (आम जनता) पक्षधरता की थी, स्वाधीनता[115] की थी, गूँगी प्रजा के वकालत की थी।[116] वे भारतीय जनता के वकील थे और, उन्होंने वकालत किसी अँग्रेज जज के सामने नहीं की थी, बल्कि देश की जनता के सामने ही की थी।[117] हिन्दुओं–मुसलमानों को नजदीक लाने, राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के भाव फैलाने और जनता को लड़ाने वाली अँग्रेजी कूटनीति का भंडाफोड़ करने के लिए की थी।[118] इतना ही नहीं उन्होंने रचना एवं सृजन के स्तर पर "पत्रकारिता को एक कला बना दिया"। उन्होनें हिन्दी गद्य की छिपी हुई शक्ति को प्रकट किया, गद्य इतना सुन्दर और कलापूर्ण हो सकता है, इस पर उनकी रचनाएं पढ़कर ही विश्वास होता है। उनकी कला, व्यंग्य, हास्य, लतीफों, सरल मुहावरेदार जबान, युक्ति एवं तर्क से निखरी हुई है। उनकी कला का रहस्य उनका चरित्र था। वह जो भीतर थे, वहीं बाहर। नकल और बनाव–सिंगार से उन्हें नफरत थी। वैसा ही उनका गद्य होता था सरल, लेकिन चोट करने वाला।[119] इतना ही नहीं वे अच्छी हिन्दी

साहित्य–स्रष्टाओं का निर्माण ऐसे ही काल में होता है। जब दूसरे अनेक रचनाकार ऐसे समय के सस्ते नारों को पकड़कर वाहवाही लूटने के काम में लग जाते है, सच्चा रचनाकार अपनी पैनी दृष्टि उन स्थितियों पर लगाए रहता है जहाँ सामाजिक परिवर्तनों की अभूर्त प्रक्रिया को स्पष्ट लक्षित कर पाना दूसरों के लिए सम्भव नहीं होता।[122]

प्रेमचन्द की दृष्टि ऐसी ही स्थितियों की खोज में लगी रही। टूटा हुआ, हतप्रभ सामन्त अपनी मान्यताओं से चिपका हुआ था और जगह–जगह वेष बदलकर सुधारवादी आन्दोलनों में हिस्सा ले रहा था। उसे अब भी यह आशा बँधी हुई थी कि हो सकता है, हमारे दिन वापस लौट आएँ लेकिन प्रेमचन्द के मन में कहीं भी यह संदेह नहीं था कि अब इस व्यवस्था के दिन फिर लौट सकते हैं। देश में कल–कारखाने खुलने लगे थे और मजदूरों का जमाव मिलों और फैक्टरियों के आस–पास बढ़ता जा रहा था। गाँव का उखड़ा हुआ खेत–मजदूर कंधे का जुआ झटक, रात के अन्धेरे में परिवार के साथ शहर की ओर भागने लगा था। सारी आदर्शवादी शब्दावली के बावजूद छुआ–छूत, बाल–विवाह, स्त्रियों की दुर्दशा, हरी–बेगारी और बँधुआ मजदूरी जैसी अनन्त शोषण और अन्याय की विधियाँ जैसी–की तैसी बनी हुई थी।

प्रेमचन्द ने "सवा सेर गेहूँ", "ठाकुर का कुआँ", "पूस की रात", "सुजान भगत", "कफन", "सद्गति" जैसी कहानियां लिखकर इस संक्रमण काल की वास्तविकताओं को उजागर करने का प्रयत्न ही नहीं किया वरन् उनकी सम्पूर्ण रचना शक्ति सामन्ती समाज व्यवस्था की मरणशीलता और जघन्यता के विरूद्ध संघर्ष में लगी रही।

प्रेमचन्द काल्पनिक कथानकों द्वारा ऐसे भवलोक की सृष्टि नहीं करना चाहते थे जो उनके वास्तविक सामाजिक संदर्भों का झूठा चित्र उपस्थित करता, 'सत्य से दूर ले जाता'।[123] वे अच्छी तरह जानते थे कि सामन्ती व्यवस्था की समाप्ति से ही शोषण–मुक्त समाज की स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ आया पूँजीवाद जनता का उससे भी बढ़कर विषैला शत्रु है।[124] उससे सीधी लड़ाई तभी सम्भव है जब बीच के दलाल इन राजा–महाराजाओं को समाप्त कर दिया

जाय। वास्तविक दुश्मन को जनता के आमने–सामने करने के लिए यह आवश्यक था कि सामन्ती–व्यवस्था का विनाश पहले हो। क्योंकि जनसंघर्षों के रास्ते पर चलकर ही पूंजीवाद से लड़ाई सम्भव है और इसके लिए जरूरी है मानवीय गरिमा की बहाली, हितों की पहचान, सामूहिकता का अहसास, वर्गीय चेतना का उदय और यह तभी सम्भव था जब जीवन–संघर्षों का रूप नीचे से ऊपर की ओर होता। साहित्य कर्म जीवन–संघर्षों की गाथा प्रस्तुत करके ही पूरा हो सकता है। प्रेमचन्द के रचना का स्रोत यही जीवन–संघर्ष ही था। हिन्दी में मानव–मुक्ति का यह प्रयत्न तत्कालीन समस्त भारतीय भाषाओं के कथा–साहित्य के लिए अग्रणी बन गया था।

1.7 (iii) प्रेमचंद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

"भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े"।[125] सत्य के अधिक निकट होते जाना ही प्रेमचन्द के लिए अभीष्ट था और इसका प्रमाण उनकी "कफन" तक की यात्रा देती है। उनके यथार्थवाद को एक निरन्तर प्रक्रिया के तहत ही समझने की कोशिश होनी चाहिए।" "एक सच्चे वास्तविकता वादी रचनाकार के लिए रचना–कर्म ही वह पाठशाला है जहाँ पात्रों और कथावस्तु के संयोजन के दौरान वह सामाजिक परिवर्तन की अदृश्य प्रक्रिया[126] को सदेह देख पाता है।" प्रेमचन्द में कथाकार का निर्माण ऐसी ही वस्तुनिष्ठ दृष्टि के क्रमिक विकास के कारण हुआ।

फिर प्रश्न उठता है कि उन्होने "आदर्शवाद" को क्यों याद किया? वस्तुतः यह आदर्शवाद, मनुष्यता और मानवीय गरिमा के संरक्षण का आदर्शवाद था जो क्रमशः वैज्ञानिक समाजवाद के आदर्श में परिवतित हो गया क्योंकि रूस में अन्तिम आदमी की गरिमा की बहाली होते वे देख चुके थे। इसको साफ करता उनका ही एक और कथन उल्लेखनीय है जिसमें रचनाकर्म के बाबत वे कहते हैं "वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया जीने और मरने के लिए इससे अधिक स्थान हो जाय। यहीं वेदना और यहीं भाव उसके ह्रदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाए रखता है। उसका दर्द से भरा ह्रदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे। क्यों न ऐसे

सामान इकट्ठा किए जाएँ कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय?" [127] प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यही सामान इकट्ठा करते जाने का जरिया है जिसके बल पर वे "ठाकुर का कुआँ", "पूस की रात", "कफन", "सद्गति" जैसी कहानियाँ रचते है। अमानवीयता के इतने सारे दृश्यों को देखकर कौन नहीं सिहर उठेगा, उस व्यवस्था के प्रति घृणा से भर नहीं उठेगा। और उसे बदलने के लिए उठ खड़ा न होगा? वे कहते हैं "जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है– चाहे वह व्यक्ति हो या समूह– उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।"[128]

प्रेमचन्द का आदर्श सत्य और सुन्दर की खोज है।[129] यह उस व्यवस्था की मुखालफत है जिसमें हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी भी करें, [130] यह बन्धुत्व और समता[131], सभ्यता तथा प्रेम की हिमायत है। यह किसी शासक का इतिहास नहीं, नजरिया नहीं, आदर्श नहीं, बल्कि आम आदमी का इतिहास है, आदर्श है।

"इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर , अहंकार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएं आपको वहाँ मिलेंगी और आप सोचने लगेगें, मनुष्य इतना अमानुषी है! थोड़े से स्वार्थ के लिए भाई–भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता है! उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है"।[132] याद करिए प्रथम विश्व युद्ध जहॉ समाजवाद की स्थापना होते ही लेनिन रूस को युद्ध से अलग कर लेता है। दूसरी तरफ अंगिरा[133] का वह कथन जिसमें वह राजतन्त्र की निन्दा और प्रारम्भिक समतामूलक आर्य समाज की वकालत करता है। क्या यह सामन्ती व्यवस्था के बरक्स, प्रभुता मूलक व्यवस्था के बरक्स लोकोन्मुख समता मूलक समाज को खड़ा करना नहीं है?

प्रेमचन्द के ही शब्दों में मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें मिलकर रहता, जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात जीवन के अनंत

प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं। परन्तु यदि स्वार्थ और अहंकार और ईर्ष्या की ये बाधाएँ न होती, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को पार करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता है। इसी संघर्ष से साहित्य की सृष्टि होती है।''[134] तथा संघर्ष के इसी रूप की अभिव्यक्ति के चलते कहानी का स्थान वे ऊँचा मानते है और यह कथन याद करते हैं कि ''कहानी में नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवाय कुछ भी सत्य नहीं।''[135] गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस साँचे में डाल सकता है, किसी दशा में भी वह उस महान सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन–सत्य कहलाता है।[136] शायद इसी अर्थ में ब्रांड वाईलॉक ने कथा–साहित्य को गैर कथा–साहित्य से सच्चाई के अधिक करीब कहा था।[137] क्योंकि एक कथाकार की कला का सबसे बड़ा राज इसमें निहित है कि पाठक उसमें भागीदार है। उसकी क्षमता इसमें है कि वह अपने द्वारा निर्मित नाटकीय स्थिति में पाठक को खड़ा कर दे। उसकी कला का मापदण्ड यहीं है। वह इस काम को कितनी खूबी से कर पाता है। उसकी कला की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि किस प्रकार की नाटकीय विचक्षणता पैदा करता है और दर्शकों को किस हद तक नेतृत्व प्रदान करता है। उसकी कला का गुण इस बात पर निर्भर करता है कि उसका व्यापक जनता से क्या संबंध है?[138]

इसी संबंध एवं 'निजत्व की परिधि'[139] के आलोक में ही प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कोई सही परख हो सकती है। कोई कथाकार चाहे जितना कुशल क्यों न हो, वह महान कला का निर्माण यथार्थ को उभारने की प्रक्रिया तथा गैर–जरूरी चीजों में से आवश्यक नाटकीय सत्य को चुनकर ही कर सकता है।[140]

प्रेमचन्द्र का आदर्शवादी यथार्थ मानवता के, प्रेम और बंधुत्व के समानता के चले आते हुए संघर्ष की ही अगली कड़ी है जिसके लिए धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बंधन निष्फल यत्न कर चुके थे लेकिन छोटे–बड़े का भेद और निष्ठुर होता गया।[141] प्रेमचन्द लिखते हैं– ''यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुंचना चाहें तो विफलता ही मिलेगी। हमें एक ऐसे नये संगठन को

सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।[142]

प्रेमचन्द का कथा–साहित्य निरन्तर इसी ठोस रूप की तरफ अग्रसर रहा। वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भों के कपाट जैसे–जैसे खुलते गए वैसे–वैसे वे कंक्रीट होते गये। सुधारवाद पीछे छूट गया आदर्शवाद पीछे छूट गया अगर बचा था तो तमाम नंगी, क्रूर अमानवीयताओं के बीच मानव जिजीविषा होरी, हलकू, घीसू–माधव। क्योंकि "जिस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा प्रेमचन्द ने की थी, और जो संज्ञा उनके अपने साहित्य पर सटीक बैठती है, उसके एक छोरपर मानव कल्याण की भावना से ओत–प्रोत वे महान आदर्श थे जिनकी ओर वे यथार्थ को ले चलना चाहते थे। इस तरह जन–जीवन से जुड़ा, यथार्थ और आदर्श दोनों पर नजर रखने वाला कोई भी संवेदनशील लेखक, बार–बार निदानों के बारे मे सोचेगा, उन नैतिक मूल्यों और मान्यताओं के बारे में, जो समाज को सही रास्ते पर ले जा सकते हैं। ऐसा व्यक्ति एक जगह पर सारा वक्त खड़ा भी नहीं रह सकता"।[143] एक जमाना था जब प्रेमचन्द आत्म सुधार को सामाजिक प्रगति का एकमात्र साधन मानते थे। फिर वह जमाना भी आया जब वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि परिस्थितियाँ मनुष्य के चरित्र का निर्माण करती हैं और अपने चिन्तन में परिस्थितियों को प्राथमिकता देने लगे थे। फिर वह जमाना भी आया जब उनकी नजर में पूँजीवादी पद्धति को बदलकर समाजवादी पद्धति को स्थापित करना जरूरी हो गया था, क्योंकि न्यायसंगत समाज में ही प्रगति सम्भव है।[144]

1.8 कथा-परम्परा और प्रेमचन्द

कहानियों का देश तो यह पहले से ही था। प्रायः सभी चरित काव्यों ने अपने को कथा कहा है।[145] इसका व्यवहार स्पष्ट रूप से दो अर्थों में हुआ है, एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरा अलंकृत काव्य रूप के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में महाभारत–पुराण से लेकर पंचतन्त्र, वासवदत्ता, कादम्बरी, वृहत्कथा सभी आती हैं।[146] आधुनिक गद्य का रूप जब बनना शुरू हुआ तो वह भी कहानी का ही ढंग लेकर चली। तत्कालीन निबन्धों और अन्य गद्य रूपों में जिन विभिन्न शैलियों का आविर्भाव हो रहा था, उनमें कहानी के तत्व अवश्य सक्रिय थे, जो आगे चलकर

एक जीवन्त विधा के रूप में कहानी की उपस्थिति को सम्भव बनाते हैं। इन रचनाओं में कही प्रकृति–चित्रण के रूप में तो कही व्यक्तियों के संवादों और चारित्रिक विशेषताओं के उल्लेख द्वारा जिस रचना रूप का आभास होता है, अपने विकसित रूप में वह कहानी के निकट पड़ता है।[147] दूसरी तरफ साहित्य के समानान्तर जन जीवन में भी कथाओं की विपुल सम्पत्ति मौखिक परम्पराओं में सुरक्षित रहती है। लोकजीवन में प्रचलित ये कहानियाँ, प्रेम, उपदेश, हास्य एवं व्यंग्य तथा ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण अनेक रूपों में देखी जाती हैं। हिन्दी का कहानी–साहित्य इनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं माना जा सकता।[148] डा0 लक्ष्मीनारायण लाल हिन्दी–कहानियों की उत्पत्ति के पीछे प्रेरणा रूप में इसी तत्व को सक्रिय मानते हैं।[149] यही नहीं, प्रेमचन्द ने महोबा प्रवास के दौरान उस क्षेत्र के इतिहास और लोक कथाओं के तत्वों के आधार पर कहानियाँ रची थीं।[150] डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं "कहानी हर रूप में उपन्यास से पुरानी विधा है। .....कहानी में कहने की विशेषता बराबर महत्वपूर्ण रही है। लोक और शिष्ट दोनों रूपों में उसका सम्बन्ध वाचिक परम्परा से अधिक रहा। यह रोचक बात है कि हमारी भाषा के मुहाविरे में कविता लिखी जाती है और कहानी कही जाती है। तब यह स्वाभाविक है कि अपने नये मुद्रित रूप में कहानी का हिन्दी–साहित्य में आविर्भाव बीसवीं शती के आरम्भ में होता है साहित्यिक पत्रकारिता के उदय के साथ। मनोरंजन से हटकर एक अनुभूति का सीधा साक्षात्कार अब उसका विधागत लक्ष्य हो जाता है।"[151]

दूसरी तरफ, हिन्दी कथा–परम्परा में पाश्चात्य प्रभाव ने भी अवश्य योग दिया होगा। क्योंकि शिक्षा–संस्थाओं में अँग्रेजी की कुछ कहानी–पुस्तकें पाठ्यक्रम में आ चुकी थीं, कम से कम "टेल्स फ्राम शेक्सपियर" का तो अवश्य ही पड़ा होगा।[152] आगे चलकर रूसी और, फ्रांसीसी कहानियों ने भी इसमें योग दिया। जिसे प्रेमचन्द भी स्वीकार करते हैं।[153] लेकिन कहानी की चेतना का विकास योरोप की देन नहीं माना जा सकता क्योंकि यह देश कहानियों का देश माना जाता रहा है। जिस तरह से प्रतिरोध की आदिम चेतना ने राष्ट्र वादी चेतना के विकास तक की यात्रा तय की उसी प्रकार से लोक में चली आती कथा–कहानी की परम्परा ने अवसर पाकर आधुनिक कहानी के विकास की भूमिका तय की। क्योंकि किसी भी देश का महान साहित्य

अपनी संस्कृति से जुड़कर ही महान हुआ है, चाहे वह योरोप के पुनर्जागरण काल का साहित्य हो या फिर आधुनिक हिन्दी–साहित्य। प्राचीनता से परिचित व्यक्ति ही नवीनता की तरफ बढ़ सकता है। मानव ने अपनी वर्तमान स्थिति अपनी संस्कृति के माध्यम से प्राप्त की है। मनुष्य और संस्कृति वास्तव में एक संयोग है संस्कृति के बिना किसी भी स्तर पर मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती और मनुष्य से अलग संस्कृति नाम की कोई चीज नहीं है।[154] यह संस्कृति स्वयं में एक ऐसा यथार्थ बन जाती है जिससे एक लेखक को जूझना चाहिए। तभी वह कला का निर्माण कर सकता है। अगर वह इससे मजबूती और सच्चाई के साथं जूझेगा तो उसकी कला उस संस्कृति विशेष के खत्म होने के बाद भी जिंदा रहेगी, जिसने कि उसे जन्म दिया।[155] और यह आकस्मिक नहीं कि प्रेमचन्द बार–बार अपनी प्राचीन कथा–परम्परा को याद करते हैं।[156]

परम्परा में क्या पकड़ना है, क्या छोड़ना है, इस चीज से वे निरन्तर जूझते हैं[157]और खुद को नये युगबोध के साथ उससे जोड़कर चलते हैं जहाँ वे दोहरी लड़ाई लड़ते है, एक तो मानव–मुक्ति, मानवीय गरिमा की बहाली, दूसरी राष्ट्रीय मुक्ति की जिसके लिए हथियार उन्हें खुद की जमीन से ही तैयार करनी थी। और इसके लिए जरूरी था अपनी जमीन (परम्परा) की पहचान के साथ नये सन्दर्भों की तलास। विशेष उल्लेखनीय है कि प्राचीन कथा–परम्परा भूमि सम्बन्धों में आये परिवर्तनों की अभिव्यक्ति हैं, चाहे वह जातक कथाएं हों या फिर रामायण–महाभारत एवं पुराणों के आख्यान हो। और यह आकस्मिक नहीं कि प्रेमचन्द सुधारवाद से समाजवाद की यात्रा में भूमि–सम्बन्धों की जटिलता की तरफ बढ़ते हैं।

इस तरह प्रेमचन्द का कोई भी आकलन जातीय परम्परा से अलग करके नहीं हो सकता लेकिन यह परम्परा गौरव–गान की परम्परा नहीं है और न ही समस्याओं का हल ढूंढ़ने के लिए बार–बार अतीत में भागने की परम्परा। यह परम्परा है प्राचीनता से जूझने की तथा वर्तमान परिस्थितियों में खुद को तैयार करने की। वे दोनों से संघर्ष करते हैं तथा अपना पक्ष चुनते हैं, उसे निजत्व की परिधि में लाते हैं क्योंकि सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और इसका

व्यवहार करती है।[158] प्राचीन कथा–परम्परा का यही गुण उन्हें आकर्षित करता है न कि उसका धार्मिक रूप।

1.9 प्रेमचन्द की कहानियाँ और पक्षधरता

प्रेमचन्द की अनेक ऐसी कहानियाँ हैं जो एक बार पढ़ने पर भुलाए नहीं भूलती। अपनी अमिट छाप छोड़ जाती हैं। "ठाकुर का कुआँ", "सद्गति", "पूस की रात", "कफन" कौन इन्हें भूल सकता है? पूस की ठिठुरन से बचने के लिए कुत्ते के शरीर से लिपटता खेतिहर, रात के अन्धेरे में कुएं में से जल खींचती हुई जोखू की पत्नी, दुक्खी की लाश को घसीटकर ले जाता पंडित घासीराम कौन इन्हें भुला सकता है? प्रेमचन्द के दिल के दर्द ने इन स्थितियों का चित्रण किया है जिससे यातना भरी जिन्दगी, अभिशाप को ढोती जिन्दगी विवश, लाचार, सड़ान्ध से भरी पानी पीती जिन्दगी आँखों के सामने नाच जाती है, एक बारगी के लिए पूरा अस्तित्व ही काँप जाता है, स्तब्ध रह जाता है और जब चेतना में लौटता है तो उस पूरी व्यवस्था के प्रति नफरत से भर उठता है। ऐसी ही स्थितियों में से एक सजग रचनाकार सच का अपना पक्ष चुनता है क्योंकि सच्चाई तटस्थ नहीं होती।[159] यथार्थ को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने वाला, चीजों को उनके सही नाम से पुकारने वाला ऐसी स्थितियों से स्वयं को तटस्थ नहीं रख सकता।

माफ करना, यह कोई करूणा उपजाने की कथा नहीं है बल्कि यह कथा है मानव–मुक्ति के संघर्ष की, उसके हामीदार बनने की और तभी प्रेमचन्द की कहानियाँ लाखों–लाख खेतिहरों, अपहृत लोगों की, खेत–मजदूरों की कथा बन जाती है। उस अन्तिम आदमी की कथा बन जाती है जो जातीय कथाओं में कभी दानव बनता था, कभी राक्षस और कभी डाकू! यह अपनी जातीय परम्परा से संघर्ष का नतीजा था कि वह पहली बार जीता–जागता हाड़–माँस का आदमी बनकर वाणी प्राप्त करता है। ऐसी हैं प्रेमचन्द की कहानियाँ जो यहीं की मिट्टी में पैदा होकर पली–बढ़ी हैं।

प्रेमचन्द की कहानियाँ अपना दोहरा कर्म भी निभा रहीं थी अर्थात राष्ट्रीय मुक्ति–संघर्ष की।इसके लिए उन्होंने परम्परा की रूपक कथाओं का सहारा लिया है क्योंकि परतन्त्र देश में उसी तरीके की ही दरकार थी। इन कहानियों को पढ़कर कोई भी कह सकता है कि भारतीय कथा–साहित्य की जातीय परम्परा से प्रेमचन्द की

कहानियों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है लेकिन ध्यान देने योग्य बात है कि परम्परा का अर्थ पिष्ट पेषण नहीं होता[160] बल्कि नई परिस्थितियों और सन्दर्भों से जुड़कर वह नया आयाम ग्रहण करती है एवं समय से साक्षात्कार करती हुई जन–मानस को वाणी देती है। वहीं वह परम्परा को दुरुस्त भी करती है और सदियों का अभिशाप ढो रही जनता को वाणी देती है।

प्रेमचन्द की कहानियाँ जन–शिक्षा या नैतिक–शिक्षा के लिए लिखी गयी कहानियाँ नहीं है बल्कि वह सामाजिक परिवर्तन एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का संघर्ष–पथ तैयार करती कहानियाँ हैं। उनकी कहानियों में व्यंग्य है, तल्खी है, चुभन है, व्यथा है, बेबसी है तो वहीं जिजीविषा है, जीने की जिद है, जद्दोजेहद है, फक्कड़पन है, मस्ती है। "कुछ कहना असंगत न होगा कि उनकी कहानियों में एक तरह का लोकरस है.... कुछ यहां की धरती की सुगन्ध, यहाँ की हवा की ताजगी और महक–जो बड़े–बड़े टेकनीक वादियों के यहाँ बहुत तलास करने पर नहीं मिलता।[161]

राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष के क्रम में उनकी दो कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय है, "शतरंज के खिलाड़ी" एवं "दो बैलों की कथा"। दोनों को रूपक–कथाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसके माध्यम से जनमानस को सचेत करके, सजग करके राष्ट्रीय–मुक्ति के संघर्ष में लगाने की कोशिश की गयी है। "दो बैलो की कथा" रूपक कथा है जिसमें भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष की अभिव्यक्ति के साथ शोषितों–पीड़ितों के संघर्ष की भी अभिव्यक्ति हुई है। यह जातक–पंचतन्त्र शैली की कहानी है। जिसके माध्यम से प्रेमचन्द गुलामी के विरूद्ध, दासता के विरूद्ध जनमानस एवं लोकमानस को जागृत करने एवं संघर्ष के लिए तैयार करने का काम करते हैं।

"मोती ने पड़े–पड़े कहा– आखिर मार खाई, क्या मिला?"

"अपने बूते भर जोर तो मार दिया"।

"ऐसा जोर मारना किस काम का कि और बन्धन में पड़ गये।"

"जोर तो मारता ही जाऊँगा, चाहे कितने ही बन्धन पड़ते जाएं।"

(दो बैलों की कथा)

"जब ढढ़ियल हारकर चला गया, तो मोती अकड़ता हुआ लौटा। हीरा ने कहा– मै डर रहा था कि कहीं तुम गुस्से में आकर मार न बैठो।"

"अगर वह मुझे पकड़ता, तो मैं बे–मारे न छोड़ता।"

"अब न आएगा"।

"आएगा तो दूर से ही खबर लूँगा। देखूँ कैसे ले जाता है।"

"जो गोली मरवा दे"?

"मर जाऊँगा, पर उसके काम तो न आऊँगा।"

(दो बैलों की कथा)

धार्मिक, पाखण्ड, वाह्ययाडम्बर, रूढ़ि, मिथ्याभिमान, वाह्ययाचार के विरूद्ध कविता में जो काम कबीर ने कभी किया था वहीं काम प्रेमचन्द कहानी में करते है। धर्म की निःस्सारता पर व्यंग्य की सादगी प्रेमचन्द की कई कहानियों में फैली हुई है।

"शंकर काँप उठा। हम पढ़े–लिखे आदमी होते तो कह देते, अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे, वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। किन्तु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार चतुर न था। एक तो ऋण– वह भी ब्राह्मण का बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस खयाल से ही उसे रोमांच हो गया। बोला– महाराज, तुम्हारा जितना होगा यही दूंगा, ईश्वर के यहाँ क्यूँ दूँ, इस जनम में तो ठोकर खा ही रहा हूँ, उस जनम के लिए क्यों कांटे बोऊँ? मगर यह कोई नियाव नहीं है"। .... (सवा सेर गेहूँ)

"विप्र– वहां का डर तुम्हे होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहां तो सब अपने ही भाई–बन्धु है। ऋषि–मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं, देवता ब्राह्मण है, जो कुछ बने–बिगड़ेगी, सँभाल लेंगे। तो कब देते हो?" (सवा सेर गेंहूँ)

"कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते–जी तन ढांकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए।" (कफन)

"पंडित हैं, कहीं साइत ठीक न बिचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाए। जभी तो संसार में इतना मान है। साइत ही का तो सब खेल है। जिसे चाहे बिगाड़ दें।"

(सद्‌गति)

"पंडित जी ने एक रस्सी निकाली। उसका फंदा बनाकर मुरदे के पैर मे डाला और फंदे को खींचकर कर दिया। अभी कुछ–कुछ धुंधलका था। पंडित जी ने रस्सी

पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गये। वहाँ से आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गा पाठ पढ़ा और घर में गंगाजल छिड़का।"

"उधर दुःखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोंच रहे थे। यही जीवन पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था"।

(सद्गति)

सुधारवाद से समाजवाद की यात्रा में प्रेमचन्द ने जो चीज पायी थी वह थी वस्तुता की, यथार्थ की ऐतिहासिक परख और यही कारण है कि प्रेमचन्द शोषण की जड को पकड़ने में सफल होते हैं। प्रेमचन्द का मुख्य विषय बनता है शोषण।चाहे वह साम्राज्यवादी–पूँजीवादी हो या फिर सामन्तवादी। प्रेमचन्द उकेरते हैं, उभारते हैं उन तथ्यों को जो शोषण के मूल में है जहाँ साम्राज्यवाद–नव पूँजीवाद के अतिरिक्त सदियों से पल रही धार्मिक आस्था, विश्वास और नैतिकता भी है जिसकी डोर पुरोहित वाद–सामन्तवाद के हाथों में है।

प्रेमचन्द का अभीष्ट संवेदना को उभारना भर न था बल्कि उनका अभीष्ट था समस्या को उभारना। प्रेमचन्द के लिए करूणा का उद्रेक कभी उद्देश्य नहीं बना।प्रेमचन्द भावुक व्यक्ति हो सकते हैं लेकिन एक लेखक के रूप में वे भावुक नहीं थे अपितु द्रष्टा थे, कबीर की तरह। वे देख रहे थे कि शोषण के मूल में मात्र नवपूँजीवाद ही नहीं था या कि महाजनी सभ्यता ही नहीं थी अपितु पुरोहित वादी धर्म भी उसके मूल में था और वे सीधे देख रहे थे कि धर्म के सारे तत्व, ईश्वर, मूल्य, नैतिकता सभी कैसे नवपूँजीवाद से महाजोत कर किसानों–मजदूरों के ऊपर अपना शिकंजा कस रहे थे। इसे नकारा नहीं जा सकता क्योंकि गोर्की ने भी शोषण के मूल में गिरजा घर को ही माना था। "मदर" का पात्र अन्द्रेई कहता है, "ईश्वर के नाम से हमें डराया जाता रहा है। वे धर्म के डण्डे से हमें बहोरते हैं, हाँकते है।"

तो प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों, विशेषकर "सद्गति", "मुक्तिमार्ग", "सुजान भगत", "मुक्तिधन", "ठाकुर का कुआँ", "पूस की रात", "कफन", "सवा सेर गेंहूँ" आदि के माध्यम से जहाँ शोषणवादी व्यवस्था की अमानवीयता के प्रति नफरत पैदा की है वहीं कर्म–फल सिद्धान्त, नियतिवाद, वर्णव्यवस्था, धर्म, ईश्वर आदि को भी बेमानी साबित कर कटघरे में खड़ा कर दिया है। प्रेमचन्द एक वृहत्तर उद्देश्य के साथ कथा–साहित्य में उतरते हैं जो कि उत्तरोत्तर स्पष्ट होती हुई वस्तुगत ऐतिहासिक

सन्दर्भों से जुड़ती जाती है। जहाँ 'कफन,' 'पूस की रात', तथा 'ठाकुर का कुआँ' जैसी कहानियाँ मिलती हैं जिसमें युगों–युगों की हाड़ तोड़ती संवेदनाएं पूँजीभूत हो उठी हैं।

प्रेमचन्द का साहित्य पक्षधरता का साहित्य है। उनकी परम्परा का एक महत्वपूर्ण आयाम उनकी सर्जना के जनवादी चरित्र में दिखाई पड़ता है।[162] शिव कुमार मिश्र लिखते हैं "उनकी अपनी लेखकीय संवेदना साधारण जनता के साथ रही है जबकि शोषक सत्ताओं का उन्होंने निर्ममता से पर्दाफास किया है।.......वे हमारा ध्यान व्यवस्था को बुनियाद से बदलने के प्रति सोचते हैं, हममें क्षोभ और बेचैनी पैदा करते हैं, हमें झकझोरते एवं जगाते हैं। वे अपनी समूची सर्जनात्मक शक्ति के साथ खड़े हैं और हमें भी खड़ा करना चाहते हैं।[163]

तो प्रेमचन्द की परम्परा जायज हक के लिए एक रास्ता तय करने की परम्परा है, पक्षधरता की परम्परा है। निश्चित रूप से वह रास्ता, वह पक्ष समाजवाद का है क्योंकि वस्तुगत ऐतिहासिक सत्य से परिचित व्यक्ति कभी भी तटस्थ नहीं हो सकता उसे तो पक्ष चुना ही पड़ेगा। सत्य या तो इस पक्ष की तरफ है या तो उस पक्ष की तरफ। *एक लेखक को सत्य की प्रकृति की पड़ताल करके पक्ष चुनना होगा।* सच्चाई तटस्थ नहीं पक्षधर है।[164]

प्रेमचन्द की परम्परा यथार्थवाद की परम्परा है लेकिन यथार्थ की प्रकृति इतनी तत्कालिक और स्पष्ट समझ में आनेवाली होती तो जीवन के प्रति सहज बोधपरक और अचेतन दृष्टि रखने वाले लेखकों का आधार मजबूत होता। तब वे मानव प्रकृति के प्रति स्वतःस्फूर्ति दृष्टिकोण पर निर्भर करते हुए इस मामले में बिलकुल निश्चित होते कि यह उन्हें किसी अन्धी और विध्वंसकारी गलियों में नहीं ले जाएगा। उन्हें केवल ऑख खोलकर देखने की जरूरत होती और इससे उनकी सारी समस्याओं का समाधान हो जाता। वे अपनी विशिष्ट और निजी रचना–प्रक्रिया पर भरोसा करके देखे हुए में से कला निकाल लेते और तब वे ऐच्छिक मानवों की इस दुनियां में छोटे–मोटे देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते। लेकिन यथार्थ की प्रकृति इतनी तात्कालिक और स्पष्ट समझ में आने वाली नही है।[165]

प्रेमचन्द ने यथार्थ की प्रकृति को समझा था तभी वे देख पाते है कि कैसे एक वर्ग धीरे–धीरे सत्ता और शक्ति के सारे स्रोतों पर संसाधनों पर कब्जा करते हुए आज इस स्थिति में पहुंचा है कि वह अमानवीयता के पुजारी साम्राज्यवादी–पूँजीवादी ताकतों

से कंधा मिलाकर दुक्खी, घीसू–माधव, हल्कू जैसों की दुनियां का निर्माण करता है। वे देखते हैं कि सदियों से एक वर्ग सत्ता के शीर्ष पर बैठा परोपजीविता का भोग कर रहा है तो वहीं एक वर्ग धर्म और ईश्वर की नैतिकता में उलझा अभिशप्त जीवन जीने को विवश रहता है। वह तमाम सारे प्रयासों के बावजूद अपनी स्थिति से बाहर नहीं निकल पाता। प्रेमचन्द शोषण के सारे तन्त्रों की पड़ताल करते हैं तब वे सद्गति, पूस की रात, ठाकुर का कुआँ और कफन जैसी कहानियाँ रचते हैं जो करूणा का उद्रेक नहीं उत्पन्न करती अपितु अमानवीय, क्रूर और अनैतिक, नाजायज व्यवस्था के प्रति नफरत पैदा करती हैं। वस्तुगत यथार्थ की ऐतिहासिक समझ ही प्रेमचन्द को सुधारवाद से समाजवाद तक ले जाती है।

अब यह मानना गलत होगा कि यथार्थ की कोई व्याख्या भौतिक विकासक्रम से अलग भी हो सकती है तथा यथार्थ की साहित्यिक प्रकृति भी अनायास ही वस्तुगत यथार्थ की प्रकृति से नहीं मिलती। अगर ऐसा होता तो सामान्य वैज्ञानिक उद्भव से पहले कोई मूल्यवान साहित्य ही नहीं होता। लेकिन हम जानते हैं कि प्राचीन काल में महान और महत्वपूर्ण साहित्य लिखा गया है। इस अन्तर्विरोध का जबाब इस तथ्य में निहित है कि यथार्थ का चाहे जितना भी सीमित बोध क्यों न हो, वह संस्कृति के लिए एक आधार अवश्य प्रस्तुत करता है। यह संस्कृति स्वयं में एक ऐसा यथार्थ बन जाती है जिससे लेखक को जूझना चाहिए। अगर वह इससे मजबूती और सच्चाई के साथ जूझेगा तो उसकी कला उस संस्कृति विशेष के खत्म होने के बाद भी जिंदा रहेगी, जिसने कि उसे जन्म दिया।[166]

जाहिर है कि प्रेमचन्द इस प्रक्रिया से गुजरकर ही महान साहित्य रचते हैं। वे जूझते हैं अपनी पूरी प्राचीन परम्परा से। उसमें मजबूती भी है और सच्चाई भी और वे तब तक जूझते हैं जब तक कि वे एक हल तक नहीं पहुँच जाते। आदर्शवाद, सुधारवाद और अन्त में यथार्थवाद (वैज्ञानिक समाजवाद)। बखुद प्रेमचन्द, हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न हो जाएंगे किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौंदर्य, सुरूचि, आत्म सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।[167] प्रेमचन्द का यह मनुष्यता का सौन्दर्य शास्त्र है जो वस्तुवादी सौन्दर्य

दृष्टि से अलग नहीं। प्रेमचन्द का यह नया सौन्दर्य शास्त्र असाधारणता में नहीं, साधारणता में सौन्दर्य को देखता है।[168] यह व्यक्तिवादी सौन्दर्यशास्त्र नहीं है। प्रेमचन्द लिखते हैं [169] कला के लिए कला का समय वह होता है, जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते है कि हम भाँति–भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करूण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का ह्रदय न दहल उठे।

तो प्रेमचन्द की परम्परा हर उस चीज से जूझने की है जो मनुष्यता का विरोधी है। मनुष्यता भी कोरी नहीं अपितु समानता ओर समरसता की मनुष्यता, स्वतन्त्रता और स्वाभिमान की मनुष्यता। प्रेमचन्द की परम्परा प्रतिरोध की संस्कृति की परम्परा है क्योंकि इतिहास सदैव से ही प्रभुता और शासन सत्य का प्रतिनिधित्व करता रहा है। यह साहित्य ही है जो उससे अलग मानव मात्र का सत्य प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द अनायास ही किसी की यह उक्ति नहीं याद करते कि कहानी में नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं।

1.10 व्यक्तिवादी चेतना तथा जैनेन्द्र एवं अज्ञेय

व्यक्तिवादी चेतना कोई नया तत्व नहीं है। कालीदास से लेकर बाण तक का संस्कृत–साहित्य उसी से भरा पड़ा है। हाँ, नया था तो केवल वह पद जो पूँजीवाद के प्रभाव से साहित्य में प्रविष्ट हुआ था। कविता में यह छायावाद के रूप में पहले से ही आ चुकी थी, कथा–साहित्य में यह स्पष्ट रूप से जैनेन्द्र के साथ ही आती है।

पूँजीवाद ने सामन्तवादी संस्थाओं की प्रचलित परिपाटी को तोड़ा, जिसने मध्यवर्ग को जन्म दिया। यह सामन्तवादी संस्कारों से मुक्ति की पहली उच्छ्वास थी। इसलिए इसमें ताजगी भी थी नयापन भी था नई समाज–व्यवस्था का "अपरिचित यथार्थ" भी[170] और साहित्य में इसका स्वागत भी हुआ।
संस्थाएं टूट रही थीं। संयुक्त परिवार से विचिछन्न स्त्री–पुरूष गाँवों–कस्बों को छोड़कर शहरों में बस रहे थे। सर्वथा अपरिचित जीवन–सन्दर्भों में नये–नये सम्बन्धों का निर्माण हो रहा था। व्यक्तित्व की अस्मिता[171] और स्वाधीनता के चमत्कार के पीछे

आदमी अकेला पड़ता जा रहा था। वह अपने ही द्वारा निर्मित परिस्थितियों में असहायता का अनुभव कर रहा था। जैनेन्द्र ने इस नये सामाजिक विस्थापन को पहचाना और उसकी आन्तरिक वास्तविकताओं को कथा रूप दिया। जैनेन्द्र ने बड़ी खूबी से मनुष्य की आन्तरिक परतों को उद्घाटित करने वाली एक नपी–तुली, गढ़ी हुई भाषा का अन्वेषण किया। विधानकौशल की दृष्टि से तो उनकी कहानियों का कोई सानी नहीं है। देखते–देखते उनकी कहानियाँ विख्यात हो गयीं।[172]

लेकिन जिस प्रकार पूँजीवाद उत्पादों की बिक्री के लिए बाजार में सच्चाई को प्रक्षिप्त करता है, वहम का निर्माण करता है, विज्ञापनों की झूठी दुनिया रचता है, भ्रम बेचता है, यहाँ तक कि धर्म से कोई रिश्ता न होते हुए भी उसका इश्तेमाल, कमजोर समय के समाजशास्त्र के रूप में करता है उसी प्रकार उससे उत्पन्न व्यक्तिवाद (रूपवाद या कलावाद) चुक जाने पर आत्मवादी,[173] मृत्यु के रूग्ण बौद्धिक ग्रहण [174]एवं आध्यात्मिक दलदल[175] में फँस जाता है। ऐसे में वह एक तरफ अचर–अज्ञात की कल्पना करने लगता है, अमूर्तन का यथार्थ[176] एवं अतीत का प्रेत खड़ा करने के लिए भ्रमपूर्ण फैन्टेसी का निर्माण[177] करता है तो दूसरी तरफ विद्रूपता का यथार्थ[178] ढूढ़ने "मुरदासरायों" तक में घूम आता है।

आत्मवादिता सदैव एक वहम पाल लेती है (आत्मगत सच्चाई का वहम), दायरे में सिमट जाती है, वस्तुता के नकार की एक खोल ओढ़ लेती है और वहीं से एक फैन्टैसी रचती है, यथार्थ एवं सामाजिकता की। लेकिन दिक्कत यह है कि "वहम से पैदा होने वाली यह फैन्टेसी कला नहीं बल्कि कला का वहम पैदा करती है।[179] जैनेन्द्र एवं अज्ञेय इससे अलग नहीं थे। जैनेन्द्र को अपने भीतर से फुर्सत नहीं है, इसलिए वे एक वहम को दूर करने के लिए भीतर से ही दूसरे वहम को पैदा कर लेते हैं।[180] भीतरी वहम से पीड़ित जैनेन्द्र की तरह और भी लेखक हैं जिनकी कुछ कहानियाँ कभी–कभी फैन्टेसी की हदें छूने लगती हैं। उसकी परम्परा नई कहानी आन्दोलन में भी देखी जा सकती है।

और यह अनायास नहीं हो रहा था, बल्कि इसके पीछे पूँजीवाद समर्थित रूपवादी आन्दोलन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कार्य कर रहा था और पूँजीवाद का उद्देश्य ही होता है भ्रम खड़ा करना, झूठ का समाजशास्त्र तैयार करना जो लोगों के

अन्दर प्रतिरोध की संस्कृति विकसित न होने दे, जनसंघर्षों से दूर ले जाय इसके लिए जहाँ जरूरत होगी वहाँ वह धर्म का सहारा लेगा, लोगों को धर्म अपनाने की आजादी[181] का नारा देगा, धर्म का लोकतन्त्र, उत्तर–आधुनिकता जैसे शब्द जाल का निर्माण करेगा और जहाँ जरूरत होगी वहाँ वह साहित्य का सहारा लेगा, वैयक्तिक चेतना और रूपवाद की वकालत करेगा जो वस्तुता की आत्मगत पड़ताल प्रस्तुत करेगा और सामाजिक चेतना से दूर ले जाएगा, जीवन–संघर्षों से दूर ले जाएगा, निराशा और कुण्ठा का साहित्य "जो लगातार जिन्दगी से दूर जाता है।"[182]

यह आकस्मिक नहीं हुआ है कि हमारे देश में उदारीकरण के साथ ही धार्मिक धारावाहिकों की बाढ़ सी आ गयी है और अब "आप–बीती" जैसे तर्कों पर भूत–प्रेत का सृजनात्मक संसार सामने आ रहा है, प्रवचनकारों की संख्या में गुणोत्तर वृद्धि हो रही है। इसके पीछे एक दूसरा तर्क है ईश्वरीय डर की नैतिकता का, कौन नहीं जानता कि हमारे देश में पुराहित वाद ने इसके बल पर सदियों तक राज किया है, आज उसी के बल पर पूँजीवाद हमारे यहाँ पसर चुका है! "यह तथ्य इस तरह भी देखा जाना चाहिए कि बाजारीकरण और धर्म तन्त्र में एक तरह का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और दोनों ही एक दूसरे के हमजाद हैं। धर्म का अर्थशास्त्र से कोई रिश्ता नहीं होता लेकिन आर्थिक उदारीकरण जरूर एक ऐसा समाजशास्त्र है, जिसे अपनी मजबूती के लिए धर्म की आवश्यकता है।[183]

मुद्राराक्षस, "बाजार और सांस्कृतिक बाजार" में बताते हैं "दूसरे महायुद्ध और उसके बाद के दशकों में अमेरिकी सेनाओं द्वारा दूसरे देशों में जाकर जो लड़ाईयाँ छेड़ी गयीं उन्होंने अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को समृद्धि के अभूतपूर्व अवसर दिये थे। इसी बीच अमेरिका में एक विशेष सांस्कृतिक ज्वार भी आया। इस सांस्कृतिक विस्फोट पर सम्पादित लेखों का एक दिलचस्प संग्रह प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक है "न्यूयार्क : *कल्चरल* कैपिटल ऑफ द वर्ल्ड', 1940–1965।' इस किताब का परिचय कराते हुए इसके सम्पादक ने लिखा है, "स्काई स्क्रैपर, स्विंग ऐक्शन वाली चित्रकला, आधुनिक नृत्य, बीटनिक *कविता*, पॉप *कला* आदि के चलते पेरिस *की बजाय* विश्व *की* सांस्कृतिक राजधानी अब न्यूयार्क महानगर बन गया है।" बाजार और बाजार जनित संस्कृति की इस उद्दाम आँधी के दौर का संगीतज्ञ जान सिंक्लेयर, लाइसर्जिक

एक्सिड डाइथाइलामाइड और मरिजुआ की प्रशंसा के गीत गाता था। ध्यान देने वाली बात है कि हाल में हिन्दी में भी पॉप संस्कृति के प्रति व्याकुलता बढ़ी है। कला–समीक्षक रोजेन बर्ग ने जिसे "इन्द्रिय बोध की अविश्वसनीयता" और "यथार्थ बोध के झूठ" के रूप में याद किया है। वह निश्चय ही उसी सांस्कृतिक विस्फोट पर जोर देता है जिसमें जेरी रूबिन जैसे लोगों ने कहा था, "मरिजुआना सच का सिरम है।"[184] ऐसे में अगर कोई भी रचनाकार, जिसकी रचनाओं में धार्मिक चिन्ताएं अचानक प्रवेश करने लगती हैं।[185] भूतों–प्रेतों पर फिल्में बनने लगती हैं, धार्मिक धारावाहिकों और प्रवचनों की बाढ़ आ जाती है, फैन्टेसी बेलगाम हो जाती है, वहम यथार्थ बन जाता है, "कला के स्वायत्त यथार्थ"[186] का नारा दें तो आश्चर्य किस बात का। "वस्तुतः सत्य के प्रति सन्देह को सामाजिक इतिहास खारिज करने का एक बडा हथियार[187] बनाना पूँजीवाद के लिए कुछ नया नही है। साहित्य में यह रूपवाद का ही अगला चरण है जिसमें कभी व्यक्ति वाहक बना था आज धर्म बन रहा है।

व्यक्तिवादी चेतना की अगली कड़ी के रूप में अज्ञेय का नाम आता है। अज्ञेय के अनुभव संसार की भी वही सीमाएं थीं जो जैनेन्द्र के अनुभव–संसार की।[188] अज्ञेय टी0एस0 इलियट, काफ्का के भारतीय संस्करण थे। इलियट "शान्ति"[189] जैसे शब्द पर मोहित हुआ था तो अज्ञेय "परमार्थ"[190] पर। मुद्राराक्षस लिखते हैं "दरअसल यह भाषाई परिवर्तन कहीं और घटित हुआ और इलियट, अज्ञेय सिर्फ इस प्रक्रिया को भद्रता दिलाने का काम कर रहे थे। लोगों को याद होगा, मिलान में "कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम" का जो सम्मेलन हुआ था उसके एजेंडे में एक महत्वपूर्ण विषय था– "समाजवाद" और "उदारवाद" जैसे शब्दों का लोप हो जाना"[191] कल्चरल फ्रीडम यानिकला का स्वायत्त यथार्थ इलियटवाद और काफ्कावाद का प्रेत बनकर नई कहानी आन्दोलन पर भी मंडराता है, क्योंकि "एक छाया–संसार रचने में, विकृत संसार रचने में, यातनाओं से पीड़ित मानवता का माखौल उड़ाने में, काफ्का का निश्चय ही कोई जबाब नहीं।"[192]

1.11 नई कहानी–आन्दोलन

प्रतिरोध की संस्कृति एवं प्रगतिशील तत्वों के पहचान की जो परम्परा प्रेमचन्द ने डाली थी, वह नई कहानी–आन्दोलन में आकर कुन्द हो गयी जिसके पीछे तर्क यह

था कि प्रगतिशील कहानीकारों ने "इसे मरना है", "इसे विजयी होना है" की मुहर लगी[193] फार्मूलाबद्ध कहानियाँ लिखीं जिसमें "यथार्थ का वस्तुवादी चित्रण करते–करते अचानक अगली पंक्ति फलांग कर ही अँधेरी रात बीत जाती थी। और आशा का लाल सूरज निकलने लगता था"।[194] जबकि "क्रान्तिकारी रचनात्मक दृष्टि अपने समकालीन जीवन–सन्दर्भों की सच्चाइयों के भीतर सदा उस बिन्दु को पकड़ती है और रचना का विषय बनाती है जिससे व्यक्ति, परिवर्तन के लिए चल रहे संघर्ष का हिस्सा बन सके। वह उन संस्थानिक बाधाओं और अन्धविश्वासों के ऊपर से पर्दा हटाती है जो मनुष्य की प्रगति को रोके हुए है।"[195] यथार्थवाद की ऐसी दृष्टि के अभाव में कहानियाँ कहीं शुष्क हो गयी तो कहीं बनावट और कहीं–कहीं वे कहानी ही नहीं रह गयीं। यह विचारधारा की जल्दबाजी थी जिसने शरीर के बिना प्राण को सत्य बनाना चाहा लेकिन यह अवकाश भरने के चक्कर में नई कहानी आन्दोलन यथार्थवाद एवं सामाजिक चेतना की व्यक्तिवादी, कलावादी, आत्मगत व्याख्याएं प्रस्तुत करने लगा। यह एक बुराई से बचने के लिए दूसरी बुराई को ग्रहण कर लेना था। देखा–भोगा सच यथार्थ होने लगा और ऐतिहासिक वस्तुगत सन्दर्भों की खोज हाशिए पर चली गयी। इसनेएक बारगी प्रेमचन्द की परम्परा को ढँक दिया। फ्रायडीय मनोविश्लेषण एवं अस्तित्ववादी बयार ने रही–सही कसर भी पूरी कर दी। कहानी इस आँधी में न बची तथा सामाजिकता से दूर होकर अन्तर्मन की गुत्थियों में उलझ गयी। सर्वत्र मै और मैं की गुत्थी, मैं की पीड़ा ही व्याप्त हो उठी। वेदना का दर्शन, निराशा का दर्शन और सबसे बढ़कर अज्ञात का दर्शन लेकर निर्मल वर्मा सबसे आगे चल रहे थे तो वहीं तमाम कुण्ठाओं का कबाड़ लादे राजेन्द्र यादव भी पीछे नहीं थे। शिव प्रसाद सिंह ने तो बकायदा एक "मुरदा–सराय" ही बना डाला। इसी में से निकलकर "सामाजिकता की नई परिभाषाएं सामने आने लगीं"[196] तथा उसके पैरोकारो की एक जमात भी खड़ी हो गयी। यह कविता से कहानी में संक्रमित अज्ञेयवाद था। (बटरोही की "कहानी : रचना प्रक्रिया और स्वरूप" विशेष उल्लेखनीय है) राजेन्द्र यादव की उलझनों का इसमें कम योगदान नहीं था।

बतौर हरिशंकर परसाई, "समाज सन्दर्भ से हटकर ये लेखक एकान्तिक रूप से व्यक्ति – मानव के मन की इन गुत्थियों (दर्द, कुण्ठा, निराशा) का प्रदर्शन–विश्लेषण

करने में लग गये। अपने आप में डूबे, अपने ही भीतर झाँकते, केवल व्यक्तिगत एवं एबनार्मल समस्याओं से अभीभूत इन कहानियों के पात्र विचित्र लगते हैं। इन्हें हर समय अपना "व्यक्ति" संकटग्रस्त लगता है। मजे की बात यह है कि यही लोग आस्था और व्यापक मानवता की खूब बाते करते सुन पड़ते हैं।[197]

1.12 पूँजीवादी दबाव एवं नई कहानी आन्दोलन

पूँजीवाद ने सदैव से ही वैयक्तिक नायकत्व को हवा दी है, जेम्स बांड सिरीज की फिल्में अनायास नहीं हैं। और साहित्य में वही काम रूपवाद करता है जिसकी खोज हमेशा अद्वितीयता की, विशिष्टता की, अलगाव एवं अस्मिता की होती है। "हर व्यक्ति अद्वितीय है, हर चेहरा स्मरणीय। सवाल यही है कि हम उसके विशिष्ट पहलू को देखने की आँखे रखते हों।"[198] देखने की इसी आँख का विकास पूँजीवाद प्रायोजित रूपवाद के लिए अभीष्ट है।

इतना ही नहीं, "विश्व पूँजीवाद ने दूसरे महायुद्ध के बाद जिस विचारधारा का व्यापक रूप से प्रसार किया, वह अस्तित्ववाद की विचारधारा थी। भारत में इसका प्रवेश कुछ विलम्ब से हुआ किन्तु जब हुआ तो बड़े पैमाने पर हुआ। 1953 के बाद प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन में जो विसर्जनवादी प्रवृत्तियाँ शक्तिशाली बनी, उनसे विशेषतः हिन्दी प्रदेश में, मार्क्सवाद को हटाकर अस्तित्ववाद को प्रतिष्ठित करने में लेखकों के एक विशेष समुदाय को सुविधा हुई और सफलता भी मिली।"[199] यह वहीं वर्ग था जो सामन्तवाद के विस्थापन से प्रगतिशीलता की पाँत में बैठा था अपने अहंमूलक व्यक्ति वादी रूझानों के साथ।

'अस्तित्त्ववाद केवल आत्मगत सत्य को स्वीकार करता है, दूसरी ओर वह मूल्यों की बात करता है जो स्वभावतः समाजगत हैं।'[200] अस्तित्त्ववाद पर उस पुराने तर्कशास्त्र का प्रभाव है जो द्वन्द्ववाद का विरोधी है। आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ सम्बद्ध न होकर उसके लिए अलग हैं, भूत और चेतना, व्यक्ति और चेतना इसी तरह विच्छिन्न इकाइयाँ हैं'[201] और यह तर्कशास्त्र प्रकारान्तर से पूँजीवाद के ही पक्ष में जाता रहा है।

यह संकटग्रस्त व्यक्ति[202] कल्पना को या फैन्टेसी को पालतू बनाकर पिंजरे में रखता है[203] और उसी से समाज–सत्य को देखता है। 'जहाँ कोई रेलिंग होती है और

जिस पर उदास अंधेरा चुपचाप बैठा होता है। कोई बालकनी या छज्जा होता है, जहाँ सूखने के लिए कपड़े टंगे रहते हैं।[204] वह छज्जे पर ही अटका रहता है। सड़क पर तभी आता है (वह भी बहुत कम) जब कोई तमाशा लगा हो, जहाँ ऐसे चरित्र मिल सकें जिसके सहारे उसके निराशावादी दर्शन को खुराक मिले या फिर कोई रिकार्ड खरीदना हो, जिसके संगीत में निराशा घुल–मिलकर आत्मवादी दर्शन को पका सके और दुनिया को विडम्बना पूर्ण, विसंगतियों से भरा, विद्रूप सिद्ध कर सकें। या फिर वह जन सम्पर्क के खतरे से नीचे आए ही न उसकी उदासी और उसके एकाकीपन की शुद्धता खंडित हो, शायद नीचे के दुःखी जन समुदाय में ऊपर की उदासी झूठी और बेमानी लगे, लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं है। और है तो मात्र इतना कि लेखक जीवन की वास्तविकताओं से दूर किसी ऐसे रचना संसार में उड़ाने भरता है, जहाँ उसके भीतर का किशोर ही सब कुछ है— जहाँ *कल्पना का सिरजा हुआ दुःख है और दुःख की पुरानी लीक*।[205] और पूँजीवाद समर्थित प्रतिक्रियावाद[206] साहित्य के रूप में यही चाहता है। "प्रतिगामी उच्चवर्ग प्रयत्न करता है कि साहित्यकार जनता की ओर उन्मुख न हो।"[207] बतौर राम विलास शर्मा,[208] "समाजवादी शक्तियों का विरोध करना साम्राज्यवाद–मुख्यतः अमीरकी साम्राज्यवाद–का काम है।" क्योंकि वह सदैव से ही जनसंघर्षों के किसी भी रूप को नापसन्द करता रहा है, वस्तुगत चेतना को कभी वह मुख्य धारा में नहीं आने देना चाहता क्योंकि उन्हें पता है आत्मगत चेतना का बढ़ाव उन्हें नुकसान नहीं पहुँचा सकती बल्कि वह उसमें सहायता ही करती है।"[209] क्योंकि गम अगर व्यवस्था को लेकर है तो उसे भुलाने के लिए चाहिए दर्शन, ग्रामोफोन, *रिकॉर्ड प्लेयर, पियानों और गम अगर प्रेम को लेकर है तो उसे भुलाने के लिए चाहिए अच्छे शहर की यात्रा, शराब, कोठी, फार्म हाउस*। इसी में उन्हें अपना व्यक्तित्व सुरक्षित लगता है।[210] कौन नहीं जानता की शरदचन्दी परम्परा और निर्मल वर्मा जैसों का पात्र बनने की कूबत सबके अन्दर नहीं होती !

नई कहानी–आन्दोलन ऐसों की ही अगुआयी में उठी जिसमें व्यक्तिवादी मूल्य, अनास्था, कुण्ठा, निराशा, विडम्बना, विसंगति और विद्रूपता का स्वर ही प्रमुख रहा। ताज्जुब यह कि उसके पीछे तर्क सामाजिकता और यथार्थवाद का ही था। *'यथार्थवाद और सतही यथार्थवाद के बीच एक मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ पहला संघर्ष का*

परिणाम है वहाँ दूसरा संघर्ष से पलायन का। अच्छे से अच्छे काल में भी सच्चाई कोई पके फल की तरह झूलती चीज नहीं है कि किसी के भी द्वारा तोड़े जाने का इन्तजार करे। सच्चाई के लिए हर समाज में हमेशा संघर्ष करना होता है। केवल संघर्ष के रूप बदल सकते हैं।[211] और सच्चाई के लिए संघर्ष का यह ककहरा कहीं बाहर से सीखने की जरूरत नहीं। इसकी समृद्ध परम्परा हमारे यहाँ पहले से मौजूद रही है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों की कथाएँ धार्मिक होकर भी इसी संघर्ष को बयान करतीं हैं, क्योंकि धर्म उस संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग था लेकिन वस्तुगत यथार्थ से मुठभेड़ की जरूरत तो हर समाज में बनी रहती है। उसकी पहचांन होनी चाहिए। उसकी पहचान प्रेमचन्द के यहाँ मिलती है। जरूरत थी उसी के बढ़ाव की लेकिन कलावादी आन्दोलनों और उत्साही प्रगतिवादियों की गलतियों ने उसे हाशिए पर ढकेल दिया। कहना न होगा कि नई कहानी आन्दोलन ने संघर्ष–भूमियों की तलास ही बेमानी कर दी। फिर भी यथार्थवाद की जो जातीय परम्परा चली आयी थी और गुलेरी जी तथा प्रेमचन्द के यहाँ जो आधुनिक चेतना और युगीन संवेदना से जुड़कर और समृद्ध हो चली थी उससे न तो, जैनेन्द्र–अज्ञेय बच पाए हैं और न ही नई कहानी–आन्दोलन। अज्ञेय के यहाँ भी 'शरणार्थी, 'जयदोल', 'रोज', 'विपथगा' जैसी कहानियाँ मिलती हैं तो वहीं नई कहानी आन्दोलन से भिन्न भीष्मसाहनी, अमरकान्त, मार्कण्डेय और शेखर जोशी जैसे सशक्त हस्ताक्षर भी हुए हैं। पूँजीवाद प्रचारित रूपवाद, तमाम कोशिशों के बाद भी यथार्थवाद की परम्परा को खत्म नहीं कर पाया क्योंकि वह जन सामान्य से प्रेरणा ग्रहण करता है। जैसे–जैसे उस पर संकट आया वैसे–वैसे वह और खरी हुई वरना क्या कारण था कि उदारीकरण के प्रारम्भ होते ही प्रेमचन्द्र के उपन्यासों की परम्परा एक लम्बे अन्तराल के बाद समय की सबसे मजबूत, समर्थ, सशक्त आवाज बनकर 1990 के बाद के उपन्यासों में व्यक्त होती है और वह भी महिला उपन्यासकारों द्वारा। कहना न होगा कि मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजली श्री, प्रभा खेतान, अलका सरावगी का यथार्थवाद की परम्परा और प्रतिरोध की संस्कृति में योगदान कहीं अधिक ठहरता है।

टिप्पणी

1. 'कुछ विचार'—प्रेमचन्द, पृ.31
2. वही, पृ.6
3. वही, पृ.7
4. कुछ विचार'—प्रेमचन्द, पृ.31
5. वही,
6. ग्राहम क्लार्क के अनुसार "मानव ने अपनी वर्तमान स्थिति अपनी संस्कृति के माध्यम से प्राप्त की है।"

   वहीं हावर्ड फास्ट लिखते हैं "यदि हम संस्कृति से मनुष्य के गहरे सम्बन्धों को ध्यान में रखें तो हम जनता के सन्दर्भ में प्रतिमानों को देख सकते हैं और इस प्रकार हम मानव के यथार्थ की रोशनी में कला की पड़ताल कर सकते हैं।"— 'साहित्य और यथार्थ'— हावर्ड फास्ट, पृ.5
7. "यथार्थ में परिवर्तन के साथ मानदण्डों का बदलना आवश्यक है। शास्वत मानदण्डों जैसी कोई चीज नहीं होती। मानदण्डों में शाश्वत शब्द का चलन कपोल कल्पना है। अगर शाश्वत नाम की जैसी कोई चीज है भी तो वह परिवर्तन ही है। संस्कृति, नीतिशास्त्र और नैतिकता के मानदण्ड समय के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं।.

   ....यह मानना खाम ख्याली है कि नीतिशास्त्र और मानदण्ड हवा में बनते हैं और वहां से हमेशा मानव सभ्यता पर प्रभाव डालते हैं। ऐसा सोचना 'जादुई तर्क संगतता' है जो यथार्थ की अभिव्यक्ति में सोद्देश्य काँट—छाँट करती है। इस तरह के जादू का स्वाभाविक निष्कर्ष 'कला कला के लिए' या कला और जीवन के विरोध का सिद्धान्त होता है।"—फास्ट वही, पृ.20—21

   "लेखन कला के अनाड़ियों को एक सहज विचार सदा याद रखना चाहिए: विचार हवा से नहीं निकाले जा सकते..... विचारों का सृजन धरती पर होता है, वे श्रम की मिट्टी से फूटते हैं....सच्चाई और बुद्धिमत्ता नीचे से जनता से उत्पन्न होती है।"—मैक्सिम गोर्की 'सृजन प्रक्रिया और शिल्प के बारे में,' पृ.102

   "संसार में कोई चीज अपने आप और अपने लिए नहीं होती, कि हर चीज के अस्तित्व का कोई उद्देश्य होता है और वह किसी न किसी ढंग से किसी अन्य

चीज पर निर्भर करती है अथवा उससे जुड़ी या संबंधित होती है।''— मैक्सिम गोर्की, वही, पृ.141

''मैं मानता था कि साहित्य की कोई निष्क्रिय भूमिका नहीं हो सकती। मैं जानता था कि रूसी कहावत के शब्दों में 'चेहरा टेढ़ा है तो दर्पण को दोष देने से क्या होगा', परन्तु मैं यह भी समझने लगा था कि 'चेहरे इसलिए टेढ़े नहीं थे कि वे ऐसा चाहते थे, बल्कि इसलिए कि जीवन में एक ऐसी शक्ति सक्रिय थी जो हर एक और हर चीज की सूरत बिगाड़ रही थी, और वही शक्ति थी जिसको 'प्रतिविम्बित' होना चाहिए, उसको नहीं जिसकी सूरत उसने बिगाड़ी थी।'' मैक्सिम गोर्की 'सृजन प्रक्रिया और शिल्प के बारे में', पृ.21

8. साहित्य और यथार्थ— हावर्ड फास्ट पृ.21
9. ''यह राजसत्ता और ब्राम्हण—सत्ता को दृढ़ करने का भारी साधन है...'' 'वोल्गा से गंगा' (प्रवाहण)—राहुल सांकृत्यायन, पृ.119

''प्रजा की मशक्कत की कमाई को मुफ्त में खाने का तरीका है यह राजवाद, ब्रम्हवाद, यज्ञवाद..'' वही. पृ.120
10. 'प्राचीन भारत; सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक विकास की पड़ताल—' डी0एन0झा0, पृ148
11. 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास'— ओम प्रकाश, पृ.231
12. वही.
13. वही.
14. 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास'— ओम प्रकाश पृ.232
15. वही.
16. वही.
17. वही.
18. मौर्यकाल में जहां शूद्रों को खेती में लगाया गया वहीं कृषि के प्रसार के लिए पुरोहितों को सीमान्त क्षेत्रों तथा जंगलों में भेजा गया। रावण ऐसा ही पुरोहित प्रतीत होता है जिसने जनजातियों का एक संगठन खड़ा कर लिया हो, जिसकी

कथा रामायण में वर्णित है। राम को बला–प्रतिबला की शिक्षा देना भी इसी प्रभाव के तहत प्रतीत होता है।

19. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग'— नामवर सिंह पृ. 265
20. 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास'–ओमप्रकाश पृ.233
21. वही. पृ.240
22. वही.
23. 'प्राचीन भारतः सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक विकास की पड़ताल'–डी0एन0झा0, पृ.151
24. 'प्राचीन भारत; एक रूपरेखा'— डी0एन0 झा0 पृ.98
25. वही, पृ.99
26. 'अद्‌भुत भारत'— ए0 एल0 बाशम, पृ.343
27. 'भारत का इतिहास'–रोमिला थापर, पृ.148
28. 'प्राचीन भारतः सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विकास की पड़ताले'— डी0एन0 झा0, पृ.153
29. 'भारतीय सामन्तवाद'–राम शरण शर्मा, पृ. 53
30. 'प्राचीन भारत–एक रूप रेखा'— डी0 एन0 झा, पृ.72
31. वही, पृ.93
32. 'भारतीय सामन्तवाद'— राम शरण शर्मा, पृ.13
33. वही. पृ.27
34. वही, पृ.40
35. 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास'–डा0 कपिल देव द्विवेदी पृ.572
36. वही.
37. 'प्रेमचन्द और उनका युग'–राम विलास शर्मा, पृ.110–111
38. 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास'–डा0 कपिल देव द्विवेदी, पृ.572
39. 'वेदचयनम'–विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, पृ.26
40. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंस का योग'–डा0 नामवर सिंह, पृ.267
41. 'वेदचयनम'— विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, पृ.27 (इन्द्र की व्युत्पत्ति)

42. 'वोल्गा से गंगा'– राहुल सांकृत्यायन,पृ.60

43. 'वेद चयनम'–विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी पृ.41 (वृत्र की व्युत्पत्ति)
इसी तरह दास की व्युत्पत्ति 120–121, 55–59

44. वही, पृ.60

45. वही, पृ.60

46.'वेदचयनम'– विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, पृ.37

47. वही, पृ.46

48. वही, पृ.62

49. 'वेदचयनम'–विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, पृ.114

50. वही, पृ.116

51. वही, पृ.124

52. वही, पृ.128

53. वही, पृ. 129

54. 'वेदचयनम'– विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, पृ.130

55. वही, पृ.131

56. 'वेदचयनम'– विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, 120–121, 55–56

57. 'आलोचना'– (त्रैमासिक) सहस्त्राब्दी अंक सात–आठ, पृ. 167

58. 'भारतीय इतिहास में मध्यकाल'–इरफान हबीब, पृ.50

59. वही, पृ.44

60. वही, पृ.45

61. 'भारतीय इतिहास में मध्यकाल'– इरफान हबीब, पृ:45

62. वही, पृ.45

63. वही, पृ.47

64. वही, पृ.48

65. 'भारतीय इतिहास में मध्यकाल'– इरफान हबीब, पृ.48

66. वही, पृ.49

67. वही.

68. वही, पृ.50

69.' अद्भुत भारत'–ए0एल0 बाशम, पृ.387

70. वही, पृ.388

71. 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास– डॉ0 कपिल देव द्विवेदी पृ.461

72. वही.

73. वही.

74. 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' डा0 कपिल देव द्विवेदी, पृ.462

75. वही.

76. वही.

77. वही.

78. 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' डा0 कपिल देव द्विवेदी, पृ.463

79. वही, पृ.464

80. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.62

81. 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास'–कपिल देव द्विवेदी, पृ.464

82. 'साहित्य–सहचर'– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.176

83. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.57

84. वही, पृ.58

85. वही, पृ.60–61

86. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंस का योग'– डॉ0 नामवर सिंह, पृ.267–68

87. 'साहित्य–सहचर'– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.170

88. 'अद्भुत भारत'– ए0एल0 बाशम, पृ.377

89. वही, पृ.378

90. वही, पृ.381

91. 'अद्भुत भारत'–ए0एल0 बाशम, पृ.382

92. वही.

93. वही, पृ. 385

94. वही.

95 .'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.26

"गल्प, आख्याइका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म ग्रन्थों में जो दृष्टांत भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियां ही है, पर कितनी उच्च कोटि की। महाभारत, उपनिषद, बुद्धजातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रन्थों में जन–शिक्षा का यहीं साधन उपयुक्त समझा गया है।...उनका अभिप्रायः केवल मनोरंजन न होता था, जो कुछ वे कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है।" वही,

96. 'प्रेमचन्द और उनका युग'– राम विलास शर्मा, पृ.111

97. "लोक–कथाएं प्रायः स्त्री जाति द्वारा ही रची ज़ाती हैं, इसलिए स्वभावतः उनमें उन्हीं का दुख–सुख सबसे अधिक होता है और दुख–सुख में वास्तविक तो दुख ही रहता है, सुख तो केवल आकांक्षा की उपज होती है। पुरूषों द्वारा सतायी हुई स्त्री जाति आखिर इसके सिवा और क्या सोच और कह सकती है। पति अपने सुख के लिए एक से अधिक विवाह अक्सर ही कर लिया करते थे। ऐसी दशा में कभी तो छोटी सौत से तकलीफ मिलती थी और कभी बड़ी सौतों से सबसे छोटी रानी को क्योंकि कभी–कभी अनुभवी रानियां छोटी रानी को ही कौवा बना देती हैं, राजा के मानने से क्या होता है। वह चौबीस घंटे अपनी छोटी रानी की देखभाल तो नहीं कर सकता। जो हो किसी न किसी पत्नी को तकलीफ होना जरूरी है। पीड़ा तो पीड़ा ही है, इस अंगुली को दबाएं तो पीड़ा और उस अंगुली को दबाएं तो पीड़ा–"नामवर सिंह

'हिन्दी के विकास में अपभ्रंस का योग' पृ.263–64

98. 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास'– रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.93

99. वही, पृ.94

100. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.227

101. वही, पृ.244–45

102. 'मित्र संवाद और गद्य की विलुप्त कला – नामवर सिंह, आलोचना (त्रै) सहस्त्राब्दी अंक दो, पृ.14

103. वही, पृ.14

104. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.35

105. वही, पृ.29

106. वही, पृ.35

107. वही, पृ.36

108. 'कहानी–शिक्षण' (भारतीय भाषा विभाग (राज्य हिन्दी संस्थान वाराणसी) पृ.2.

109. 'हिन्दी का गद्य साहित्य'– डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, पृ.212–13

110. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.28

111. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.275

112. *'मित्र संवाद और गद्य की विलुप्त कला'– नामवर सिंह आलोचना (त्रैमासिक)* सहस्त्राब्दी अंक दो, पृ.7

113. वही, पृ.15

114. 'कथा–विवेचना और गद्य–शिल्प'– राम विलास शर्मा, पृ.127

115. वही, पृ.128

116. वही, पृ.129

117. 'कथा–विवेचना और गद्य शिल्प'– राम विलास शर्मा, पृ.130

118. वही, पृ.131

119. 'कथा–विवेचना और गद्य शिल्प'– राम विलास शर्मा, पृ.129

120. वही, पृ.131

121. वही, पृ.128

122. मानक कहानियां (सं)–मार्कण्डेय, पृ.12.भूमिका से

123. 'कुछ विचार'– प्रेमचन्द, पृ.30

"भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हां, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

124. मानक कहानियां (सं)–मार्कण्डेय, पृ.13 भूमिका से

125. 'कुछ विचार'– प्रेमचन्द, पृ.30

126. मानक कहानियां (सं)–मार्कण्डेय, पृ.11भूमिका से

127. 'कुछ विचार'– प्रेमचन्द, पृ.14

128. वही, पृ.10

129. 'कुछ विचार'– प्रेमचन्द, पृ.31

130. वही, पृ.19

131. वही, पृ.16

132. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.31

133 'वोल्गा से गंगा'–राहुल सांकृत्यायन, पृ.84–85

134. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.43–44

135. वही, पृ.46

136. वही,

137. 'साहित्य और यथार्थ'–हावर्ड फास्ट, पृ.17

138. वही, पृ.18

139. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.32

140. 'साहित्य और यथार्थ' हावर्ड फास्ट, 18

141. 'कुछ विचार' प्रेमचन्द, पृ.17

142. वही.

143. प्रेमचन्द–प्रतिनिधि कहानियां–भीष्म साहनी,भूमिका से।

144. वही.

145. 'हिन्दी–साहित्य का आदिकाल'– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी,पृ.57

146. वही,

147. 'हिन्दी कहानी का विकास'–मधुरेश, पृ.11

148. 'हिन्दी का गद्य साहित्य'– डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, पृ.212.

149. वही.

150. 'हिन्दी कहानी का विकास'–मधुरेश, पृ.25

151. 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास'– रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.170

152. 'हिन्दी का गद्य साहित्य'– डॉ0रामचन्द्र तिवारी, पृ.213

153. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.35

154. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, पृ.5. ग्राहम क्लार्क के कथन से

155. वही, पृ. 15

156. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.26

157 'कुछ विचार'– प्रेमचन्द, 'साहित्य का उद्देश्य निबन्ध।

158. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.32

159. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, पृ.18–19

160. 'कहानीकार अमरकान्त से एक भेंट।

161. 'प्रेमचन्द और उनका युग'– राम विलास शर्मा, पृ.111

162. 'प्रेमचन्द की विरासत और गोदान'– शिव कुमार मिश्र, पृ.13

163. वही.

164. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, पृ.18

165. वही, पृ.14

166. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, पृ.15

167. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द पृ. 19

168. 'प्रेमचन्द की विरासत और गोदान'– शिव कुमार मिश्र, पृ.17

169. 'कुछ विचार'–प्रेमचन्द, पृ.52

170. 'मानक कहानियां' (सं)–मार्कण्डेय पृ.14

171. वही.

172. वही.

173. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, पृ.29

174. वही, पृ.13

175. वही,पृ.11

"एक आध्यात्मिक दलदल, जहां भाषा, नीतिशास्त्र, साहित्य और व्यक्तिगत साहस सब कुछ धुंधली आकारहीनता में पिघल कर ढल जाते हैं। एक नियन्त्रित अंतः प्रेरणा उस बेडौल धुंध को उकसाकर एक आकृति देती है। यह शक्ल एक गतिहीन कला से उत्पन्न फासीवाद की शक्ल है।"

190. मुद्राराक्षस, आलोचना (त्रै) सहस्त्राब्दी अंक तीन, पृ.102

191. वही.

192 .'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट , पृ.2

193 .एक दुनियाः समानान्तर (सं) राजेन्द्र यादव, पृ.43

194. वही.

195. मानक कहानियां (सं)'–मार्कण्डेय, पृ.17

196. कहानीः नई कहानी–नामवर सिंह, पृ.192

197. हरिशंकर परसाई, नई कहानीः संन्दर्भ और प्रकृति (सं)–डॉ० देवी शंकर अवस्थी, पृ.58

198. 'कहानी की बात''मार्कण्डेय, पृ.83

199. 'नई कविता और अस्तित्ववाद'– राम विलास शर्मा, पृ.170

200. वही, पृ.107

201. वही, पृ.108

202. हरिशंकर परसाई, नई कहानीः सन्दर्भ और प्रकृति (सं)–डॉ0 देवी शंकर अवस्थी, पृ.58

203. 'नई कविता का आत्मसंघर्ष'– मुक्तिबोध, पृ.15

204. 'कहानी की बात'– मार्कण्डेय, पृ.17

205. वही, पृ.18

206. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, अध्याय दो।

207. 'एक साहित्यिक की डायरी'– मुक्ति बोध पृ.38

208. भूमिका, 'नई कविता और अस्तित्ववाद'– राम विलास शर्मा।

209. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, पृ.29

210. मुद्राराक्षस, आलोचना (त्रै) सहस्त्राब्दी अंक तीन, पृ.103

211. 'साहित्य और यथार्थ'– हावर्ड फास्ट, पृ.43

❑ ❑ ❑

अध्याय - 2
युग
और
परिवेश

युग और परिवेश

"जो ऐतिहासिक घटनाएँ हमारी आँखों के सामने हो रही हैं, उन्हें केवल तभी समझा जा सकता है जब हम, सबसे पहले, एक युग से दूसरे में संक्रमण की वस्तुगत परिस्थितियों का विश्लेषण करें।"[1]

"साहित्य भी जिस समय रचा जाता है उससे तीस साल बाद इतिहास के रूप में ही देखा जाता है।"[2]

अतः जरूरी हो जाता है कि उस साहित्य को समझने के लिए इतिहास की भी पड़ताल हो क्योंकि साहित्य सिर्फ समाज का ही नही समय का भी दर्पण होता है। और तत्कालीन समय को यदि परिवर्तनों का समय कहा जाय तो गलत न होगा। एक तरफ बढ़ते राष्ट्रवाद की चेतना ने विभिन्न राष्ट्रों की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया तो दूसरी तरफ द्वितीय विश्वयुद्ध तथा फाँसीवादी जहर और आर्थिक तंगहाली ने यूरोपीय साम्राज्यवाद के ताबूत में अन्तिम कील ठोंक दी। विभिन्न राष्ट्रीयताओं और संस्कृतियों ने स्वतन्त्रता की सांस ली। भारत स्वतन्त्रता की सुबह के साथ बैठ नहीं गया अपितु उसने तमाम उपनिवेशों की मुक्ति कामना को बलवती किया और 1970–72 तक आते–आते लगभग सभी उपनिवेश अपना राष्ट्रगीत गाने लगे तथा अपनी ढही इमारतों से ईंटे चुनकर सपनों का महल बनाने के लिए जुट गये। तमाम आशाओं–आशंकाओं के बीच भारतीय जन मानस भी इससे अलग नहीं था।

लेकिन समय एक और पटकथा लिख रहा था, नवसाम्राज्यवाद के उदय और शीत युद्ध की शुरूआत के साथ। यह उस वैश्विक लोकतन्त्र की आहट थी जो रूसी समाजवाद के पतन के साथ ही शेष दुनिया को निगल जाने के लिए मुँह बाये आज खड़ा है। जिसके पास विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व व्यापार संगठन और मानवाधिकार जैसे लोकतान्त्रिक पंजे हैं।

2.1 समाजवाद

समाजवाद एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ श्रमिक वर्ग ही शासक वर्ग होता है और उत्पादन के साधनों पर किसी का निजी स्वामित्त्व नहीं होता। यह मार्क्स से प्रेरणा लेकर अस्तित्त्व में आया तथा रूस की वोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात इसने कल्याणकारी

लोकतन्त्र की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस क्रान्ति ने रूस में प्रथम समाजवादी राज्य की नींव डाली जो धार्मिक शोषण, युद्ध, आक्रमण, औपनिवेशीकरण और नस्लवादी भेदभाव के खिलाफ था। इस क्रान्ति ने एक ऐसे राज्य को जन्म दिया जो युद्ध एवं साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई में प्रेरक शक्ति के रूप में काम करता रहा। इसने वैकल्पिक विश्व समाजवादी व्यवस्था को भी जन्म दिया, जो बराबरी (समानता) और शोषणमुक्ति के सिद्धान्त पर आधारित थी। दुनिया के मेहनतकश लोगों और उपनिवेशों के लोगों को इस क्रान्ति ने आशा और मुक्ति का पैगाम दिया। यह संदेश किसी भी तरह के शोषण से मुक्ति का संदेश था, चाहे उसका स्वरूप राष्ट्रीय हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो अथवा राजनीतिक हो।

श्रमिक वर्ग और शोषित जनता के अधिकारों का घोषणापत्र 1918 के जनवरी माह में होने वाले 'ऑल रसियन कांग्रेस ऑफ सोवियत' में स्वीकार किया गया था। घोषणापत्र में सोवियत राज्य के बारे में कहा गया "बुर्जुआ सभ्यता की उस बर्बर नीति से पूरे तौर पर अलग जिसने कुछ चुने हुए राष्ट्रों के शोषकों की समृद्धि के लिए एशिया के सैकड़ों–लाखों लोगों, सामान्यतया सभी उपनिवेशों और छोटे देशों को गुलाम बनाया है।"

वोल्शेविक तथा उपनिवेश विरोधी संघर्ष, नये समाजवादी राज्य की रूस एवं पूरब की मेहनतकश जनता के नाम जारी अपील में ईरानियों, तुर्कों, अरबों और हिन्दुओं से कहा गया कि वे अपने कन्धे से शोषण के जुए को उतार फेंकने में समय जाया न करें तथा जल्दी से जल्दी अपनी जमीनों पर अपनी मिल्कियत कायम करें। अपील में भारत की उबलती राष्ट्रीय चेतना का विशेष उल्लेख किया गया था। इस राज्य ने भरोसा दिया कि रूस की क्रान्तिकारी सरकार के रूप में उनका असल हमदर्द खड़ा है जिसे वे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में इस्तेमाल कर सकते हैं।

"इस समाजवादी क्रान्ति ने दुनिया भर के शोषित पीड़ित साधारण जनों के मन में मुक्ति के सपने और उन्हें साकार करने की आकांक्षाएँ जगायीं। समाजवाद उनका आदर्श और लक्ष्य बना। कालान्तर में ये सपने एशिया, अफ्रीका तथा दूसरे महाद्वीपों में साकार भी हुए। समाजवाद बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक जीवन्त मानवीय और अग्रगामी विचार के रूप में मान्य हुआ।" (डॉ. शिवकुमार मिश्र)[3]

इतना ही नहीं, "सोवियत रूस की क्रान्ति ने इतिहास के सबसे बड़े सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक प्रयोग के रूप में सफलता प्राप्त की। वर्गविहीन, शोषणविहीन समाज की रचना सोवियत क्रान्ति से ही सम्भव हुई। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन–वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार समाप्त हुआ, वैयक्तिक पूँजी का समापन हुआ। साम्यवादी दल और सोवियत सरकार की स्थापना हुई, पंचायतों या सोवियतों का जाल बिछा और सारा ढाँचा ही बदल दिया गया। साम्यवादी दल और सोवियत शासन ने एक नये श्रमिक वर्ग के आधिपत्य को सम्भव बनाया, श्रम की महत्ता और नारी वर्ग की समता स्थापित हुई।" (डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय)[4]

2.2 समाजवादी प्रभाव तथा भारतीय मुक्ति संघर्ष

अक्टूबर क्रान्ति के प्रभाव में समाजवादी विचारों का व्यापक प्रसार हुआ। अनेक क्रान्तिकारी समूहों एवं कम्युनिस्ट पार्टियों का गठन हुआ। इनके क्रियाकलापों से मेहनतकश जनता की चेतना में इजाफा हुआ और शोषण के खिलाफ वे लामबद्ध हुए। ये समूह जनता को राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाने की दिशा में तो कार्य कर ही रहे थे, किसानों और मजदूरों के संघर्ष को राष्ट्रीय मुक्ति और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों से जोड़ने के लिए जमीन भी तैयार कर रहे थे। इस क्रान्ति ने तमाम उपनिवेशों, राष्ट्रीयताओं के मुक्ति–संघर्षों को तो प्रभावित किया ही लेकिन 'मानव जाति के विकास–क्रम पर' इसका जो प्रभाव पड़ा उसको कभी मिटाया नहीं जा सकता।[5] किसी कवि ने लिखा है कि लेनिन पैदा हुआ रूस में लेकिन कभी अफ्रीका के काले जगलों में मशाल लिए दिखाई पड़ा तो कभी लातीन अमेरिका में लोगों को जगाता मिला और फिर एशिया के देशों में आजादी के नारे लगाता देखा गया।[6] यह कविता रूसी क्रान्ति के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव को ही व्यक्त कर रही है।

दूसरे महायुद्ध में रूसी लाल सेना और रूसी जनता के महान बलिदान ने ही फाँसीवाद के दैत्य को परास्त कर दुनिया में आजादी और जनतन्त्र के विकास का पथ प्रशस्त किया। लाल सेना ने ही जापानी साम्राज्यवादी हमले का मुकाबला करके चीनी क्रान्ति की सफलता का रास्ता साफ किया। लाल सेना की विजय ने समाजवाद को विश्व–व्यवस्था का रूप दिया और पहली बार इतिहास में दो परस्पर–विरोधी समाज व्यवस्थाएँ आमने–सामने खड़ी हो गयीं। इसी ऐतिहासिक उपलब्धि ने एशिया, अफ्रीका

और लातीन अमेरिका से साम्राज्यवादी शासन का अन्त करके पुराने ढंग के उपनिवेशवाद को समाप्त कर दिया। नये आजाद देशों ने विकास का नया रास्ता खोजना शुरु कर दिया। भारत जैसे देश ने समाजवादी देशों की मदद से आर्थिक आत्मनिर्भरता पाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगीकरण किया, जिससे स्वतन्त्रता का आर्थिक आधार कुछ हद तक बना।[7]

रूसी क्रान्तिकारियों की कामयाबी से प्रेरित होकर विदेशों में कार्यरत भारतीय क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों ने लेनिन एवं अन्य वोल्शेविक नेताओं से सम्पर्क साधा। महेन्द्र प्रताप, वर्कतुल्ला, ओबेदुल्ला, वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्रनाथ दत्त, हरदयाल एवं एम0एन0 राय मास्को जाकर भारत की मुक्ति के लिएं सहयोग एवं निर्देश प्राप्त करने वाले महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से थे। पण्डित नेहरू एवं रविन्द्रनाथ टैगोर रूसी घटनाओं से गहरे प्रभावित होने वाले दो भारतीय नेता थे। वे जीवन भर सोवियत रूस के प्रतिबद्ध मित्र बने रहे। जेल के दिनों में शहीद भगत सिंह समाजवाद की ओर आकर्षित होने लगे थे। जेल में रहते हुए उनकी अन्तिम गतिविधि थी लेनिन दिवस मनाना।

2.3 समाजवाद और साहित्य

पहले पहल जब मैं तुम्हारे चुम्बकीय क्षेत्र में खिंचा हुआ आया
तुम्हारी धुरी के चारों ओर मैंने जब
एक नक्षत्र की तरह
दिन पर दिन चक्कर–पर–चक्कर लगाया
मेरी चेतना में तुम्हारी चेतना का प्रकाश अषतीर्ण हुआ
मुझे दिखाई देने लगा
मेरा ही अपना मानवीय व्यक्तित्व परम संकीर्ण हुआ
नजर में अपनी ही लगने लगा मैं
संसार का पैदायशी बौना
भंग हो गयी मेरे ज्ञान की भाववादी भंगिमाएँ
जीवन जीने की मेरी
संस्कारवादी परम्पराएँ

जीवन जीने की सामन्ती पद्धति (संस्कारवादी परम्परा) पूँजीवादी तरीका (भाववादी भंगिमाएँ) भंग होने के पीछे समाजवादी सोंच का प्रभाव ही था। केदारनाथ

अग्रवाल की 'कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति' यह कविता उस दौर के समाजवादी असर को बयान करती है। क्योंकि समाजवाद का प्रभाव सिर्फ 'क्रान्तिकारी जनवादी और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों पर' ही नहीं पड़ा बल्कि व्यक्तिवाद के स्थान पर एक सामूहिक चिन्तन और जनसंस्कृति का विकास हुआ। समाजवादी विचारों ने सबसे अधिक साहित्य और कला को प्रभावित[8] किया। और इसकी पुष्टि होती है जब शमशेर कहते हैं –

सेनानी
वीर युवक
अति बलिष्ठ
वामपन्थीगामी वह–
समय साम्यवादी।

यह उस सपने का अंग था जिसे समाजवादी क्रान्ति ने बेहतर समाज–व्यवस्था में नये संकल्पों के साथ जगाया था। जो इस स्वप्न को नहीं पा सके उन्होंने इस सपने को जगाए रखा।[9] क्योंकि यह एक बेहतर मानवीय समाज का सपना था। इसी सपने के तहत प्रेमचन्द ने महान साहित्य रचा और भारत में 1935 में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अध्यक्ष बने। वस्तुतः समाजवाद से साहित्य का सम्बन्ध इसी समाजवादी सपने से जुड़ता था न कि किसी देश से। वे जुड़ते थे तो उस व्यवस्था की अवधारणा के साथ जो एक न्याय संगत, समानता पर आधारित शोषणमुक्त व्यवस्था की सम्भावना का आश्वासन देती थी।[10]

लेकिन समाजवादी राज्य के रूप में सोवियत रूस की स्थापना एक व्यावहारिक नैतिकता[11] बन गयी थी और साहित्य इसी नैतिकता से अनुप्राणित हो रहा था। क्योंकि यह आदमी को बेहतर जिन्दगी की ओर बढ़ाता है, मानव के दुख कम करता है। वह डर, असुरक्षा, निर्दयता, जनहत्या, भूख, रोग, शोषण से मुक्ति चाहता है।[12] तो सोवियत रूस में समाजवाद की स्थापना ने ऐसे सपनों और सम्भावनाओं को वास्तविकता प्रदान की जिससे भारतीय साहित्य अछूता नहीं रह सकता था क्योंकि वह स्वयं भी इन्हीं परिस्थितियों से गुजर रहा था। प्रेमचन्द के यहाँ इसकी गूँज तो है ही निराला भी 'अबे, सुन बे गुलाब!' जैसी गर्वोक्ति और 'चतुरी चमार' के संघर्षों की अनदेखी नहीं कर

पाते। लेकिन प्रेमचन्द ने जहाँ समाजवाद का स्पष्ट खाका पा लिया था वहीं निराला ने उससे दूरी बनाये रखी।

प्रेमचन्द के पश्चात साहित्य का समाजवादी संघर्ष 'यशपाल' के यहाँ प्राप्त होता है। उनका कथा–साहित्य निरन्तर समाजवादी सपने के लिए जूझता है। राहुल सांकृत्यायन, अमृतराय, प्रकाशचन्द गुप्त, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त जहाँ समाजवाद से प्रभावित गद्यकार थे वहीं मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि कवि थे।

हिन्दी साहित्य, समाजवादी सपने की इसी परम्परा के साथ आजाद भारत में प्रविष्ट होता है। भीष्म साहनी, मार्कण्डेय, अमरकान्त, शेखर जोशी जहाँ साहित्य की अगली जमात में खड़े दिखते हैं। जहॉ उत्साह भी है, मोहभंग भी है लेकिन सपने मरे नहीं हैं, जिन्दा हैं। बतौर शेखर जोशी[13], जो हम लोगों के लेखन की शुरुआत का समय है, वह ऐसा समय था जब हम साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे और प्रतीक के रूप में रूस की छवि थी। एक उत्साह का वातावरण था और लगता था कि हमारे सपने के अनुसार चीजें चलेंगी। लेकिन धीरे–धीरे जो उसकी परिणति हुई वह यह कि लोग संघर्षशीलता की तरफ न जाकर सुविधाभोगी जीवन की ओर उन्मुख हुए। जो लोग सत्ता में थे उन्होंने अपना मुखौटा बिलकुल उतार दिया। तो जो परिकल्पना थी कि एक समाजवादी ढंग से राष्ट्र रहेगा वह सपना इनकी करतूतों की वजह से चकनाचूर हो गया। लगा कि संघर्षशीलता की धार धीरे–धीरे कुन्द हो गयी है। ट्रेड यूनियनों में भी किसान–मजदूर मोर्चा बनाने की बात हुई, वह भी सीमित रही। वर्ग चेतना का विकास उनमें नहीं हुआ। ट्रेड–यूनियन धीरे–धीरे व्यवसाय बन गया। हम अपने अधिकारों के प्रति तो जागरूक रहे पर दाइत्वों के बारे में नहीं। सार्वजनिक क्षेत्रों की जिम्मेदारी ऐसे लोगों के हाथ में थी जो उनके योग्य नहीं थे। जो आज विनिवेश की नीति चल रही है उसके लिए खुद हमने गड्ढा खोदा। बने–बनाये सेक्टर औने–पौने दामों में बेचे जा रहे हैं। और उनका प्रतिरोध नहीं हो पा रहा है। नीतियाँ ऐसी बनायी गयी कि जहाँ काम हो रहा था वहाँ भी नहीं हो पा रहा है। आजादी के बाद चीजों को जिस रास्ते ले जाना चाहा था नहीं गयी। इससे एक हताशा की भावना तो हुई ही।

लेकिन नेमिचन्द जैन[14] अभी भी हौसला रखते हैं, "लेखन शुरु करते वक्त यह महत्वाकांक्षा थी कि देश को ऐसा बनाये जिसमें सबको एक समान मर्यादा के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक जीने का अवसर मिले। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। यह 'यूटोपिया' जिसे कम्यूनिज्म ने मेरे भीतर उत्पन्न किया था उसे राजनीतिक दलों, जिसमें वामपंथी पार्टियाँ भी शामिल हैं, ने हमसे दूर कर दिया। अब एक मात्र सपना यही है कि जगह–जगह फैले समुदाय एक दिन सैलाब की तरह उमड़कर हमारे देश की स्थिति को बदलें। हालाँकि अब भी मैं पूरी तरह निराश नहीं हुआ हूँ। शायद इन्हीं कठिनाइयों के बीच कोई रास्ता निकले।"

सोवियत विघटन ने आज भले ही निराशा का माहौल पैदा कर दिया हो लेकिन समाजवादी सपना आज भी उतना ही प्रासंगिक है बल्कि और बढ़ गया है। ऐसे में साहित्य ने आज भी उस सपने को जिन्दा रखा है। और इसका जिन्दा रहना ही जन प्रतिरोध की संस्कृति और समाजवादी नैतिकता के जिन्दा रहने का सबूत है क्योंकि सबसे खतरनाक होता है। हमारे सपनों का मर जाना। सपना मनुष्य को जगाता है, उद्वेलित करता है, बेचैन कर देता है। जब तक उसकी चेतना में सपना है, तब तक वह नये जीवन, नये समाज और मनुष्यता के लिए, सामाजिक समानता यानी समाजवाद के लिए लड़ता रहेगा और वह जब तक लड़ता रहेगा, तब तक मनुष्य को लूटने वालों, चूसने वालों और दबोचने वालों की नींद हराम होती रहेगी।[15]

सोवियत समाजवादी स्थापना ने समाजवादी मूल्यों और नैतिकता के साथ उस दौर के साहित्य को प्रभावित किया। 'तीस और चालीस के दशक का साहित्यिक आन्दोलन, जिसे हम प्रगतिशील लेखक संघ से जोड़ते हैं और एक हद तक भक्ति आन्दोलन (सिर्फ व्यापक अर्थ में) के बाद पहला सुविचारित तौर पर वृहत्तर भारतीय साहित्यिक आन्दोलन था, विभिन्न किस्म के प्रभावों के बिना अकल्पनीय होता है जिसमें न सिर्फ सीधा सोवियत प्रभाव शामिल है, बल्कि एक खगोलीय सांस्कृतिक मोर्चे का वृहत्तर प्रभाव भी, जो 1935 के बाद कमिंटर्न के फाँसीवाद विरोधी लोकप्रिय मोर्चे की ओर मुड़ने के नतीजे में अस्तित्व में आया था – (एजाज अहमद)[16]

इसमें सन्देह नहीं कि इस कम्यूनिस्ट विचारधारा से प्रेरित नये समाज के प्रति दुनिया भर के लोग, मेहनतकश किसान–मजदूर, बुद्धिजीवी, कलाकार आदि आकृष्ट

हुए थे। हमारे देश में भी इस दृष्टि का प्रभाव गहरा रहा। हमारे देश की लगभग सभी भाषाओं में लिखने वाले अनेक लेखक इस विचारधारा से प्रभावित और प्रेरित हुए। (भीष्म साहनी)[17]

समाजवादी व्यवस्था अकेले सोवियत रूस का सच नहीं था, सपना नहीं था बल्कि सारे संसार की शोषित, अपहृत जनता का सपना था। और उसकी तह में काम करने वाली मान्यताएँ भी संसार के सभी देशों के लिए संगत थीं। ये मान्यताएँ जनताओं के बीच ऊँच–नीच का विरोध करती थीं, जात–पात का विरोध करती थीं, समानता पर बल देती थीं, सांस्कृतिक स्तर पर भी किसी को बड़ा या किसी को छोटा नहीं मानती थीं, सभी भाषाओं का आदर करती थीं, जनतन्त्रात्मक पद्धति में विश्वास रखती थीं, हर प्रकार के शोषण का विरोध करती थीं। (भीष्म साहनी)[18]

"सर्वहारा साहित्य केवल सर्वहारा को ही विषय–वस्तु के रूप में नहीं चुनता, बल्कि सर्वहारा विश्व दृष्टि तो सारी दुनिया और उसके सम्पूर्ण अनुभव को अपने साहित्य की सामग्री मानती है।" (हावर्ड फास्ट)[19] 'इन लेखकों की वाणी में सोवियत संघ नहीं बोलता, शोषणमुक्त समाज की चाह बोलती है। यदि ये लेखक सोवियत संघ से जुड़ते थे तो इस आशा के साथ कि वह उस मूल अवधारणा को चरितार्थ करने का प्रयास रहा था। और उनकी आशाएँ–आकांक्षाएँ उसके उज्ज्वल भविष्य से जुड़ती थीं। यदि वह फेल कर गया तो न तो मार्क्सवाद फेल कर गया और न ही न्यायसंगत समाज की स्थापना की सम्भावना, और न ही उन हजारों–लाखों नर–नारी का बलिदान जिन्होंने इस व्यवस्था को साकार करने में अपने प्राणों की आहूति दी। उसके विघटन से न्याय संगत समाज की अवधारणा का विघटन नहीं हुआ। भले ही उसे सपना कह लो, अथवा एक प्रारूप जो अपने अन्तर्विरोधों तथा दुश्मनों के षड्यन्त्रों के कारण पनप नहीं पाया, फेल कर गया, परन्तु वह न्यायसंगत समाज की अवधारणा तो आज भी समाज से जुड़ने वाले, समाज में न्याय की प्रतिष्ठा चाहने वालों की नजर में संगत है, प्रेरणाप्रद है। (भीष्म साहनी)[20] बल्कि आज समाजवाद और साहित्य का सम्बन्ध एक चिरन्तन सत्य बन चुका है।

यह तर्कसंगत है, हर कोई इसे समझता है। यह आसान है।
तुम तो शोषक नहीं हो, तुम इसे समझ सकते हो।

यह तुम्हारे लिए अच्छा है, इसके बारे में जानो।
बेवकूफ इसे बेवकूफी कहते हैं, और गन्दे लोग इसे गन्दा कहते हैं।
यह गन्दगी के खिलाफ है और बेवकूफी के खिलाफ है।
शोषक इसे अपराध कहते हैं।
लेकिन हमें पता है :
यह उनके अपराध का अन्त है।
यह पागलपन नहीं
यह पागलपन का अन्त है।
यह पहेली नहीं है।
बल्कि उसका हल है।
यह वो आसान सी चीज है
जिसे हासिल करना मुश्किल है।[1]

(कसीदा कम्युनिज्म के लिए – बेर्टोल्ट ब्रेष्ट)

2.4 साम्राज्यवाद–पूँजीवाद

साम्राज्यवाद का सीधा अर्थ है कि एक राजनीतिक व्यवस्था पर दूसरी राजनीतिक व्यवस्था का आधिपत्य। साम्राज्यवाद की जो अवधारणा पूँजीवाद से विकसित हुई उसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को निर्णायक रूप से प्रभावित किया। मूलतः साम्राज्यवाद हमारे समय की आर्थिक एवं राजनीतिक प्रतिभाओं का प्रतिफल है जिसकी वजह से बीसवीं सदी में कम से कम दो विश्वयुद्ध लड़े जा चुके हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था अथवा बुर्जुआ व्यवस्था, एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें भूमिश्रम और उत्पाद बाजार, चीजें होती हैं और श्रमिकों का उत्पादन के साधनों पर न तो कोई मल्कियत होती है और न ही कोई नियन्त्रण। नतीजतन पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। इसमें वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन बाजार में विनिमय के लिहाज से किया जाता है ताकि लाभ कमाया जा सके। पूँजीवाद के अन्तर्गत उत्पादक पूँजी प्रमुख होती है अर्थात वह पूँजी जिसका श्रम बाजार में निवेश किया जाता है। श्रम वह है जिसे कोई श्रमिक पूँजी के बदले देता है, ताकि वह जीवित रह सके। इस तरह के श्रम फिर उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल कर नये लाभ के लिए नई वस्तुओं का

उत्पादन किया जाता है। इस तरह व्यापारी और वित्तधारकों (बैंक, सूदखोरों आदि) की पूँजी संचरित होकर नई वस्तुओं का उत्पादन करती है। इस व्यापारिक वित्तीय पूँजी का कार्य उत्पादक पूँजी जरूरतों पर निर्भर करता है और वहीं उनका नियन्त्रण भी करता है, इस तरह श्रम भी एक वस्तु बन गया है जिसे बाजार में खरीदा अथवा बेचा जा सकता है।

पूँजीवाद के विकास के लिए आवश्यक है कि उसका विस्तार होता रहे, नये बाजार बनते रहें। उपनिवेशवाद इसी का परिणाम था। पूँजीवादी साम्राज्यवाद की अभिप्रेरणा मूल रूप से आर्थिक रही है अर्थात उपनिवेशों के शोषण से आर्थिक लाभ अर्जित करना। द्वितीय विश्वयुद्ध (1945) के बाद उपनिवेश आधारित ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्थान लोकतन्त्र आधारित अमेरिकी साम्राज्यवाद ने ले लिया जिसे उन्होंने भूमण्डलीकरण का नाम दिया है और जो सोवियत पतन से सम्भव हो सका।

पूँजीवाद की इस कथित जीत और सोवियत–समाजवाद के पतन के आधार पर यह बात नहीं कही जा सकती कि साम्राज्यवाद अब कम शोषणकारी हो गया है। न ही, यह इन परिस्थितियों में पैदा होने वाले लोकतन्त्रों के लिए फायदेमंद है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I.L.O.), F.A.O., विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.), विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के अध्ययन से भी यह साबित होता है कि तीसरी दुनिया से बड़े पैमाने पर पूँजी का बहिर्गमन हो रहा है और वहाँ के लोगों के जीवन स्तर में गिरावट आयी है क्योंकि तीसरी दुनिया के देशों को असमान व्यापार की शर्तो से जोड़ दिया गया है। फिर ये देश बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं कर्ज के गिरफ्त में आ गये हैं।

भूमण्डलीकरण की यह प्रक्रिया बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में सामने आयी हो ऐसा नहीं है, बल्कि जब से पूँजीवाद का उदय हुआ तब से चल रही है। कार्लमार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में कहा था कि पूँजीवाद ने एक विश्व बाजार की स्थापना की है। साम्राज्यवाद का उद्भव और प्रसार विश्व बाजार का फैलाव करने और भूमण्डलीकरण का ही एक रूप था। वित्तीय पूँजीवाद भी नई चीज नहीं है। लेनिन ने 1905 में 'साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की सर्वोच्च अवस्था' नाम की किताब लिखी, उसी में वित्तीय पूँजी के विकास और उसकी भयानक भूमिका की चर्चा की गयी थी।[22]

पहले विश्वयुद्ध के बाद विश्व पूँजीवाद के विकास में अमेरिका का प्रभाव बढ़ता गया। दूसरे विश्व युद्ध के समय में वह और बढ़ा। अमेरिका की धरती पर कभी युद्ध नही हुआ। युद्ध से उसने लाभ ही उठाया है, नुकसान उसे नहीं झेलना पड़ा। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सूर्यास्त होने पर उसकी जगह अमेरिका ने ले ली।[23] पूँजीवाद का जो वर्चस्व बढ़ा उसकी वजह से अमेरिका ने सारे विकसित देशों को और उन पर निर्भर देशों को आर्थिक साम्राज्यवाद की चपेट में ले लिया जिसका शिकार भारत भी हुआ।[24]

2.5 शीतयुद्ध–काल

शीतयुद्ध का अर्थ यह है कि राष्ट्रों के बीच वास्तविक युद्ध के बगैर ही शत्रुता का बने रहना (अर्थात गैर–सैनिक शत्रुता)। यह अवधारणा ऐसे संघर्ष के लिए है जिसको राष्ट्रों या राज्यों द्वारा कुप्रचार, आर्थिक उपायों, राजनीतिक चालों, सांस्कृतिक हमलों आदि के माध्यम से अपनी सर्वोच्चता को स्थापित करने के लिए एक दूसरे को नष्ट करने की मंशा से चलाया जाता है।

शीतयुद्ध का उद्‌गम 1917 की उस रूसी क्रान्ति से माना जा सकता है, जिसने एक नयी व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था को एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था के रूप में जाना गया जो शोषणमूलक पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध करती थी। सम्पूर्ण पूँजीवादी विश्व भयभीत हो उठा तथा सोवियत संघ के नये राज्य को नष्ट करने के लिए एकजुट हो गया। ऐसा कर पाने में असफल होकर उन्होंने जर्मनी में नाजीशक्ति के उद्‌भव को प्रोत्साहित किया, जिससे इसका इस्तेमाल सोवियत संघ के विरुद्ध किया जा सके। सोवियत संघ ने नाजी जर्मनी के तीव्र उत्थान को रोकने के लिए पश्चिमी शक्तियों को सम्मिलित करने के गम्भीर प्रयास किये लेकिन पश्चिमी देशों ने इन प्रयासों पर कोई ध्यान नहीं दिया और अन्ततः नाजी जर्मनी भस्मासुर साबित हुआ तथा द्वितीय विश्व युद्ध का आरम्भ हुआ और सोवियत संघ की ही बदौलत मित्र–राष्ट्रों की जीत हुई। फिर भी, पूँजीवादी देशों ने सोवियत संघ को एक दुश्मन के रूप में ही प्रचारित किया जैसे आज शैतान धुरी के रूप में ईरान, इराक तथा उत्तर कोरिया को प्रचारित किया जा रहा है। क्योंकि पूँजीवाद जब फाँसीवाद में संक्रमित होता है तो एक दुश्मन की आवश्यकता होती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात शीतयुद्ध में और तेजी आयी, जब अमेरिकी परमाणु हमले (जापान में नागासाकी, हिरोशिमा)से सशंकित रूस ने 1949 में परमाणु क्षमता हासिल कर ली। एक तरफ नाटों का गठन हुआ तो दूसरी तरफ वार्सा पैक्ट का और विश्व दो ध्रुवों में बँट गया तथा तीसरे विश्व युद्ध का आसन्न संकट नाचने लगा। इसी के फलस्वरूप, भारत की अगुवायी में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की नींव पड़ी जो आज पूँजीवादी भूमण्डलीकरण की आँच से झुलस रहा है।

2.6 शीतयुद्ध और साहित्य

अमेरिकी पूँजीवाद ने शीतयुद्ध को सांस्कृतिक जामा भी पहनाया। यूनेस्को जैसी लोकतांत्रिक संस्थाओं एवं कल्चरल काँग्रेस की भूमिका इसमें महत्वपूर्ण रही। साहित्य में इलियट वादी हवा इसी की देन है, जिससे भारतीय साहित्य, विशेषकर 1940 से 1960 के बीच का साहित्य आक्रान्त रहा। ज्ञानरंजन, "समय, समाज और कहानी" में भाषा सम्बन्धी विचार करते हुए लिखते हैं, "नया साम्राज्यवाद (अमेरिकी पूँजीवाद) तलवार के बल पर नहीं है, वह सांस्कृतिक कूटनीति के साथ प्रवेश कर रहा है।"[25] वहीं मुक्तिबोध लिखते हैं, "शीतयुद्ध के प्रचार और प्रभाव के परिणामस्वरूप, हिन्दी में ऐसे विचारक–समीक्षक भी सामने आए जिन्होने न केवल प्रगतिवादी समीक्षकों की भूलों का फायदा उठाया वरन् वे साहित्य में ऐसी विचारधारा का विकास करने लगे, जिसका उद्देश्य लेखक को उस वास्तविक जीवन संघर्ष में प्राप्त जीवन मूल्यों से हटाकर, सम्पूर्ण व्यक्तिकेन्द्री बना देना था।"[26] मुक्तिबोध का संकेत कलावाद की तरफ है जिसकी पहचान प्रेमचन्द ने पहले ही कर ली थी। "कला नाम था और अब भी है संकुचित रूपपूजा का, शब्द–योजना का, भाव–निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है, – भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसी ऊँची कल्पनाएं है। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यहीं है। उसकी दृष्टि अभी व्यापक नहीं है कि जीवन–संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे।"[27]

चूँकि, पूँजीवादी पद्धति किन्हीं नैतिक या मानवीय मूल्यों द्वारा संचालित नहीं होती। वह इन मूल्यों को रौंदती हुई अपने स्वार्थ सिद्ध करती है।[28] शीतयुद्ध में पूँजीवाद का सांस्कृतिक स्वरूप इसी से परिचालित हो रहा था जो कभी लोकतन्त्र का

हामीदार बन बैठता था तो कभी मानवतावाद का, कभी यथार्थवाद का खयाली पुलाव[29] तैयार करता है तो कभी मिली–जुली संस्कृति की खिचड़ी।[30] जबकि, हकीकत यह है कि इसके द्वारा भ्रम फैलाया जाता है तथा आम जनता के लिए संघर्ष करने वाले लोगों में, लेखकों–बुद्धिजीवियों में निराशा और पस्ती फैलायी जाती है।[31] और शीतयुद्ध के दौरान पूँजीवाद समर्थकों का दल यहीं कर रहा था। मुक्तिबोध लिखते हैं, "उत्पीड़न, अरक्षा की स्थिति, और कष्ट सन्ताप तो बराबर बने ही हुए हैं। ऐसी स्थिति में उच्च अथवा सुरक्षित पदों पर बैठा हुआ समीक्षकों का एक दल बराबर इस प्रयत्न में रहता है कि लेखकों को वास्तविक जीवन संघर्ष के माध्यम से, वास्तविक प्रयत्न के माध्यम से प्राप्त होने वाले उच्च जीवन मूल्यों से हटाया जाये।"[32]

इसी दौरान आधुनिक भावबोध और व्यक्ति स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त जोर–शोर से प्रस्तुत किया गया। यह आधुनिक भावबोध क्या था? अनाशा और दुःख भावना का, ग्लानि और विरक्ति का, अगतिकता का।[33] उसमें वास्तविक जीवन संघर्ष–ऐसा जीवन संघर्ष, जो संगठित होकर संगठित विरोधियों से, शोषकों और उत्पीड़कों से टकराता है, उसका कहीं भी स्थान नहीं है।[34] जबकि पूँजीवादी व्यक्ति स्वातन्त्र्य, विचारों की स्वतन्त्रता नहीं थी, बल्कि औद्योगिक क्रांति के बाद व्यक्ति की अपार व्यावसायिक क्षमता और स्पर्द्धा की स्वतन्त्रता थी।[35] स्पष्ट है कि मुनाफाखोरों और उत्पीड़कों के व्यक्ति स्वातन्त्र्य का लक्ष्य और जनता के व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लक्ष्य में अन्तर है, अन्तर ही नहीं विरोधाभाव है बल्कि विपरीत दिशाएं भी हैं।[36] यह स्वतन्त्रता और आधुनिक भावबोध 'कला का सौन्दर्य सत्य को कई जगह देखने' का उपक्रम करने में है।[37] जो रूपवाद एवं व्यक्तिवाद की सृष्टि करता है और इसका प्रभाव नई कहानी आन्दोलन पर भी पड़ा जो प्रयोगवादी कविता का गद्यानुकरण था। जो क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति[38] की धमक से बच नहीं सका था।

लेकिन दूसरी तरफ जन सामान्य की भाव–भूमि से उठी जनवादी यथार्थ वाद की परम्परा भी बढ़ रही थी जिसमें भीष्म साहनी, अमरकान्त, मार्कण्डेय, शेखर जोशी का योगदान उल्लेखनीय था और जो व्यास–बाल्मीकि, स्वयंभू, सूर–तुलसी, कबीर से होता हुआ भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त, गुलेरी, प्रेमचन्द, यशपाल के यहाँ समृद्ध हो चुका

था यहाँ तक कि बुर्जुआ भावधारा को लेकर चले प्रसाद, जैनेन्द्र और अज्ञेय भी उससे नहीं बच पाए।

डा० राम विलास शर्मा लिखते हैं "आज दूसरे महायुद्ध के बाद, विश्व शांति की ताकतों के अनुपम बटोर के समय और भारत में जनवादी आन्दोलन के शक्तिशाली उभार के दिनों में यथार्थवाद की यह धारा और भी प्रबल वेग से बढ़ रही है। यह सबब है कि प्रगति विरोधी लेखक पहले से ज्यादा बौखला रहे हैं, वह क्रोध में बदहवास होकर अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं, कोई योग और अध्यात्मवाद की दुहाई दे रहा है, तो कोई फ्रायड और कामशास्त्र का सहारा-ले रहे हैं, कोई अमेरिकी 'व्यक्ति की स्वाधीनता' का नारा लगा रहा है तो कोई 'कला—कला के लिए' की रट लगाकर साहित्य की गति रोक लेना चाहता है। लेकिन भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला की राष्ट्रीय और जनवादी परम्परा दिनों दिन शक्तिशाली होती हुई आगे बढ़ती ही जाती है।"[39] रामविलास शर्मा जी की यह उक्ति शीतयुद्ध की समाप्ति, सोवियत विघटन और उदारीकरण तथा भूमण्डलीकरण के दौर में और प्रासंगिक, और जरूरी हो उठी है जबकि, 'यथार्थ के विरूद्ध अमूर्त चिंतन और अस्पष्टता, समाज और साहित्य दोनों में लोकप्रिय हो रही है'[40] इतिहास[41] और आलोचना[42] के अन्त की बातें उठ रही हैं तथा क्षणवाद[43] रूपवाद,[44] संरचनावाद[45] का नारा पुनः लगाया जाने लगा है।

यदि हम स्वाधीनता के बाद के भारतीय समाज और अन्य संगठनात्मक संस्थाओं के कदम तथा विकास की प्रक्रिया को देखें तो कई बातें अपने आप स्पष्ट हो जाती हैं कि इस अस्मितावादी विमर्श का अर्थ क्या है एवं क्यों इसके उदय के साथ ही विचार अथवा सिद्धान्त के अन्त की घोषणाएं की जाने लगी हैं? उस पर विडम्बना यह है कि वे प्रतिबद्ध लेखक और आलोचक भी इस प्रकार की घोषणाएँ करने लगे हैं जिन्होंने एक समय रचना में अनुभव के समानान्तर (प्रगतिशील) विचारधारा अथवा सामाजिक प्रतिबद्धता की माँग की थी। दुर्भाग्य से ये सारी घोषणाएं और घटनाएं उस समय होनी शुरू होती हैं जब राजनीति में क्षेत्रीय दलों का उदय होता है, समाज में हाशिए की जिन्दगी व्यतीत कर रही जनजातियाँ, प्रजातियाँ और जातियाँ अपनी पहचान के सवाल को लेकर उठ खड़ी होती हैं, बाजार की दुनिया में उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया शुरू होती है, संस्कृति के क्षेत्र में धार्मिक मिथकों को लेकर समाज को अनेक

हिस्सों में बाँटने की राजनीतिक कोशिशें होने लगती .हैं और साहित्य इन सबका एक व्यापक विमर्श बनकर लेखकों, विचारकों और पाठकों को प्रभावित करने लगता है।[46]

उन्हें लगता है कि रूपवाद अथवा संरचनावाद दुनिया के समस्त प्रतीकों, चिन्हों, निर्मितियों आदि को स्पष्ट कर देगा। कारण, ये सब अमूर्त तरीके से मानसिक संरचनाओं को प्रभावित करते हैं। पर क्या यह अमूर्त वास्तविक जीवन को संचालित करने वाली मौलिक वास्तविकताओं एवं उनको पाने के लिए किए जा रहे संघर्ष में लक्ष्यों को पा सकेगी जो जन समाज के जीने के लिए जरूरी है? क्या यह कहना सत्य नहीं होगा कि अमूर्तता के सहारे एक ऐसा प्रभावशाली यथार्थ रचा जा रहा है जो आने वाले समाज को वास्तविकता की एक बड़ी दुनिया से दूर , एक ऐसी छोटी मायावी दुनिया में लेकर जा रहा है जिसे वैज्ञानिक तरीके से रचा गया है तथा जहाँ जिन्दगी का अर्थ कुछ–कुछ हासिल करना ही है। चाहे उसकी कीमत एक बहुत बड़े संघर्षशील समाज की जिन्दगी की कीमत एवं उसके सिद्धान्त क्यों न हों? क्या यह सच नहीं है कि हमने हाल के वर्षों में कुछ ऐसी सचाइयों से मुँह मोड़े रखा है जो सुविधाभोगी संसाधनों के नाम पर प्रगतिशीलता का एक नया पैमाना गढ़ रहे हैं, चाहे वह साहित्य हो या समाज, राजनीति हो या अर्थशास्त्र। क्या यह भी सच नहीं है कि जिस गरीबी के अर्थशास्त्र और मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति और संघर्षशील समाज के स्तर को ऊँचा उठाने की बात भारतीय समाज में होती रही है, वह गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से मध्यवर्गीय पूँजीवाद को बढ़ावा देने का सबसे बड़ा मंच बन गया है?[47] हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की परम्परा 1990 के बाद के दशक में यदि सशक्त ढंग से उभरी है तो उसके पीछे आम आदमी के संघर्ष की भावना ही है जिसने हमारे देश के साहित्य को सदैव से प्रभावित किया है। पूँजीवाद की तथाकथित जीत और शीतयुद्ध की समाप्ति से न तो प्रतिरोध की संस्कृति गायब हुई है और न ही यथार्थवाद की परम्परा क्योंकि सत्ता में बैठे मुट्ठी भर लोगों से इतिहास नहीं बना करता और न ही उसका अन्त होता है।

2.7 तीसरी दुनिया का उद्भव

तीसरी दुनिया का उद्भव उस दौर की एक महत्वपूर्ण घटना थी क्योंकि यह तमाम राष्ट्रीयताओं और संस्कृतियों की, सदियों की दासता से मुक्ति की सॉस थी। आज हम जिसे तीसरी दुनिया के नाम से जानते हैं, वह साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों की बदौलत ही अस्तित्व में आयी क्योंकि इन संघर्षों से ही गैर उप निवेशीकरण की प्रक्रिया भी शुरू हुई थी, फिर भी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों व राष्ट्रीय आन्दोलनों का स्वरूप अलग–अलग देशों में अलग–अलग था। बहुत हद तक यह उस देश की विशेषताओं व उसके विकास के स्तर पर निर्भर करता था जो उसने उपनिवेशवादी नीतियों के तहत प्राप्त किया था। सही है कि उपनिवेश विरोधी आन्दोलनों ने तीसरी दुनिया के लोगों को उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त कराया, फिर भी यहाँ के लोग अनिवार्य रूप से अपने समाज के अन्तर्विरोधों व अपने ही लोगों के दमन से मुक्त न हो सके। मार्कण्डेय की कहानियाँ विशेष रूप से इसका एक पक्ष भारतीय सन्दर्भ में प्रस्तुत करती हैं।

तीसरी दुनिया के राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना एवं आर्थिक आधारों में चाहे जो भी अन्तर हो, उनमें एक बात आम है कि वे आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं तथा अपने विकास के लिए विकसित दुनिया की पूँजी व प्रौद्योगिकी पर निर्भर हैं। जिनमें एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका के अल्प विकसित देश हैं जो औपनिवेशिक आधिपत्य में रहे थे।

2.8 कुछ अवधारणाएँ [98]

(I) राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद वह भावना है जो लोगों को एक साथ जोड़ती है। यह लोगों को अपनी आजादी तथा अपने राज्य के हितों की रक्षा के लिए, लड़ने के लिए प्रेरित करती है। एक साझा जज्बा, साझी इच्छा–शक्ति, तथा उस स्थिति जन्य भावना का नाम है, जो लोगों को एक सूत्र में करती है। आर्नेस्ट बार्कर इसकी सटीक परिभाषा देता है, "राष्ट्र व्यक्तियों का ऐसा समुदाय होता है, जो एक निश्चित क्षेत्र में निवास करते हैं और जो सामान्यतया विविध नस्लों से मिलकर बने होते हैं किन्तु जो अपने साझे इतिहास के दौरान साझे विचार और साझी भावना को अंगीकार कर लेते हैं।"

बार्कर ने साझे धार्मिक विश्वास तथा साझी भाषा को-जुड़ाव का तत्व माना है। लेकिन राष्ट्रवाद कभी–कभी हमारे नैतिक विश्वासों पर हावी हो जाता है और राष्ट्रीयता का पर्याय बन जाता है, जैसा कि कार्लटन जे0एच0 हेमेस लिखता है, "आज के सभ्य समाज की सोच एवं क्रिया कलापों में राष्ट्रवाद इस तरह घुल मिल गया है कि हम अक्सर राष्ट्रीयवाद को अपनी बपौती मान बैठते हैं।"

(II) फाँसीवाद

फाँसीवाद लैटिन शब्द फासियों से बना है जिसका अर्थ होता है "लाठियों का गट्ठर" पुराने रोम में "लाठियों ओर कुल्हाड़ियों के गट्ठर" को राज्य–सत्ता का प्रतीक माना जाता था। जो एकता और शक्ति का प्रतीक था। इस प्रकार फाँसीवाद का स्पष्ट लक्ष्य सैन्यशक्ति एवं क्षमता का इस्तेमाल कर राष्ट्र की खोई हुई गरिमा एवं मर्यादा को पुनः स्थापित करना था। राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में फाँसीवाद मुसोलिनी के कृत्यों से जुड़ा है।

फाँसीवाद कोई विचार न होकर मूल रूप से एक कार्ययोजना थी, जिसका कारण प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इटली और जर्मनी पर लादी गयी कुछ अपमान जनक शर्तें थीं। फिर भी फाँसीवाद अपने दृष्टिकोण में सर्वसत्तावादी है। कहने की जरूरत नहीं कि यह लोकतन्त्र, समाजवाद एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के विरूद्ध खड़ा है। यह आक्रामक राष्ट्रवाद एवं युद्ध का समर्थक तथा संसदीय लोकतन्त्र, समाजवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के खिलाफ होता है। फाँसीवाद एक राष्ट्र, एक पार्टी एवं एक नेता के सिद्धान्त में विश्वास करता है।

(III) क्रान्ति

यह सामाजिक परिवर्तन की ऐसी अवधारणा है जो पूरी व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन की सूचना देती है। यह अक्सर हिंसक होती है, किन्तु जरूरी नहीं कि सदैव बल का प्रयोग करना पड़े। क्रान्ति समाज के मूल्य–बोधों एवं मिथकों में व्यापक परिवर्तन लाती है। फ्रांसीसी विद्वान मैनियर कहता है कि, "क्रान्ति से हमारा आशय उन दूरगामी परिवर्तनों के समुच्चय से है जो समाज की वास्तविक बीमारियों की निदान की दृष्टि से पैदा होता है। ये बीमारियाँ ऐसी होती हैं जिनका कोई निदान मौजूदा व्यवस्था में सम्भव नहीं दिखता है।" अन्ततः क्या होता है यहीं देखने की चीज होती है न, कि यह, कि क्रान्ति के बारे में हमारी भाषा कितनी भावुक है अथवा

संयमित, यानि कि साध्य महत्वपूर्ण है न कि साधन। मैनियर आगे लिखता है, यह जानना बिलकुल उचित है कि यह शल्य क्रिया गम्भीर किन्तु समाज–जीवन के लिए महत्वपूर्ण होता है और इसीलिए हिंसक प्रतिरोध से सामना होना तय है, और यह स्थिति प्रतिहिंसा को जन्म देती है।

वास्तव में क्रान्ति, एक युग से दूसरे युग में संक्रमण का नाम है इसके अतिरिक्त एक समूह से दूसरे समूह में हस्तान्तरित होती है– कानूनी तरीके से या हिंसक तरीके से, किन्तु क्रांति की मार्क्सवादी विवेचना वर्गीय आधिपत्य में आये बदलाव पर ही जोर देती है।

2.9 परिवेश

"प्रश्न यथार्थ–खण्ड के नये–नये पहलुओं को उभारने का ही नहीं है, बल्कि उस यथार्थ–खण्ड को घेरने वाले व्यापक परिवेश की ओर संकेत करने का भी है।" – नामवर सिंह[49]

जाहिर है घेरने वाला यह व्यापक परिवेश सामाजिक–आर्थिक तो होगा ही, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक भी होगा। और यह घेराव जितना तीव्र होगा रचनाकार का दाइत्व उतना ही बड़ा होगा। ऐसा भी नहीं है कि हमारा साहित्य इसको लेने से कतराता रहा हो, उसने दाइत्व ही नहीं लिया बल्कि सत्ता के बरख्स आम आदमी को वाणी दी और सशक्त प्रतिपक्ष की भूमिका भी निभाई। बाल्मीकि, स्वयम्भू से लेकर पूरा भक्ति आन्दोलन इसका गवाह है और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों से जुड़े लेखकों ने उसे इतना मजबूत कर दिया कि आज वह तमाम मुश्किलों और झंझावातों से भी नहीं छीजता।

भारत ने लम्बे संघर्ष के बाद आजादी प्राप्त की थी, जिसमें उसने मूल्यों और आदर्शों को भी विकसित किया था, जो स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारे और न्याय का था और भारतीय संविधान ने जिसे स्वीकार भी किया लेकिन बावजूद इसके आजादी अधूरी ही रही क्योंकि आजादी मात्र राजनीतिक सत्ता के हस्तान्तरण से आगे की और उससे काफी कुछ भिन्न तरह की चीज थी। राजनीतिक सत्ता और राजनीतिक शक्ति में बदलाव के अलावा वह सामाजिक बराबरी और आर्थिक गैर बराबरी से मुक्ति का नाम भी थी तथा सामाजिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव का भी।[50] लेकिन वह परिवर्तन तो

यहाँ हुआ ही नहीं, रातो–रात निष्ठाएँ बदल गयीं।[51] और साम्राज्यवादी–पूँजीवाद से कन्धा मिलाकर चलने वाले सामन्ती अवशेष समाजवाद का नारा लगाकर सत्ता में बैठ गये यहाँ तक कि तमाम पूँजीवादी भी समाजवादी हो गये। समान्तवाद के ध्वंश पर खड़ा पूंजीवाद भारत में उसी के साथ खड़ा था और पूंजीवाद के ध्वंश पर खड़ा समाजवाद हाशिए पर चला गया। घेरने वाला व्यापक परिवेश इसी से निर्मित हो रहा था।

2.10 राजनीतिक स्थिति

स्वतन्त्रता के पश्चात भारत में मध्यवर्गी बुर्जुआ एवं सामन्ती तत्वों के नेतृत्व में उदार लोकतन्त्र की स्थापना हुई जिसका नेतृत्व तथाकथित समाजवादी पं0 जवाहरलाल नेहरू जी कर रहे थे एवं इसे भारत में सच्चे जनवाद की स्थापना का नाम दिया गया। 1952 में पहले आम चुनाव सम्पन्न हुए। इससे पहले राष्ट्र के निर्माण का कार्य 1950 तक पूरा हो चुका था अर्थात देशी रियाशतों का विलय करके एवं किसान आन्दोलनों का दमन करके (तेलंगाना का किसान आन्दोलन) यह समाजवाद का सपना लेकर स्वतन्त्र हुए देश का सामन्तवाद के सामने पहला समर्पण था।

1952 के बाद दो और आम–चुनाव 1957 और 1962 नेहरू जी के समय में हुए। इन दोनों चुनावों में काँग्रेस को भारी विजय प्राप्त हुई और न तो दक्षिण पन्थ और न ही वामपंथ इसे किसी प्रकार की चुनौती दे सके। परन्तु दोनों ने ही कांग्रेस शासित राज्यों में अपना मार्ग प्रशस्त किया। 1957 में कम्यूनिस्ट केरल राज्य में सरकार बनाने में सफल रहे जो जनवादी रूप से चुनी गयी दुनिया की पहली कम्यूनिस्ट सरकार थी।[54]

जिन आदर्शों को लेकर भारत ने स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी अर्थात स्वतन्त्रता और समानता की वह हाशिए पर चला गया। यहाँ तक कि नेहरू जी का वादा भी और सतत संघर्ष भी जो उन्होनें स्वतन्त्रता की रात के संविधान सभा के सामने ऐतिहासिक भाषण में किया था, ''बरसों पहले हमने नियति के साथ एक करार किया था और अब वह समय आ गया है जब हम अपना वादा पूरा करेंगे......आधी रात ठीक बारह के घंटे के साथ, जब दुनिया सोती है भारत जिन्दगी और आजादी के लिए जागेगा। कभी ऐसे पल भी आते हैं, हालांकि पूरे इतिहास में बहुत ही कम बार आते है,

जब हम पुराने युग से नये में कदम रखते हैं, जब एक युग समाप्त हो जाता है, और जब एक राष्ट्र की लम्बे समय से कुचली हुई आत्मा अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। उचित यह है कि इस शुभ अवसर पर भारत, उसकी जनता और सम्पूर्ण मानवता की सेवा में समर्पित होने की हम कसम खाएँ.....आज दुर्भाग्य के एक युग का हमने अन्त कर दिया है और भारत ने फिर से अपनी पहचान हासिल की है।

आज हम जिस उपलब्धि की खुशियाँ मना रहे हैं वह सिर्फ एक कदम है, सिर्फ एक अवसर की प्राप्ति है जो हमें और भी महान विजयों एवं उपलब्धियों तक ले जाएगा.....भविष्य कोई आराम देह नहीं, बल्कि सतत संघर्ष का होगा, ताकि हम उस वादा को पूरा कर सकें जिसे हमने अकसर दुहराया है।"[55] अर्थात राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में विकसित लोकतान्त्रिक एवं समाजवादी मूल्य। लेकिन, न तो यह वादा ही पूरा हुआ और न ही वह मूल्य। यहाँ तक, कि भारत की अधिसंख्य आबादी ने आजादी का मतलब ही नहीं जाना। इससे उन लोगों में मोहभंग[56] की स्थिति उत्पन्न हुई जिन्होंने इन्हीं मूल्यों एवं आदर्शों के लिए संघर्ष में अपना सब कुछ आहूत कर दिया था। क्योंकि आजादी के बाद देश में अजीब घटनाएं घट रही थीं। बहुत से सामन्ती लोगों ने आजादी के आन्दोलन में भाग लिया था, किन्तु जो सर्वाधिक शक्तिशाली थे, वे विरोधी बने रहे। अब वे तथा अन्य किस्म के सम्पन्न बाहुबली भी तेजी से राजनीति की तरफ सक्रिय हो गये। नये सत्ताधारियों तथा अन्य आकांक्षियों को उनकी सख्त जरूरत भी थी।[57]

जाहिर है लोकतन्त्र की बागडोर जल्द ही ऐसे लोगों के हाथों में चली गयी जिन्होनें राजनीति के उन आदर्शों और मूल्यों को उलट कर रख दिया जिनके लिए भारत ने न जाने कितनी कुर्बानियाँ दी थी। रघुवीर सहाय की एक कविता "अधिनायक" इसका एक गहन मार्मिक पक्ष उपस्थित करता है–

> *"राष्ट्रगीत में भला कौन वह*
> *भारत भाग्य विधाता है*
> *फटा सुथन्ना पहने जिसका*
> *गुन हर चरना गाता है*
> *कौन–कौन वह जन–गण–मन*

अधिनायक वह महाबली
डरा हुआ मन बेमन जिसका
बाजा रोज बजाता है"।

वहीं नागार्जुन की एक कविता भी द्रष्टव्य है— .

दो हजार मन गेहूँ आया, दस गावों के नाम
राधे चक्कर लगा काटने, सुबह हो गयी शाम
सौदा पटा बड़ी मुश्किल से, पिघले नेता राम
पूजा पाकर साध गये चुप्पी हाकिम—हुक्काम
भारत—सेवक जी को था अपनी सेवा से काम
खुला चोर बाजार, बढ़ा चोकर—चूनी का दाम
भीतर झुरा गयी ठठरी, बाहर झुलसी चाम
भूखी जनता की खातिर आजादी हुई हराम।।

— नया तरीका —

अर्थात् साहित्य ने आगे बढ़कर अपनी उस भूमिका की पहचान की जो जंगे—ए—आजादी के दौरान इस देश के संघर्षशील, कर्णधारों ने निभायी थी। बतौर अमरकान्त, "मैं अपने को पत्रकार से अधिक साहित्यकार समझकर खुश था, जिसके कारण अनेक थे। एक तो यही कि मैं साहित्य के माध्यम से अपने देश और समाज से जुड़ सकता था जिसके लिए कुछ करने का स्वप्न स्वतन्त्रता के पूर्व सक्रिय राजनीति में भाग लेते समय देखा था। ......साहित्य ने मुझे अब यह भी स्वतन्त्रता दे दी थी कि जब पार्टी और राजनीति महत्वहीन होकर नासमझी और भ्रष्टता का रास्ता अपना लें तो मैं उससे ऊपर उठकर या अलग होकर अपनी प्रतिबद्धता को खण्डित होने न दूँ। राजनीति से निराश हो गया था आजादी के बाद जल्दी ही, और साहित्य ने मुझे जगह दे दी।"[58]

2.11 गाँधीवाद

यह वह दर्शन था जिसने आजादी की लड़ाई को सर्वाधिक प्रभावित किया था। यद्यपि कि दर्शन के रूप में यह सिर्फ गान्धी तक ही सीमित रहा लेकिन उसने गान्धी का ऐसा आभा मण्डल विकसित किया जिसकी तरफ धर्म से अनुप्राणित सामान्य जन

सहज ही आकर्षित हो गया। लेकिन यह एक ऐसी आध्यात्मिक कुंजी थी जिससे भौतिक जीवन संघर्षों का कोई भी ताला नहीं खुलता था जिसका नतीजा यह हुआ कि स्वतन्त्रता के बाद उनकी नीतियों को सबसे पहले उनके अपने कांग्रेस ने ही तिलांजलि दे दी। जिसके लिए 1920 के पश्चात का उनका सारा जीवन समर्पित हुआ था। लेकिन कांग्रेस ने सर्वसाधारण के लिए गान्धीवादी मुखौटा नहीं उतारा था।

"गान्धी जी ने देश की स्वतन्त्रता के संघर्ष का नेतृत्व करते हुए स्वतन्त्रता के जिस रूप को आदर्श माना था, उससे देश के सर्वसाधारण जीवन के अवसर की स्वतन्त्रता नहीं पा सके। हमारे देश के शासन की बागडोर जिन लोगों के हाथ में है, वे आज गान्धी की ही दुहाई दे रहे हैं। विडम्बना यह है कि देश का शासक वर्ग गान्धीवाद को न तो शासन की नीति के रूप में और न अपने जीवन के आदर्शों के रूप में व्यावहारिक मानता है। यह वर्ग गाँधीवाद का उपदेश देश के साधन हीन सर्वसाधारण के लिए ही उपयोगी समझता है"।[59]

वस्तुतः गाँधीवाद से मोहभंग, काँग्रेस की नीतियों से मोहभंग था[60] क्योंकि गाँधीवाद कांग्रेस द्वारा ही पैदा किया गया वैसा ही मुखौटा था जैसा कि समाजवाद।[61] गाँधी जी के ही शब्दों में, "गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, न मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड़ जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नहीं है कि मैंने किसी नये तत्व या सिद्धान्त का अविष्कार किया है। मैंने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य है, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नों पर अपने ढंग से उतारने का प्रयास मात्र किया है। मुझे दुनिया को कोई चीज नहीं सिखानी है। सत्य और अहिसा अनादिकाल से चले आए हैं।" ('हरिजन बन्धु' 29–3–1936)[62]

फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि गान्धीजी के शाश्वत सत्य सम्बन्धी सिद्धान्तों ने एक ऐसे रहस्य मण्डल एवं आध्यात्मिकता[63] की रचना की जिसमें जनमानस को एक जुट करने की क्षमता तो मौजूद थी लेकिन भौतिक समस्याओं के समाधान की विधि नदारद थी। "गान्धी की ताकत भारतीयों में धार्मिक भाव प्रवणता पर आधारित थी, न कि उनके राजनैतिक विवेक पर।"[64] गान्धीवाद से एक मोहभंग यह भी था जो कि प्रेमचन्द के यहाँ मिलता है कि गान्धीवाद राजनैतिक और सामाजिक–आर्थिक समस्याओं का कोई भौतिक समाधान नहीं प्रस्तुत करता था।

गाँधी जी की जो बातें जनता ने स्वीकार की वे थीं – देश की आजादी की बातें, किसान की आजादी की बातें, सामाजिक ऊँच–नींच के खिलाफ बराबरी की बातें । लेकिन उनके एंटी–इंडस्ट्रियल यूटोपिया[65] को कभी क़िसी ने स्वीकार नहीं किया। क्या कभी ऐसा हुआ कि करोड़ो के इस देश में एक हजार मजदूर भी बड़े उद्योगों में काम करना छोड़ गाँधीजी के आश्रम में जाकर बैठ गये हों? उद्योगों को न तो मजदूरों ने छोड़ा, न उद्योग पतियों ने। इसी तरह किसी जागीरदार ने अपनी जागीर नहीं छोड़ी। भारत की जनता आश्रमों में साधु–सन्तों की तरह रहना नहीं चाहती।[66]

अज्ञेयजी, जैनेन्द्र के नाम एक पत्र में लिखते हैं, "मेरा लेख गान्धी से ज्यादा गान्धीवाद से सम्बन्धित है, क्योंकि हम व्यक्ति गान्धी को कोई राजनैतिक महत्व नहीं देते। हमारे लिए वे मूलतः सामाजिक प्रतिक्रिया के प्रतिफल हैं। हम उन्हें किसी सामाजिक सत्ता के नेता के रूप में नहीं मानते बल्कि ऐसा व्यक्ति मानते हैं जो सामाजिक सत्ता का अनुगामी है। अगर उनके राजनैतिक दर्शन के प्रति असहानुभूतिपरक रूख है तो इसलिए कि उनका कोई राजनैतिक दर्शन नहीं है जिसे कोई नाम भी दिया जा सके।......लेकिन एक सामाजिक–राजनैतिक हस्ती के रूप में गान्धी का आकलन होना चाहिए और यह आकलन वर्ग के नजरिये से होना चाहिए"।[67]

आगे वे लिखते हैं, "राजनैतिक सिद्धान्त का आकलन खुद उसकी विशेषताओं के आधार पर किया जाता है, उसके प्रणेता की विशेषताओं के आधार पर नहीं। इसलिए मैं गान्धी की व्यक्तिगत महानता के स्वीकार की छूट तो देता हूँ लेकिन उनके सिद्धान्तों की परवाह नहीं करूंगा, व्यक्ति के रूप में वे कुटिल नहीं हैं पर उनका विचार अनर्थकारी है, उनके सिद्धान्त कुटिल है–भले ही ऐसा जानबूझकर न हो।"[68] इतना ही नहीं सामाजिक न्याय का उनका सिद्धान्त भी भौतिक परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता था। क्योंकि वे प्रकारान्तर से उस वर्णव्यवस्था की वकालत करते हैं जो सामन्ती विशेषता है। गान्धीवाद वर्णाश्रम धर्म को संसार के कल्याण का उपाय बताता है और उसका परिचय इस प्रकार देता है– "वर्ण अर्थात धन्धा। वर्ण धर्म के सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं, जो मनुष्य जिस कुटुम्ब में पैदा हो उसका धन्धा, यदि वह नीति विरूद्ध न हो तो, धर्म भावना से करे, और ऐसा करते हुए जो

अर्थ प्राप्ति हो उसमें से सामान्य आजीविका भर को रख कर शेष को सार्वजनिक कल्याण में लगावे।

वर्ण का यह धर्म है, अधिकार नहीं। मतलब इसका यह है कि हरेक वर्ण को चाहिए कि अपने–अपने कर्म को धर्म समझकर पालन करे। उदर पोषण यह उसका यत्किंचित फल है। वह मिले या न मिले तो भी समझदार को अपने धर्म में रत रहना चाहिए।" (गान्धी विचार दोहन, दिसम्बर 1944 संस्करण प्र. 24)[69] यहाँ भी वे मुख्य रूप से आध्यात्मिक समाधान रखते ही दिखाई देते हैं जो सामाधान हमारे प्राचीन विधि–धर्मग्रन्थों में मिलता है।वस्तुतः यहाँ भी गान्धीजी सामन्तवादी युग की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की ही पुष्टि करते हैं[70] जैसा कि राजनैतिक तौर पर। अज्ञेयजी उसी पत्र में लिखते हैं "मैं निश्चित रूप से यह नहीं मानूँगा कि गांधी की राजनीति को कोई दैवी मान्यता प्राप्त है। मैं सिर्फ इतना मानता हूँ कि गाँधी की राजनीति आध्यात्मिक धरातल पर हमारे पिछले 2000 वर्षों के विकास से प्रभावित है। यह केवल गान्धी का सद्‌गुण नहीं है, यह इस देश का दुर्भाग्य है। जैसा कि मुझे लगता है, गाँधी की राजनीति उस अति आध्यात्मिक संस्कृति के पतन और विघटन की प्रक्रिया की स्वाभाविक निष्पत्ति है जिस संस्कृति को भारत ने हजारों वर्षों से संजोए रखा है। इसी तरह गान्धी स्वयं भारत की सामन्ती सभ्यता के पतन के स्वाभावकि प्रतिफल हैं। राजनैतिक तौर पर वे बहुत पीछे हैं।"[71]

एक उल्लेख–योग्य तथ्य यह भी है कि गान्धी जी ने जो बातें बाहर से लीं अर्थात रस्किन, एमर्सन, थोरो, टाल्सटाय[72] आदि से, वह भी अपनी उसी रूचि की अनुकूलता से ही ली। इसलिए गान्धी जी वहीं भूमिका निभा रहे थे जो कभी पुरोहितवाद और सामन्तवाद ने निभायी थी। याद दिलाना आवश्यक है कि भारतीय इतिहास की प्रत्येक परिवर्तनशील और विद्रोही शक्तियों को इसी आध्यात्मवाद के सहारे हाशिए पर धकेला गया। चाहे, वह बुद्धकालीन एवं मौर्योत्तर कालीन परिवर्तनशील शक्तियाँ रही हों या फिर गुप्तकालीन शूद्र एवं गुप्तोत्तरकालीन कृषक विद्रोह रहे हों। कभी उपनिषद, तो कभी वैष्णव भक्ति ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभायी वहीं, स्मृतियों एवं पुराणों का योगदान भी कम नहीं रहा था।[73]

इस तरह, स्वतन्त्रता के बाद का जो गान्धीवाद था, वह कुछ कल्याणकारी कार्यक्रमों यथा, ग्राम–स्वराज्य एवं कृषि–हितों, परस्पर सहयोग एवं सहभागिता से

विकास कार्य को दिशा देना एवं समानता की, स्वतन्त्रता की बात का था जिससे कांग्रेस सरकार दूर होती गयी। और इसके पीछे कारण था मध्यवर्गीय पूँजीवाद का बढ़ता वर्चस्व एवं नव सामन्तवादियों का प्रवेश। काँग्रेस अब उस गान्धीवाद का मुखौटा लेकर चल रही थी। तत्कालीन समय में गान्धीवादी मोहभंग इसी से जुड़ा हुआ था, जिससे साहित्य सर्वाधिक प्रभावित था। मार्कण्डेय और शिवप्रसाद, दोनों की कहानियों में यह झलकता है।

2.12 आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में आर्थिक–सामाजिक समानता की माँग अन्तिम चरणों में जोर–शोर से उठ चुकी थी। ट्रेड यूनियनों का उदय हो चुका था तो वहीं नाई–धोबी बन्द आन्दोलन एवं संगठित किसान आन्दोलनों की भूमिका भी महत्वपूर्ण हो चुकी थी। और इनका बराबर का योग आजादी की लडाई में रहा लेकिन स्वतन्त्रता बाद नेतृत्व मध्यवर्गीय बुर्जुआ और नव सामन्तों के हाथों में जाता रहा। नतीजा यह हुआ कि जो लक्ष्य लेकर ये आन्दोलन चले थे, वे पूरे न हो सके। मुक्तिकामी परिवर्तनशील ये शक्तियाँ स्वतन्त्रता के बाद या तो हाशिए पर पड़ गयीं या फिर पद–लाभ लेकर समझौते की तरफ मुड़ गयीं एवं ट्रेड यूनियन धीरे–धीरे व्यवसाय बन गया।[74] वहीं नेहरू मॉडल का जो विकास हुआ उसमें संरक्षणवादी नीतियों के तहत एक बहुत बड़ा पूँजीपति वर्ग पैदा हुआ, जिसके अपने पास बहुत पूँजी थी। और एक बहुत पढ़ा–लिखा और तकनीकि दक्षता वाला मध्यम वर्ग पैदा हुआ।[75] जिसने पारिवारिक एवं वैयक्तिक गतिशीलता को तो बढ़ावा दिया लेकिन जातीय गतिशीलता को मन्द कर दिया।[76] परिणाम यह हुआ कि वर्गीय चेतना जैसी बातें गप्प भर होकर रह गयीं और संरचना मूलक किसी भी परिवर्तन की बात बेमानी होने लगी।

2.12.1 योजना और औद्योगिकीकरण

1938 में, जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना समिति ने विचार प्रकट किया :

"गरीबी और बेराजगारी, राष्ट्रीय सुरक्षा और आमतौर पर आर्थिक विकास की समस्याओं को बिना औद्योगिकीकरण के नहीं सुलझाया जा सकता। औद्योगिकीकरण

की दिशा में एक कदम के रूप में राष्ट्रीय नियोजन की व्यापक रूपरेखा तैयार की जानी चाहिए। जो योजना बने उसमें भारी प्रमुख उद्योगों, मध्यम उद्योगों, मध्यम उद्योगों और कुटीर उद्योगों के समुचित विकास का प्रावधान होना चाहिए।"[77]

यह 1937 के फैजपुर अधिवेशन में काँग्रेस के अन्दर उभरे प्रखर वामपक्षी गुट का प्रभाव था। जो सोवियत संघ में योजना बद्ध औद्योगिकी के अनुभव से काफी उत्प्रेरित था।

इसी प्रकार "बाम्बे प्लान" , जो 1944 में जे0 आर0 डी0 टाटा, जी0डी0 बिड़ला और लाला श्री राम सहित अनेक प्रमुख व्यापारियों द्वारा तैयार किया गया, में कहा गया :

"हमने जिस प्रकार के आर्थिक विकास का प्रस्ताव किया है वह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक इस विकास को एक केन्द्रीय निदेशक सत्ता के आधार पर नहीं, किया जाए। इसके अलावा इस विकास में शामिल वित्तीय जिम्मेदारियों के असमान वितरण को रोकने के लिए राज्य के नियन्त्रणकारी उपायों की भी जरूरत होगी।"[78]

यह समान दृष्टिकोण इस तथ्य को उजागर करता है कि भारत में लगभग प्रत्येक व्यक्ति ने औद्योगिकीकरण से संबंधित जो बुनियादी बाधाएँ थीं उन्हें मान्यता दी और उन्हें निजी क्षेत्र की असमर्थता समझा क्योंकि उसे औपनिवेशिक शोषण की दो शताब्दियों ने बहुत कमजोर कर दिया था जिससे औद्योगिकीकरण के लिए संरचना प्रदान करने के विशाल कार्य को हाथ में लेने की क्षमता उसमें नहीं थी। इसके अलावा प्रमुख व्यापारी यह अच्छी तरह जानते थे कि देहातों की गरीबी के कारण विनिर्मित सामग्री के लिए घरेलू बाजार बहुत सीमित है। जब तक सरकार सार्वजनिक व्यय तथा निवेश कार्यक्रमों के माध्यम से और कृषि के रूपान्तरण के माध्यम से, धन व्यय नहीं करेगी तब तक आधुनिक उद्योग के लिए वृद्धि सम्भव नहीं होगी। कृषि में वृद्धि उद्योग के लिए कच्चामाल पैदा करके और मजदूरों के लिए जीवन यापन की जरूरी सामग्री पैदा करके भी औद्योगिकीकरण में सहयोग देती है। भारत जैसे कृषि प्रधान समाज में कृषि सम्बन्धी समृद्धि औद्योगिकीकरण की कुंजी है। यहाँ अधिकांश आबादी कृषि पर निर्भर करती है और यह उद्योग के लिए घरेलू बाजार तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

स्वतन्त्रता के बाद औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1948 एवं 1956 बनकर आया। 1948 के प्रस्ताव में भारी उद्योगों तथा परमाणु उर्जा–शस्त्र आदि को सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत रखा गया एवं शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खुले थे। 1956 के प्रस्ताव का प्रारूप संसद द्वारा समाज के समाजवादी ढाँचे की स्थापना को सरकार की सामाजिक और आर्थिक नीतियों के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किये जाने के पश्चात तैयार किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना भी इसके साथ ही शुरू की गयी जिसमें वृद्धि के लिए अपनायी जाने वाली नीति में उद्योग, विशेष रूप से भारी उद्योग की वृद्धि पर विशेष बल दिया गया था। कुटीर एवं लघु उद्योगों के महत्व को 1948 के प्रस्ताव में ही स्वीकार कर लिया गया था।

कुल मिलाकर स्वातन्त्योत्तर काल के प्रारम्भ में औद्योगिक नीति का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र की केन्द्रीय भूमिका सुनिश्चित करना था। देश के समग्र औद्योगिक विकास में इस क्षेत्र ने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया। इसके अलावा इस अवधि में यह सुनिश्चित करने के प्रयास भी किये गये कि निजी भारतीय उद्यमों को समुचित संरक्षण मिले। प्रारम्भ में विदेशी पूँजी की भागीदारी से इनकार किया गया लेकिन व्यवहार में इस पर अमल नहीं हो सका और शीघ्र ही राष्ट्रीय हित में विदेशी पूँजी के प्रवेश की अनुमति दे दी गयी। इस प्रकार यह मिश्रित अर्थव्यवस्था एवं आत्मनिर्भर औद्योगिक अर्थतन्त्र के प्रभाव का दौर रहा लेकिन जो बात सबसे महत्वपूर्ण रही, वह यह कि इसे चलाने वाले व्यूरोक्रेट्स पुराने आभिजात्यपन या सामन्ती मन से ही परिचालित होते रहे जिसका परिणाम बहुत जल्द ही सामने आने लगा था। मार्कण्डेय की कहानियों में यह चीज मुख्य रूपसे उभरकर सामने आयी है।

2.12.2 स्वतन्त्रा पूर्व की कृषि अवस्थाएँ [79]

कृषि कोई हाल की खोज नहीं है बल्कि सभी सभ्यताओं का जन्म इसी से सम्भव हुआ है तथा इसी ने तमाम परिवर्तनों एवं निरन्तरता की शक्तियों को आधार भी प्रदान किया। भारत में भी इसका अस्तित्व नव पाषाण काल से ही उभरने लगता है। चिरांद एवं बेलन घाटी से चावल तथा जले हुए उपलों के ढेर मिलते है तो वहीं आदमगढ़ में स्थायी निवास तथा पशुपालन के साक्ष्य मिलने लगते है। ऐसे ही कृषिकर्ताओं ने पहली सभ्यता को आधार प्रदान किया जिसे हड़प्पा सभ्यता के नाम से

जाना जाता है। हड़प्पा के समृद्ध नगरों का अस्तित्व कृषि उत्पादों से ही सम्भव हो सका था लेकिन शायद परिस्थितिकीय विचलन ने उस आधार को नष्ट कर दिया और कृषिकर्ता विस्थापित होने लगे या स्थानान्तरित होने लगे। इन्हीं के सम्पर्क में सम्भवतः आर्य आए जो मुख्य रूप से पशुपालक थे लेकिन कृषि उनका पेशा नहीं था। यहीं से इस व्यवस्था में एक गैर उत्पादक एवं उपभोगी–परोपजीवी वर्ग की शुरूआत के संकेत मिलने लगते हैं एवं इनमें विभाजन की नींव पड़ती है।

बुद्ध काल में कृषिकर्ताओं ने एक बार फिर व्यापार का आधार तैयार किया एवं द्वितीय नगरीकरण को जन्म दिया। यहीं से जनजातियों में विघटन की प्रक्रिया भी शुरू होने लगती है और कृषि व्यवस्था में खेतिहर मजदूरों का जन्म होता है। मौर्यकाल में यह प्रक्रिया तेज होती है तथा कृषि के प्रसार में कई टहलुआ जातियों को जहाँ खेत मजदूर बनाया जाता है वहीं पुरोहित आदि अनुत्पादक वर्ग की उपस्थिति को मजबूत। यह खेती की बढ़ती महत्ता ही थी जिसने ऋषि एवं जंगल का संयोग उत्पन्न किया। ये ऋषि वस्तुतः पुरोहित होते थे जो जंगली जातियों, बनैलों, टहलुओं तथा सीमावर्ती जातियों को कृषि उत्पादन से जोड़ने एवं वर्ण व्यवस्था में शामिल करने के लिए लगाए गये थें। यह एक तरह से इन जातियों के अधिकारों में हस्तक्षेप भी था जिसने तमाम जन जातीय विद्रोहों को जन्म दिया। वाल्मीकि रचित रामायण में यह प्रतिविम्बित होता है।

कम व बेशी यह स्थिति गुप्तों तक बनी रहती है लेकिन यहीं से किसानों की किस्मत भी बदलने लगती है जब ब्रह्मदेय एवं अग्रहार जैसे भूमि–अनुदानों का प्रचलन होने लगता है जो आगे चलकर सैनिकों एवं अधिकारियों को वेतन रूप में भी मिलने लगता है। इसके माध्यम से एक अनुपस्थित एवं गैर उत्पादक वर्ग उन पर थोप दिया जाता है एवं एक मध्यस्थ वर्ग के अधिकारों का जन्म होता है जो सल्तनत काल में खुत, मुकद्दम, चौधरी तथा मुगल काल में जमीन्दारों के रूप में बना रहता है थोड़े–बहुत परिवर्तनो के साथ लेकिन गजब तब होता है जब औपनिवेशिक नीति के तहत उन्हें भूमि का वास्तविक स्वामी बना दिया जाता है जो अभी तक भारतीय इतिहास में नहीं हुआ था। किसान धीरे–धीरे नियति के घेरे में आता गया। वह भाग्यवादी, कुटिल, चालबाज, झूठा और गप्पी होतागया। सत्ता के लिए जो चरित्र

शासक का विकसित होता है वहीं भूमि बचाने के लिए एक किसान का भी होने लगा। "गण देवता" और "गोदान" में ताराशंकर बंधोपाध्याय एवं प्रेमचन्द ने इसका मार्मिक चित्रण किया है।

2.12.3 औपनिवेशिक कृषि व्यवस्था और वाणिज्यीकरण [80]

कृषि का यह वाणिज्यीकरण प्रायः एक कृत्रिम एवं थोपी गयी प्रक्रिया ही दिखाई देती है जिसने किसी वास्तविक समृद्धि के बिना ही विभेदीकरण को जन्म दिया। वाणिज्यीकरण का सही–सही प्रतिमान प्रत्येक फसल के लिए भिन्न होता था। इस प्रकार चाय की खेती के लिए जिसका आविष्कार कम जनसंख्या वाले क्षेत्र में हुआ था, अँग्रेजो के प्रत्यक्ष प्रबन्ध वाले बागानों की आवश्यकता थी। इसमें श्रमिकों की भरती दूर–दराज के क्षेत्रों से अनुबन्ध पत्रों के माध्यम से की जाती थी, जो लगभग दासता जैसी ही थी।

वाणिज्यीकरण ने एक और प्रभाव उत्पन्न किया, कृषि का आंचलिक विशेषीकरण अर्थात विशेष अंचल की भौगोलिक विशेषता का लाभ उठाकर विशेष प्रकार की फसलें उगाने की प्रवृत्ति बढ़ी। जैसे दक्कन में कपास, बंगाल–आसाम में चाय, जूट, उ0प्र0 में गन्ना–धान, पंजाब में गेंहूँ, बिहार–बंगाल में नील की खेती आदि। जहाँ पर वाणिज्य का रास्ता आसान होता है, वहीं पर कम व बेशी, विशेषीकरण शुरू हो जाता है। इसका मतलब यह है कि किसान बाजार में केवल विक्रेता नहीं है, खरीददार भी है। जैसे कि नील की खेती वाला किसान नील नहीं खाएगा इसलिए, वह खरीददार भी होगा। मूलबात यह कि भारत पूँजीवादी अर्थनीति के विश्वव्यापी यन्त्र के एक पुर्जे के रूप में परिणत हो गया था जिसका परिणाम भारत के किसान को भोगना पड़ा ऐसे में वह नियतिवादी नहीं होगा तो क्या होगा?

नगदी फसल में आंचलिक विशिष्टता का परिणाम हुआ खाद्य पदार्थों के लिए बाजार का मुँह देखना और खाद्य पदार्थों के विशिष्टीकरण का अर्थ था तेल, गुड़, तम्बाकू आदि के लिए बाजार का मुँह देखना। 1901–1937 में खाद्य पदार्थों (अर्थात धान, गेंहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का, दाल) की खेती वाली जमीन के इलाके केवल 16% बढ़े जबकि नगदी फसल की खेती वाले इलाके इसकी तुलना में बहुत बढ़े जैसे गन्ना 69%, रूई 59%, सरसों 36%, पटसन 14%। इस प्रकार कुल उत्पादन की प्रति दशक

वृद्धि जहाँ 13% रही, वहीं खाद्य पदार्थों की प्रति दशक वृद्धि 1% ऐसी हालत में जाहिर है बनिया बेइमान होगा तो किसान बेबस, लाचार और जुगाड़ी।

(i) भूमि सम्बन्ध [81]

वाणिज्यीकरण के विशिष्ट परिणाम स्पष्टतः भूमि सम्बन्धों की उस संरचना से जुड़े थे जिसे राजस्व और लगान सम्बन्धी ब्रिटिश नीतियों ने स्थापित अथवा सुदृढ़ किया था। स्थायी बन्दोबस्त के परिणामस्वरूप जो व्यवस्था विकसित हुई वे स्वयं द्वारा प्रबन्धित विशाल भू–सम्पत्तियाँ नहीं थी, अपितु, बार–बार बँटी हुई और टुकड़े–टुकड़े जमीन्दारियाँ थी। उनके बाद काश्तकारों का एक बहुत बड़ा वर्ग था। छोटे जमीन्दार और काश्तकार विशेष धनी नहीं थे किन्तु भू–सम्पत्ति से होने वाली आय का स्वरूप परजीवी ही रहा अर्थात पूँजीवादी कृषि में जोखिम भरे पूँजी निवेश के स्थान पर वे सामन्तवादी एवं महाजनी शोषण को ही अधिक अच्छा समझते थे।

जोखिम का बोझ अपने से नीचे वाले समूहों पर डालने की प्रवृत्ति यहाँ भी सक्रिय थी। किसी भी किसान के पास (महलवारी एवं रैयतवारी क्षेत्रों में विशेष) जब थोड़ा धन जमा हो जाता था तो वह व्यापार, साहूकारी अथवा अपनी जमीन को बंटाई पर देने की ओर रूख करता था। जहाँ तक बहुसंख्यक निर्धन किसानों या वास्तविक खेती करने वालों का प्रश्न था वे बाध्य होकर वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में पड़ते थे क्योंकि राजस्व एवं लगान के दबाव के कारण खेती का रूख गरीबों के खाद्यान्नों जैसे, ज्वार–बाजरा या दालों से हटकर नगदी एवं गेंहूँ जैसी अधिक मूल्य दिलाने वाली फसलों की ओर हो गया जिसके कारण अकाल के समय प्रायः संकट उत्पन्न हो जाया करता था।

इस प्रकार जो लोग स्वयं उत्पादन करते थे, वे इतने हैरान–परेशान रहते थे कि कृषि में सुधार की बात सोच भी नहीं सकते थे। जहाँ बड़े किसान खेत–मजदूरों को काम पर रखते थे वहाँ भी नवीन तकनीकि प्रक्रियायों के लिए कोइ अभिप्रेरणा नहीं होती थी। क्योंकि एक विशाल ग्रामीण सर्वहारा वर्ग जातिगत दबावों एवं कर्जदारी के कारण इन बड़े किसानों पर पूर्णतः निर्भर था। इस प्रकार हमारी कृषि व्यवस्था पर औपनिवेशिक प्रभाव प्रगतिशील नहीं रहा अपितु इससे अर्द्धसामन्तवादी सम्बन्धों को

मजबूती मिली। ये सारी स्थितियां आजादी के तुरन्त बाद या दशकों तक लगभग वैसी ही रही जिसकी अभिव्यक्ति मारकन्डेय एवं शिव प्रसाद दोनों की कहानियों में होता है।

(ii) कृषि में दूसरे परिवर्तन [82]

उत्पादन की प्रकृति और गति, विभिन्न फसलों की खेती में कभी और बढ़त, उत्पादक शक्तियों में वृद्धि अर्थात प्रति एकड़ या प्रति व्यक्ति उत्पादनों के हिसाब से सम्बन्धित शोधों ने कुछ नयी धारणाएं स्थापित की हैं। जैसे, मौसमी वर्षा का प्रभाव। वर्षा न होने के फलस्वरूप न केवल फसलें कम होती हैं, बल्कि खराब जमीन का उत्पादन उत्कृष्ट जमीन की तुलना में ज्यादा प्रभावित होता है और खराब जमीन सबसे अधिक निम्न वर्ग के किसान के पास होती है। इस कारण वर्षा न होने का एक फल यह भी होता है कि किसानों के बीच वर्ग–वैषम्य बढ़ता हैं इससे जुड़ी एक और बात यह है कि कृषि के वाणिज्यीकरण के फलस्वरूप गरीब किसान के द्वारा भोजन के लिए उपयोगी सस्ती फसलों के बदले बाजार में बिकने वाली कीमती फसलों को पैदा करने से, वर्षा न होने के कारण फसलों के बर्बाद होने का खतरा बढ़ जाता है और विशेष कर पहले परती पड़ी जमीनों पर वर्तमान में खेती योग्य बनायी गयी जमीनों की तरफ झुकाव बढ़ता है, अतएव कृषि पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए दूसरे प्रकार की जमीन की तरफ किसानों का रूझान बढ़ता है।

बाजार दर के अनुसार किसान विभिन्न फसलों की खेती करेगा, यह बात स्वाभाविक मानी गयी। मगर नई खोजों से पता चला है कि, यह बात सच होते हुए भी किसान की अपनी तर्क बुद्धि होती है, जिसमें केवल बाजार दर ही नहीं अन्य तरह के हिसाब–किताब भी समान रूप से महत्वपूर्ण होते है, जैसे पशुओं के चारे में उपयोग आने वाली फसलों की उपज, श्रम की दर, आंचलिक परिवेश के अनुसार पारम्परिक कृषि–प्रथा, इत्यादि।

इस तरह पहले जैसा सोचा जाता था, कि कृषि के वाणिज्यीकरण का अर्थ है बाजारू फसलों में वृद्धि, वह सभी अंचलों में सच नहीं है। कहीं–कहीं खुद विकासमान खुद कास्त किसान ही लाभ के लिए पाहीकास्त खेती भी करता था और महाजन की भूमिका में भी कहीं–कहीं सामने आता है। लेकिन, ऐसे किसानों और विवशता में लगान देकर पाहीकाश्त खेती करने वाले निश्चय ही अलग–अलग वर्गों के होते थे, और

इसका प्रमाण है जमीन्दार–महाजन वर्ग की वृद्धि। उल्लेखनीय है, कि औपनिवेशिक ढांचे में कृषि के वाणिज्यीकरण के साथ–साथ उत्तर–प्रदेश में कृषि के वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया के दो स्तर अत्यन्त स्पष्ट हैं– खाद्य पदार्थों को जिंस बनाना और ईख की खेती में पूँजी के बढ़ते हुए आधिपत्य का क्षेत्र।

(iii) नये सामाजिक वर्गों का उदय [83]

ब्रिटिश सरकार ने जमीन्दारी और रैयतवारी प्रथा के द्वारा जमीन पर निजी मिल्कियत की शुरूआत की और इससे जागीरों के मालिकों, जमीन्दारों व खेतिहर मालिकों के वर्ग का जन्म हुआ। फिर, जमीन को पट्टे पर देने के अधिकार की शुरूआत से बटाईदारों और पट्टेदारों के वर्गों का जन्म हुआ तथा जमीन की खरीद बिक्री के अधिकार और जमीन पर मजदूर लगाने के अधिकार की शुरूआत के कारण अनुपस्थित–अनुत्पादक जमीन्दारों और कृषक सर्वहारा वर्ग के उदय के लिए स्थिति तैयार हुई।

इस नयी आर्थिक व्यवस्था की आर्थिक–तार्किक परिणति के रूप में इस्तमरारी क्षेत्र में जमीन्दारों और खेती करने वाले किसानों के बीच मध्यस्थों की श्रेणी बद्ध श्रृंखला का विकास हुआ तथा रैयतवारी क्षेत्रों में खेती करने वाले किसानों और राज्य के बीच सूदी पर रूपया लगानेवाले महाजनों, दूरस्थ जमीन्दारों और बड़े व्यापारियों जैसे मध्यस्थों की श्रृंखला बनी। ये सभी वर्ग एक अलग भूमिका में थे जो इसके पहले भारत में अनुपस्थित रहा था। कृषि के क्षेत्र में आधुनिक व्यापारियो और सूदखोरों महाजनों का वर्ग बिलकुल नये वर्ग के रूप में आया था, जिसका सम्बन्ध नये पूँजीवादी अर्थतन्त्र से था। और अब ये जो काम करते थे, वे प्राक्ब्रिटिश भारतीय समाज में उनके काम से बिलकुल भिन्न थे।

(iv) काश्तकार और अधिकार [84]

जो लोग सरकार को जमीन के मालिक के रूप में राजस्व देते हैं उनके नीचे तथा खेत मजदूर बंटाईदार वर्ग के ऊपर विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति भोगी प्रजा मालिक को लगान देती है और यह प्रजा ग्रामीण समाज का बहुत बड़ा भाग है। इस प्रजा के

विभिन्न स्वामित्व कम्पनी के शासन काल में प्रचलित और स्वीकृत विशेषकर इस्तमरारी (जमीन्दारी) अंचलों में अँग्रेजी कानून के अन्तर्गत, धीरे–धीरे लुप्त होने लगे।

प्रजा स्वत्वाधिकार कानून 1859 तथा काश्तकारी स्वत्वाधिकार कानून 1885 के तर्ज पर पंजाब, महाराष्ट्र, उत्तर–प्रदेश आदि स्थानों पर एक दूसरे प्रकार का कानून तैयार हुआ, जिसका उद्देश्य था ऋण के कारण किसान के हाथ से जमीन का स्वामित्व महाजनों और बनियों के हाथों में न जाय। जमीन की बिक्री और ऋण के दावे के आधार पर साहूकार का स्वामित्व कायम हो जाने को कानून के द्वारा नियन्त्रित करने की कोशिश हुई। इसका फल यह हुआ कि बनियों–महाजनों के बदले विकासमान किसानों को महाजनी कारोबार करने का; और सुयोग मिला क्योंकि उनके हाथों में खेतिहर जमीन के हस्तान्तरण को सरकार और कानून गलत नहीं मानते थे। नतीजा यह हुआ कि विकासमान किसान को जमीन के मालिक बनने और छोटे–मोटे महाजन वर्ग के कृषकों को सम्पन्न होने का अवसर मिला।

डेनियल थार्नर लिखते हैं, "भारतीय इतिहास के किसी अन्य युग में धनी जोतदारों का इतना विशाल, सुस्थापित एवं सुरक्षित समूह देखने को नहीं मिलता जितना 1790 और 1940 के दशकों में भारत में पनपा और फला–फूला।"[85]

स्पष्टतः यह जमीन्दारों, साहूकार जमीन्दारों और विकासमान किसानों का वर्ग था न कि सामान्य जोतदारों का वर्ग लेकिन यह विशाल नहीं था क्योंकि लगान भोगी वर्ग की कुल जनसंख्या खेती में लगी जनसंख्या की 3.6% थी एवं 5 एकड़ या उससे अधिक की जोत के सम्पन्न किसानों की संख्या 25.3% । इस प्रकार दोनों मिलकर 29% ही ठहरते थे जबकि, दूसरी तरफ 37.8% भूमिहीन खेत मजदूर, 9% अत्यन्त छोटे किसान, जिनकी हालत खेत मजदूरों की ही भांति थी तथा 24.3% सम्पत्तिहीन तथा बंटाई पर काम करने वाले किसान थे। (आधार 1931–41 जनगणना)[86]

इनके विषय में सुमित सरकार[87] लिखते हैं, रैयतवारी काश्तकारों की एक अलग ही श्रेणी बनती जा रही थी, जिनके दुःख इस बात से और बढ़ गये थे कि कानून को उनके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी और इसलिए वे कानून के संरक्षण से भी वंचित थे। कानूनों के संरक्षण की यही स्थिति कमोवेश स्वतन्त्रता के पश्चात भी जारी

रही (बदली हुई स्थिति के साथ) और विकासमान किसान तथा जमीन्दार ही लाभ की स्थिति में रहे। मारकण्डेय की कहानियां विशेष ढंग से इसको उभारती हैं ।

2.12.4 स्वतन्त्रता के बाद नियोजन और भूमि सुधार [88]

स्वतन्त्रता के बाद योजना बनाते समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में बनी कृषि नीति और भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचनात्मक समस्या को ध्यान में रखा गया। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय कृषि के पतन का मुख्य कारण जमीन्दारी, जागीरदारी और रैयतवाड़ी व्यवस्था है लेकिन इसके अतिरिक्त हमारी सामाजिक और आर्थिक संरचना भी कृषि के पतन के लिए जिम्मेदार है। मसलन रोजगार के अन्य साधन उपलब्ध न होने के कारण कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ना। इससे प्रति व्यक्ति भूमि का अनुपात असंतुलित हुआ और परिणामस्वरूप जोतों का उपविभाजन होने लगा। प्रथम, कृषि श्रम जांच–पड़ताल (1951) ने स्पष्ट किया है, "कुल कृषक परिवारों में 20% लोग भूमिहीन मजदूर हैं। जिनके पास जोतने के लिए जमीन है, उनमें से 38% ऐसे हैं जिनके पास 2.5 एकड़ से भी कम जमीन है और खेती योग्य भूमि के 6% हिस्से पर ही इनका अधिकार है। खेती करने वाले परिवारों में 59% ऐसे हैं जिनके पास 5 एकड़ से भी कम जमीन है और यह कुल खेती योग्य जमीन का 16% है। अर्थात 2.5 से 5 एकड़ के बीच जमीन रखने वालों के पास कुल खेती योग्य भूमि का 10% है, और इनकी संख्या 21% के आस–पास ठहरती है।

जोतों का उपविभाजन भी एक बदसूरत तस्वीर प्रस्तुत करता है। भारत सरकार के द फार्म मैनेजमेंट स्टडीज में स्पष्ट है कि उत्तर–प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में 2.5 एकड़ जोत के औसतन 3.6 टुकड़े हुए हैं। 200 से 25 एकड़ तक के बड़े जोतों की भी स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। और इसका औसतन 17 टुकड़ों में विभाजन हुआ है। खेतों के छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटे होने की समस्या को चकबन्दी के माध्यम से सुलझाया जा रहा है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद योजना आयोग, केन्द्रीय सरकार और अन्य राज्य सरकारों ने भूमि सुधारों के बृहत् कार्यक्रमों को जारी किया जो मूल रूप से दो चरणों में विकसित हुई है। पहला चरण आजादी के तुरन्त बाद शुरू हुआ और आमतौर पर साठ के दशक के आरम्भ तक जारी रहा। इसकी विशेषताएं थीं–

(i) बिचौलियों की समाप्ति, जैसे जमीन्दार, जागीरदार इत्यादि।

(ii) काश्तकारी सुधार, जिनमें काश्तकारों को जोत की सुरक्षा प्रदान की गयी, भूमिकर कम किया गया, और काश्तकारों को स्वामित्व के अधिकार प्रदान किये गये।

(iii) भूमि पर हदबन्दी।

(iv) सहकारी और सामुदाइक विकास कार्यक्रम। इस दौर को संस्थागत सुधारों का दौर भी कहा गया है।

साठ के दशक के मध्य या अन्त में शुरू होने वाला दूसरा दौर तथा कथित हरित क्रान्ति का दौर था। इसे तकनीकी सुधारों का दौर भी कहा गया है।

(i) जमीन्दारी-उन्मूलन [89]

आजादी के एक या दो वर्षों के अन्दर ही, अर्थात 1949 आते–आते जमीन्दारी उन्मूलन बिल या भूमिकाश्तकारी कानून कई प्रदेशों में बनाए गए जैसे उत्तर–प्रदेश, मध्य–प्रदेश, बिहार, मद्रास, आसाम और बम्बई। जी0बी0 पन्त की अध्यक्षता मे बनी यू0पी0 जमीन्दारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट कइयों के लिए नमूना बनी। जमीन्दारी उन्मूलन एक्ट अधिकतर राज्यों में 1956 तक पास किया जा चुका था फिर भी जमीन्दारों ने इस कानून की वैधता का विरोध किया तथा पटना हाईकोर्ट ने उनकी अपील भी स्वीकार कर ली जिसके चलते 1951 में प्रथम संविधान संशोधन एवं 1955 में चौथा संविधान संशोधन भी करना पड़ा।

लेकिन इस प्रतिरोध के बावजूद बिहार के कुछ क्षेत्रों को छोड़ देश के अधिकतर क्षेत्रों में ये प्रक्रिया एक दशक के अन्दर–अन्दर मूल रूप से पूरी हो गयी। बड़े भू–स्वामियों को सबसे भारी नुकसान उठाना पड़ा और वे अधिकतर जमीनें खो बैठे। इसका फायदा काश्तकारों के ऊपरी तबकों को ही मिला जो लम्बे समय से जमीन्दारों से मिली सीधी जमीन पर खेती करते चले आ रहे थे1 ये आमतौर पर धनी एवं मध्यम किसान थे। दूसरी तरफ कांग्रेस कृषि सुधार समिति (कुमारप्पा समिति) 1949 की रिपोर्ट में "व्यक्तिगत खेती" की अस्पष्ट अवधारणा ने उन जमीन्दारों को भी भू–स्वामी बनने का अवसर दिया जो अनुपस्थिति थे और किसी सम्बन्धी के जरिए जमीन की देखभाल कर रहे थे। या, जमीन पूँजी या कर्जा मुहैया कर रहे थे या फिर छोटे

काश्तकारों के साथ मौखिक समझौते किये थे। रातो–रात उन्हे बेदखल कर "व्यक्तिगत खेती" (खुदकास्त) के तहत दिखा दिया गया। जमीन्दारी उन्मूलन की एक सीमा यह भी रही कि भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के भविष्य का कोई निर्धारण नहीं हुआ और उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया गया।मारकण्डेय की कहानियों की सम्वेदना मुख्यतया इसी से जुड़ी है।

(ii) काश्तकारी सुधार [90]

भूमि सुधारों में काश्तकारी सुधार सबसे महत्वपूर्ण था। बिचौलियों के उन्मूलन से खेत जोतने वाले का अधिकार अपनी जमीन पर स्थापित हुआ। इसने एक ऐसी व्यवस्था को समाप्त किया जो शोषण और असमानता पर आधारित होने के साथ–साथ प्रगतिशील कृषि की राह में रोड़ा भी थी। काश्तकारी सुधारों से खेतिहरों का जमीन पर अधिकार स्थापित हो गया। इन काश्तकारी सुधारों ने गांवों में भूमि सम्बन्धों में एक स्थिरता स्थापित की, पर पूरी तरह से सामाजिक और आर्थिक असमानता दूर नहीं हो पायी, क्योंकि भूमिपतियों के पास खुद काश्त भूमि के रूप में काफी जमीन रह गयी। अधिकांश भागों में भूमिपतियों ने स्थिति का अन्दाजा लगाते हुए, काफी जमीन खुद काश्त के अन्तर्गत शामिल कर ली। उन्होंने उन किसानों को बेदखल कर दिया जो मर्जी पर आधारित काश्तकार थे। इससे सामाजिक असमानता बनी। इसके अतिरिक्त उन्होनें जंगली इलाकों, फलों के बागानों और घास के मैदानों को पारिवारिक बागान घोषित कर खुद काश्त जमीन में शामिल कर लिया जिस पर पंचायत का अधिकार होने का भय था। इतना ही नहीं पंचायतों पर भी इनका प्रभाव था जिसके चलते पंचायत की सम्पत्ति का व्यवहारिक उपयोग इन्हीं के हाथों में रहा और इसके लिए आपस में इनके बीच संघर्ष भी होता था। शिव प्रसाद एवं मार्कण्डेय दोनों की कहानियों मे यह बात उभर कर सामने आती है।

(iii) भूमि–हदबन्दी [91]

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में सामाजिक समानता लाने का प्रयत्न भूमि सुधारों का एक महतवपूर्ण पक्ष था। यह भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस और उन राजनीतिक पार्टियों की नीतियों के अनुकूल था जिन्होने स्वतन्त्रता संग्राम को नेतृत्व प्रदान किया था। हमारे संविधान में यह शामिल किया गया कि धन एवं शक्ति का संकद्रेण नहीं होगा और

समाज के सभी वर्गों में इसका न्यायोचित वितरण होगा। इस प्रकार, विकास के लोकतान्त्रिक तरीके से समाजवाद कायम करने पर बल दिया गया। नवम्बर 1947 में कांग्रेस ने एक समिति का गठन किया, जिसने कांग्रेस का आर्थिक कार्यक्रम तैयार किया। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में समिति ने सुझाव दिया, "भूमि की अधिकतम सीमा तय की जानी चाहिए। इस सीमा से अधिक भूमि का अधिग्रहण करके ग्राम सहकारिता समिति को सौंप देना चाहिए।"[92] कुमारप्पा समिति ने भी जुलाई 1949 में अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए इसका समर्थन किया तथा प्रथम योजना (1951–56) ने भी "ऐसे सिद्धान्त का समर्थन किया जो व्यक्ति द्वारा रखी जाने वाली भूमि की अधिकतम सीमा तय करे।[93]

इसी बीच देश की विभिन्न संस्थाओं में इसका विरोध होने लगा था। प्रेस, संसद, राज्य विधाइकाओं, और स्वयं कॉंग्रेस के अन्दर। यहाँ तक कि एन0जी0 रंगा एवं मीनू मसानी ने इसके विरोध में जून 1959में स्वतन्त्र पार्टी ही बना डाली एवं रंगा इसके अध्यक्ष बने। यहां तक कि जमीन्दारी उन्मूलन से फायदे में रहे काश्तकारों या नये भू–स्वामी भी इसके विरोध में खड़े हो गये जिसका नतीजा यह हुआ कि यह राज्य–विधाइकाओं के ऊपर निर्भर हो गया और भिन्न–भिन्न राज्यों ने हदबन्दी की भिन्न–भिन्न सीमाएं निर्धारित की। यथा– आन्ध्रा में 27 से 312 एकड़, आसाम में 50 एकड़, केरल में 15 से 37.5 एकड़, पंजाब में 30 से 60 एकड़, पं0 बंगाल में 25 एकड़। इसके अलावा अधिकतर राज्यों में हदबन्दी व्यक्तिगत आधार पर लागू की गयी, न कि परिवार की भूमि–सम्पत्ति पर इससे भू–स्वामियों को नाम अलग–अलग कर देने का मौका मिला। साथ ही पूँजीवादी खेती या प्रगतिशील खेती के लिए कुछ श्रेणी के लिए हदबन्दी की सीमा में छूट दी गयी। जिसके फलस्वरूप भू–स्वामियों ने फर्जी सहकारी संस्थाएं बनाकर जमीन अपने पास स्थानान्तरित कर ली। यहीं नहीं जमीन्दारी उन्मूलन के दौरान गयी जमीनें भी कुछ जगह हदबन्दी के समय डरा–धमकाकर अथवा गवाही नामा लेकर पुनः प्राप्त कर ली गयी। इसके अतिरिक्त अधिशेष भूमियों के बेनामी हस्तान्तरण से भी काफी जमीनें भू–स्वामियों के पास बनी रह गयी। इस तरह जिस उद्देश्य से यह लागू हुआ था अर्थात अतिरिक्त भूमि का वितरण भूमिहीन खेतिहर मजदूरों में करने का वह बड़े स्तर पर विफल साबित हुआ।

(iv) भूदान आन्दोलन [94]

भूदान भूमि सुधार करने, कृषि में संस्थागत परिवर्तन लाने, जैसे भूमि का पुनर्वितरण सरकारी कानूनों से इतर एक आन्दोलन के जरिए करने की कोशिश। प्रसिद्ध गान्धीवादी विचारक विनोवा भावे ने इसे अंजाम दिया और सर्वोदय समाज की स्थापना की। इसे कॉग्रेस का समर्थन था तथा जय प्रकाश नारायण भी इसमें 1953 में शामिल हो गये। इसका उद्देश्य था। गाँव–गाँव पैदल जाकर बड़े भू–स्वामियों से अपनी जमीन का कम से कम छठा हिस्सा भूदान के रूप में भूमिहीनों और गरीब किसानों के बीच बाँटने के लिए देने का अनुरोध करना। इस तरह विनोवा भावे ने 18 अप्रैल 1951 को आन्ध्रा के तेलंगाना क्षेत्र में पोचमपल्ली गांव में पहला दान प्राप्त किया। इस क्षेत्र में कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सशक्त किसान बिद्रोह का असर अब भी महसूस किया जा रहा था। कहना न होगा कि इसका एक उद्देश्य भूमिहीन खेतिहर आन्दोलनों को रोकना भी था। और उसमें वह सफल भी रहा।

1955 में यह "ग्रामदान" के रूप में सामने आया जिसका नारा था "सबै भूमि गोपाल की"। इस आन्दोलन की शुरूआत उड़ीसा में हुई और वहाँ वह बड़ा सफल रहा। यह आन्दोलन उन्हीं गाँवों में सफल रहा जहाँ जमीन अथवा दूसरी सम्पत्ति का अन्तर लगभग नहीं के बराबर था। भूदान में जहाँ 8 लाख 72 हजार जमीन 1961 के आरम्भ तक बांटी गयी वहीं 4500 ग्राम दान। लेकिन एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि भूदान में प्राप्त अधिकांश जमीनें ऊसर एवं बंजर थीं, कंकरीली–पथरीली थीं तथा अधिकांश नदी की पेटियों में समा गयीं। मार्कण्डेय की "भूदान" नामक स्वतन्त्र कहानी ही है जिसमें इसके व्यवहारिक सत्य को कहानी का विषय बनाया गया है।

(v) भूमि सुधारों के सामाजिक-राजनीतिक परिणाम

भूमि सुधारों के द्वारा किसानों को जहाँ बिचौलियों से मुक्ति मिली वहीं भूमि सुधारों के साथ–साथ ग्राम पंचायत व्यवस्था भी लागू की गयी जो निर्वाचक सिद्धान्त के व्यापक मताधिकार पर आधारित थी। ग्रामीण स्तर के भूमिसंसाधनों पर ग्रामीण पंचायत का नियन्त्रण हो गया। इस प्रकार गांवों की आर्थिक गतिविधि का आधार भी विस्तृत हुआ। सामाजिक दृष्टि से लोगों की राजनीतिक हिस्सेदारी भी बढ़ी और इस प्रकार लोकतान्त्रिक मूल्यों का फैलाव गाँवों तक हुआ।

लेकिन भूमिसुधारों ने भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के हाल में परिवर्तन में कोई योग नहीं दिया और असमानता तथा शोषण नये–नये रूपों में जारी रहा जिसके चलते कृषि मूलवादी आन्दोलन की एक शक्तिशाली धारा उभरी। भा.क. पा (मा.ले) के नेतृत्व में आन्दोलन पं0 बंगाल, आन्ध्रा, उड़ीसा तथा बिहार के कई भागों में साठ के दशक के अन्त तक अपने उच्च शिखर पर पहुंच गया। कम्यूनिस्ट और सोशलिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में 1970 में देश के कई भागों में "जमीन पर कब्जा करो" आन्दोलन चल पड़ा। इनमें नक्सलबाड़ी आन्दोलन प्रमुख था। "सीमित सफलता एवं जल्दी दबा दिये जाने के बावजूद आन्दोलन सांकेतिक रूप से महत्वपूर्ण रहा एवं देश का ध्यान बड़े प्रभावशाली ढंग से कृषि समस्या की ओर खींचा जा सका"।[95]

2.12.5 जातीय गतिशीलता [96]

शिक्षा, सरकारी नौकरियों तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं में सहभागिता एवं समानता की भूमि पर सामाजिक हैसियत की मांग जैसे तत्व इसे बल प्रदान करते हैं। दक्षिण भारत के पिछड़े वर्ग के आन्दोलन को इस रूप में देखा जा सकता है। पिछड़े वर्गों के बारे में 1950 में जो स्थिति थी उसको अब संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है, गैर–ब्राह्मण जातियों में, पश्चिमी सन्दर्भो में, पिछड़े की कोटि में गिने जाने की बड़ी इच्छा थी, उधर प्रमुख जातियों का पिछड़ेपन में निहित स्वार्थ पैदा हो गया था। यह शिक्षा, विशेषकर, औद्योगिकी और चिकित्सा–सम्बन्धी शिक्षा, प्राप्त करने का, प्रतिष्ठाजनक और अच्छी तनख्वाह वाली नौकरियॉ पाने का और वर्ग तथा जाति–व्यवस्था में गतिशीलता का सबसे अच्छा उपाय था। अल्पसंख्यक जातियाँ अनुभव करती थीं कि प्रभु जातियाँ सारी सुविधाएं, उनसे छीनकर, स्वयं हथियाए ले रही हैं। और राज्य सरकारें "सचमुच पिछड़ी" जातियों के हितों की रक्षा के लिए नई क्रिया विधियाँ बना चुकी थीं या बनाने का विचार कर रही थीं। यदि संविधान में अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा के लिए विशेष उपाय न किये गये होते तो टक्कर और भी तीव्रतर होती। इनके बिना अनुसूचित जातियों तथा दूसरों के बीच टक्कर, जो गांव के स्तर पर बहुत तीव्र है, राजसत्ता ओर विभिन्न विशेषाधिकारों के लिए संघर्ष से

और भी जोर की हो जाती है। फिर भी, 1990 के बाद के परिवर्तनों में जातीय गतिशीलता के तत्वों को पहचानना अधिक आसान साबित होगा।

2.13 साहित्यिक परिवेश

विश्व साहित्य में अगर उस समय "मार्क्सवाद" बनाम "पूँजीवाद" के कला–मूल्यों और प्रतिमानों तथा दृष्टियों का दौर था तो, हिन्दी साहित्य में यह "परिमल" और "प्रलेस" (प्रगतिशील लेखक संघ) के विचारों के बीच घात (Thesis) – प्रतिघात (Antithesis) का दौर और इसी के संघात (Synthesis) से तैयार हो रहा था नई कहानी या स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद की कहानियों का कलेवर।

एक तरफ "परिमल" कलावादी रूझानों और तथा कथित "अपने सच" के साथ चल रहा था तो वहीं "प्रलेस" वस्तुवादी एवं घोषित सामाजिक सच के साथ चल रहा था लेकिन नई कहानियों के पास जो पूँजी थी, वह थी स्वतन्त्रता–संघर्ष के दौरान प्राप्त नैतिकता, मूल्य, आदर्श और उनके बीच का अन्तर्विरोध जो स्वतन्त्रता के बाद क्रमशः उभरकर आ रहा था। राजेन्द्र यादव के कुछ कथन इसे स्पष्ट कर सकते हैं।

"वस्तुतः जिन साहित्यकारों का समाज में प्रभाव दिखाई देता था वह नेहरूवादी आदर्शों से प्रेरित मध्यवर्गीय परिवारों से आता था। उसका समूचा प्रशिक्षण, संस्कार, मूल्य, आदर्श और नैतिक मान्यताएं नेहरूवादी सोच से उद्भूत होती थी। ऐसे मध्यवर्गीय परिवारों से आने वाले साहित्यकार इसी वर्ग को सम्बोधित करते थे, जिसके चलते उसकी भाषा पूरी तरह सम्प्रेषित होती थी"।

"दरअसल, आजादी के तुरन्त बाद हमने अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए जूझना शुरू किया। गाँव और कस्बों को छोड़कर शहर में आये। हमें लगा कि सामन्ती संयुक्त परिवार हमारे विकास में बाधक है। इसलिए हमने संयुक्त परिवार को त्यागकर एकांकी परिवार को बढ़ावा दिया। इसी क्रम में हमने महसूस किया कि बचपन में हमें जिन सुख–सुविधाओं से वंचित रखा गया, वह सारी चीजें हमारे बच्चों को मिलें। हमने अपने बच्चों को बड़े स्कूलों में पढ़ाया–लिखाया, सभी सुख–सुविधाओं का इन्तजाम किया। इसका दुःखद पहलू यह हुआ कि हमने अपने बच्चों से संघर्ष करने का जज्बा और मूल्य छीन लिया।"

"हम सामन्तवादी मानसिकता से समाज को मुक्त नहीं कर पाऐ। हमने आजादी के बाद लोकतन्त्र को तो अपना लिया लेकिन समाज का मूल–ढाँचा सामन्ती ही बना रहा।"

"हमने समाज की आधी आबादी यानी स्त्री को निर्णय–प्रक्रिया से अलग रखा। चूंकि स्त्री को सम्पत्ति के अधिकार से हमेशा बेदखल रखा गया, इसलिए उसकी बात का कोई महत्व नहीं था। यदि हमने स्त्री को समाज और परिवार का बराबर का हिस्सा मानकर सम्पत्ति का अधिकार दिया होता, तो पुरूष वर्चस्व हमारे ऊपर इतना हावी नहीं हुआ होता। और दूसरे, हमने खेती करने वालों को जमीन में हिस्सा नहीं दिया। यानि हमने समाज के दो बहुत बड़े वर्गों को अपनी कृपा पर पाल रखा था कि जिन से जब चाहे छुटकारा पा लें या जब चाहे शामिल कर लें। हमने समाज के बुनियादी ढाँचे में परिवर्तन लाने की कोई कोशिश नहीं की। परिणामतः साहित्य में बुनियादी मुद्दों को चिन्हित ही नहीं किया गया।"[97]

वहीं कथाकार–आलोचक मार्कण्डेय खुलासा करते हैं :

"उस समय की जो मुख्य बहस थी, मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी का जो साहित्यिक संगठन था "प्रलेस", वह यह कहता था कि क्रान्ति बस आने ही वाली है तो प्रोलेटेरियेट जो है वहीं हमारा नायक होना चाहिए, मतलब सर्वहारा। और नई कहानी लेखकों, हम लोगों का कहना था कि सर्वहारा को जब तक क्रान्ति के योग्य नहीं बनाया जाएगा, तब तक वह सर्वहारा नहीं है। वहीं सर्वहारा जब कलकत्ता में जाता है कम्यूनिस्ट पार्टी की मीटिंग्स में तो लाल झण्डा लेकर, लाल सलाम कहता हुआ और वहीं सर्वहारा जब गाँव में आता, तो ठाकुर साहब के लिए धोती लाता, एक बट्टी साबुन लाता, एक बण्डल बीड़ी लाता और सत्यनारायण बाबा की कथा सुनता। तो इस सर्वहारा को समझने की जरूरत है कि वह क्रान्ति के योग्य है कि नहीं, वैचारिक तैयारी उसकी है कि नहीं। तो हम लोगों का मानना था कि विचारधारा के साथ–साथ जरूरी है कि सामाजिक सन्दर्भों पर भी जोर दिया जाय। हमारे सामाजिक सन्दर्भ कैसे हैं, उसकी क्या सच्चाईयाँ हैं, उसकी स्थितियाँ क्या हैं, धार्मिक अन्ध विश्वास है, जातिवाद है, उसमें रूढिवाद है, तो जब तक उसके दिमाग से यह बात नहीं निकलेगी

तब तक वह परिवर्तन के नजदीक नहीं पहुंच सकता।.नई कहानी आन्दोलन का सृजन जो हुआ, इसी आधार पर हुआ हालांकि, आपस में बहसें उस पर थीं।"

"दूसरी बात यह है, कि हमारा पुराना समाज-जो है, उसकी जो परम्परा है वह अन्दर तक घुसा है। वह छोड़ना नहीं चाहता, चिपका हुआ है उससे। तो हमारे जो सामाजिक संस्थान हैं, जातिवाद, शादी, परिवार, तो जब तक इन्स्टीच्यूसन नहीं बदलेगें समाज नहीं बदलेगा। वह पृष्ठभूमि देने की जरूरत है।"

"पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ ही फ्रांस में राज्य क्रान्ति हुई थी लेकिन पूँजीवाद ने हिन्दुस्तान को इतना धोख दिया, कि उसने सामन्तवाद को यहाँ कायम रखा।"

"दूसरा बैकग्राउण्ड ये था, कि हम लोगों ने माँग किया अपने समय में, वह यह कि कथा-आलोचना की कोई परम्परा, कोई विधि हमारे पास नहीं है। फिक्सन के क्रिटिक की जो परम्परा है वह पश्चिम से आयी है। तो हमें उसे अपने सन्दर्भों में देखना होगा और उसी के अनुसार टूल्स गढ़ने होंगे, नये हथियार, नये मानदण्ड स्थापित करने पड़ेंगे। इससे काम नहीं चलेगा कि कहानी पढ़ के आँखों में आँसू आ गया, करूणा उत्पन्न हो गयी मन में, इससे आलोचना नहीं होगी।"

"ऐसा लगता है कि स्त्रियों का अधिक शोषण होता है। राहत उनको नहीं है। एंगिल्स ने, जो मार्क्स के मित्र थे उन्होंने अपनी एक किताब में लिखा है कि 'विमेन इज द डबुल प्रोलेटरियस'। वह दोहरी शोषित है। एक तरफ तो वह समाज की बुनावट से शोषित है, दूसरी तरफ पति से शोषित है। ऐसे में जहाँ तक शोषण का सवाल है, तो स्त्री का पक्ष बहुत प्रबल है।"[98]

फिर प्रख्यात कथाकार अमरकान्त लिखते हैं :-

"एक ओर व्यक्तिवाद की भावुकता और दूसरी ओर साम्यवाद की भावुकता। आश्चर्य है कि दोनों ही अवास्तविकताओं का संसार रच रहे थे। नये लेखक की दृष्टि इन धाराओं के पार अपने समय और समाज पर जमी थी। जहाँ अनेक अन्तर्विरोध और भयावह वास्तविकताएं थी, जिनके बीच में साहित्य को ले जाना चाहता था, ताकि अपने समाज की शक्ति और दुर्बलता, सफलता और असफलता, उसमें पायी जानेवाली मानवीयता और क्रूरता, उसमें रहने वाले आम लोगों के सुख-दुःख, आकांक्षा आदि की

यथार्थ अभिव्यक्ति हो सके। वह समाज से जुड़कर साहित्य में नया बदलाव चाहता था, क्योंकि आजादी के बाद वे शक्तियाँ उभरने लगी थीं, जिन्होनें आन्दोलन में भी भाग लिया था और वे स्वयं अपने जीवन और भविष्य को बदल देना चाहती थीं। अतः नये लेखक की लड़ाई व्यक्तिवादी भावुकता और साम्यवादी भावुकता दोनों से ही थी।"

"नई कहानी के आन्दोलन में उन सबका मंहत्व स्वीकार करना पड़ेगा, जो उससे किसी न किसी रूप से जुड़े थे। परन्तु भैरव प्रसाद गुप्त का योगदान सर्वाधिक और केन्द्रीय महत्व का है। ऐसा क्यो? प्रगतिशील लेखक संघ का सदस्य होने के नाते उनके कुछ अपने विचार थे, लेकिन उन्होनें बदलते हुए समय में तेजी से उभर रहे युवा कहानीकारों का महत्व समझ लिया और उनसे गहरा सम्पर्क भी कायम किया, जिसके बिना कोई कहानी पत्रिका चला लेना कठिन था और इसके द्वारा एक आन्दोलन को फैलाना भी। आन्दोलन इसलिए कि साहित्य में एक धारा थी प्रयोगवाद, व्यक्तिवाद और कलावाद की और कहानी की धारा वस्तुनिष्ठता एवं सामाजिक सोद्देश्यता पर बल दे रही थी।"

"नये कहानीकार दो तरह की समस्याओं से जूझ रहे थे– एक तो राजनैतिक कठमुल्लेपन के विरूद्ध और दूसरा नई कविता आन्दोलन के इस व्यक्तिवादी कलावादी साहित्यिक सोच से कि दुनिया में कहानी विधा की सम्भावनाएं समाप्त हो गयी हैं और प्रेमचन्द तथा अन्य प्रगतिशील रचनाकार द्वितीय कोटि के कलाविहीन, पत्रकार किस्म के लेखक हैं।"

"हिन्दी में कहानी परिदृश्य पूरी तरह बदल गया था। व्यक्तिवादी राजनीतिक कठमुल्लापन और रहस्यमयी दार्शनिकता मे दम तोड़ती कहानियों के स्थान पर समाज से जुड़ी नये ढंग की यथार्थवादी कहानियाँ आ गयी थीं। जो जीवन के अन्तर्विरोधों के बीच से आम स्त्री–पुरूष की नयी संवेदनशील सच्चाइयों को उभार कर सामने रख रही थीं। स्पष्ट है, कहानी आलोचना के नाम पर पहले जो लिखा गया, उससे काम चलने वाला नहीं था और अब नयी रचनाशीलता के लिए नयी आलोचना की भी आवश्यकता थी। अब विचारपक्ष के बड़े–बड़े आदर्शवादी, काल्पनिक अथवा किताबी शब्दों की जरूरत नहीं थी, जो रचना के गुण–दोष को एक खूबसूरत आवरण से ढँक दें और यथार्थ विश्लेषण को बाधित करें।"[99]

तो यहीं वह व्यापक परिवेश था जिसमें कहानियाँ आकार ग्रहण कर रही थीं और इसमें कोई दो राय नहीं कि इसने अपने सफर की शुरूआत वहॉ से की जहाँ प्रेमचन्द ने इसे छोड़ा था। राजेन्द्र यादव अगर कहते हैं तो उसमें कुछ भी गलत नहीं कि "प्रेमचन्द और कुछ अन्य साहित्यकारों ने सामन्ती मूल्यों के खिलाफ लड़ाई लड़ी और वही तो हमारी विरासत है जिनके आधार पर मैं आज बात कर रहा हूँ। उनकी ही रचनाएँ हमें रोशनी दे रही हैं।"[100] इस तरह से नई कहानियाँ प्रेमचन्द का नया भाष्य भी तैयार कर रही थीं।

टिप्पणी

1. वी० पाब्लोव, "भारत का पूँजीवाद में संक्रमण–एक पूर्वाधार", पृ० 21
2. मार्कण्डेय, एक मुलाकात।
3. "अब", शताब्दी अंक 2000–2001, पृ० 16
4. वही, पृ० 25
5. डा० खगेन्द्र ठाकुर, वही, पृ० 21
6. वही
7. वही
8. डा० कुँवर पाल सिंह, "अब" 24/17
9. डा० शिव कुमार मिश्र, वही पृ० 15
10. भीष्म साहनी, उदभावना–अंक 63, पृ० 7
11. "साहित्य और यथार्थ" – हावर्ड फास्ट, पृ० 56
12. वही, पृ० 46
13. "राष्ट्रीय सहारा", नई दिल्ली, रविवार, 13 अप्रैल, 2003, पृ० 9
14. वही, रविवार, 3 नवम्बर, 2002, पृ० 9
15. "आलोचना" (त्रै०) सहस्त्राब्दी अंक तीन, पृ० 137
16. वही, पृ० 63
17. "उद्भावना" अंक 63, पृ० 8
18. वही
19. "साहित्य और यथार्थ", पृ० 45
20. "उद्भावना", अंक 63, पृ० 7
21. वही, पृ० 85
22. "अब" 24/22
23. वही
24. वही, 24/18
25. "इंडिया टुडे", साहित्य वार्षिकी 1997, पृ० 16
26. "नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध", पृ० 158

27. "कुछ विचार", पृ0 18
28. भीष्म साहनी, "कथन", अप्रैल–जून 2001, पृ0 71
29. नामवर सिंह, वही, पृ0 68
30. भीष्म साहनी, "कथन" अप्रैल–जून 2001, पृ0 71
31. नामवर सिंह, वही, पृ0 68
32. "नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध" , पृ0 182
33. वही, पृ0 183
34. वही
35. "अब" शताब्दी अंक 2000–2001, पृ0 18
36. "नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध" – मुक्तिबोध, पृ0 181
37. निर्मल वर्मा से राजेश वर्मा की बातचीत, आजकल, जुलाई, 1996
38. "नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध" – मुक्तिबोध, पृ0 169
39. "प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ" निबन्ध जो नवम्बर 1953 में नया पथ (सम्पादक शिव वर्मा) में प्रकाशित हुआ था। पुनर्प्रकाशित राष्ट्रीय सहारा, 26 नवम्बर, 1997
40. "अब", शताब्दी अंक, 2000–2001, पृ0 28
41. "कथन", अप्रैल–जून 2000–2001, पृ0 68
42. राष्ट्रीय सहारा, फरवरी, 2003 में छपा देवेन्द्र चौबे का लेख "आलोचना का जनतन्त्र"
43. वही
44. वही
45. वही
46. वही
47. वही
48. "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का बोध" – इग्नू की पुस्तिकाएँ
49. "कहानी : नयी कहानी", पृ0 47
50. "प्रेमचन्द की विरासत और गोदान" – शिव कुमार मिश्र, पृ0 115

51. "कहानी : नयी कहानी" – नामवर सिंह, पृ0 191
52. वही
53. "आजादी के बाद का भारत" (1947–2000) – बिपिन चन्द्र, पृ0 185
54. वही, पृ0 190
55. वही, पृ0 89–90
56. कथाकार मार्कण्डेय से व्यक्तिगत बातचीत।
57. "नयी कहानी के वर्ष" – अमरकान्त, तद्‌भव, अंक – 8 अक्टूबर, 2002 पृ0 176
58. वही
59. "गान्धीवाद की शव परीक्षा" – यशपाल, समर्पण में
60. अमरकान्त, एक मुलाकात
61. "गान्धीवाद की शव परीक्षा" – यशपाल, पृ0 129
62. वही, पृ0 13
63. वही, पृ0 14–15
64. अज्ञेय के पत्र जैनेन्द्र के नाम, इंडिया टुडे (साहित्य वार्षिकी) 1997, पृ0 29
65. एजाज अहमद से रमेश उपाध्याय की बातचीत, कथन, अप्रैल–जून 2001, पृ0 61
66. वही
67. अज्ञेय के पत्र जैनेन्द्र के नाम, इंडिया टुडे (साहित्य वार्षिकी) 1997 पृ0 28
68. वही, पृ0 29
69. "गान्धीवाद की शव परीक्षा" – यशपाल, पृ0 78
70. वही, पृ0 79
71. अज्ञेय के पत्र जैनेन्द्र के नाम, इंडिया टुडे (साहित्य वार्षिकी) 1997 पृ0 29
72. एजाज अहमद से रमेश उपाध्याय की बातचीत, कथन, अप्रैल–जून 2001, पृ0 60
73. रोमिला थापर की "भारत का इतिहास" एवं डी0 एन0 झा की "प्राचीन भारत – एक रूपरेखा" देखी जा सकती है।

74. हमारे सपने पूरे नहीं हुए – शेखर जोशी, राष्ट्रीय सहारा, नई दिल्ली, रविवार, 13 अप्रैल, 2003
75. एजाज अहमद से रमेश उपाध्याय की बातचीत, कथन, अप्रैल–जून, 2001, पृ0 63
76. "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" – एम0 एन0 श्री निवास पृ0 106
77. "स्वतन्त्र भारत : विकास की ओर 1947–1964" – इग्नू की पुस्तिकाएँ
78. वही
79. द्रष्टव्य है – "भारतीय सामन्तवाद" – राम शरण शर्मा, "प्राचीन भारत – एक रूपरेखा" डी0 एन0 झा, "भारतीय इतिहास में मध्यकाल" – इरफान हबीब।
80. द्रष्टव्य है – "आधुनिक भारत" (1885–1947) – सुमित सरकार, "आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास"– सव्य साची भट्टाचार्य "भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि" – ए0 आर0 देसाई
81. द्रष्टव्य है – "आधुनिक भारत" (1885–1947) – सुमित सरकार, "आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास" – सव्यसाची भट्टाचार्य।
82. वही
83. द्रष्टव्य है – "भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि" – ए0आर0 देसाई।
84. द्रष्टव्य है– "आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास" – सव्यसाची भट्टाचार्य।
85. "आधुनिक भारत" (1885–1947) – सुमित सरकार, पृ0 53
86. "आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास" – सव्यसाची भट्टाचार्य, पृ0 69
87. "आधुनिक भारत" (1885–1947) – सुमित सरकार, पृ0 52
88. द्रष्टव्य है – "आजादी के बाद का भारत" (1947–2000) – विपिन चन्द्र, "स्वतन्त्र भारत : विकास की ओर 1947–1964" इग्नू की पुस्तिकाएं।
89. वही
90. वही
91. वही
92. "आजादी के बाद का भारत" (1947–2000) – बिपिन चन्द्र, पृ0 508
93. वही, पृ0 508–9

94. वही, पृ0 516

95. वही, पृ0 513

96. "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" – एम0 एन0 श्रीनिवास पृ0 103–4

97. राजेन्द्र यादव से दिलीप चौबे की बातचीत, राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) शनिवार, 20 जून 1998

98. मार्कण्डेय से व्यक्तिगत बातचीत।

99. नयी कहानी के वर्ष –अमरकान्त, "तद्भव", अंक–8, अक्टूबर, 2002

100. राजेन्द्र यादव से दिलीप चौबे की बातचीत, राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) शनिवार, 20 जून 1998

❑ ❑ ❑

अध्याय - 3
सामाजिक
सांस्कृतिक दृष्टिकोण

सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण

किसी भी रचना पर रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है और रचना उसको प्रतिबिम्बित भी करती है लेकिन ध्यान देने योग्य है कि व्यक्तित्व, व्यक्ति से सम्पृक्त ही हो सर्वथा, यह कोई अनिवार्य शर्त भी नहीं है। अर्थात, व्यक्ति विचारों से नहीं बनता लेकिन व्यक्तित्व विचारों से प्रभाव ग्रहण कर सकता है। व्यक्ति भौतिक जरूरतों से यथाक्षण परिचालित होता है लेकिन व्यक्तित्व में बहुत कुछ योग उसके अवचेतन का भी होता है जिसमें संस्कार और समय का द्वन्द्व विशेष भूमिका निभाता है अर्थात परम्परा और आधुनिकता तथा तमाम विचारधाराओं के सम्पर्क में वह निर्मित होता है तथा अन्ततः अपना एक पक्ष चुनता है। और, यहीं से एक रचनाकार का व्यक्तित्व, व्यक्ति से अलग होने लगता है। एक खिलन्दड़ व्यक्ति गम्भीर रचनाएँ लिख सकता है तो वहीं एक गम्भीर व्यक्ति हास्य–व्यंग्य की रचनाएँ लिख सकता है। अतः व्यक्ति का विकास जिस रास्ते होता है, बिलकुल उसी रास्ते व्यक्तित्व का भी विकास हो, ऐसा जरूरी नहीं। मुक्तिबोध के शब्दों में यह वाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तर के वाह्यीकरण से जुड़ा है,'जो हो, कला आभ्यन्तर के वाह्यीकरण का एकरूप है।'[1] और जब फ्रायड कहता है कल्पना से फिर यथार्थता में आने का सचमुच एक रास्ता है और वह है – कला।[2] तो वह रचनाकार व्यक्तित्व का ही एक पक्ष रखता है। एक रचनाकार का व्यक्तित्व इसी निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया के तहत बनता है अतः रचना के बनने में उसके सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी अपना विशिष्ट योग देते हैं। और यह, तत्काल प्राप्त हुई कोई चीज नहीं होती बल्कि व्यक्तित्व–विकास के क्रम में ही निर्मित होती चलती है।

3.1. व्यक्तित्व विकास

यह तथ्य उल्लेखनीय है कि शोध–विषय के दोनों कहानीकारों की चेतना का निर्माण जिस समय हो रहा था (1930–1942) वह भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का सबसे संक्रमित समय और परिवर्तनकारी दौर था। एक तरफ आस्थाएँ बदल रही थीं, तो दूसरी तरफ पक्षधरता की स्पष्ट घोषणाएँ हो रही थीं। एक तरफ सम्प्रदायवाद खुलकर सामने आने लगा था, तो दूसरी तरफ समाजवाद और मुखर हो रहा था।

इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन में यह दौर निचले उभारों का था। जनता अपना नेतृत्व खुद कर रही थी और इसी के बीच से नेता उभर रहे थे और सबसे महत्वपूर्ण थे किसान आन्दोलन। इन सभी की अभिव्यक्ति काँग्रेस के 1937, फैजपुर अधिवेशन और 1938, हरीपुरा अधिवेशन में होती है, जिसकी अध्यक्षता जवाहर लाल नेहरू एवं सुभाष बाबू कर रहे थे। इसमें अगर सोवियत समाजवादी कल्याणकारी नीतियों और सुधारों को अपनाया गया तो वहीं द्वि–राष्ट्र के सिद्धान्त को एक सिरे से नकारा गया।

किसान आन्दोलनों ने सरकार के साथ साहूकार–जमीन्दार जुगलबन्दी के लिए भी चुनौती पैदा की जिससे प्रतिक्रियात्मक सामाजिक शक्तियाँ (प्रभुवर्ग) या तो सम्प्रदायवाद की ओर झुक जा रही थीं, या फिर गान्धीवाद का पिछला दरवाजा उनके लिए सुरक्षित सिद्ध हो जाता था। ऐसे ही माहौल में दोनों कहानीकारों का रचनात्मक व्यक्तित्व निर्मित होना था।

मार्कण्डेय जी कहते हैं, "मेरा घर पूरा गान्धी विचारों से भरा हुआ था, इसी में मेरा निर्माण हुआ। बहुत प्रभाव था गान्धी का। प्रतापगढ़ में आने के बाद नरेन्द्रदेव से मुलाकात हुई उनके सम्पर्क में आया और किसान आन्दोलन वहाँ देखने को मिला। अवध के तालुकेदारियों में जो आन्दोलन हुआ उसका प्रभाव बहुत ज्यादा हुआ। अवध में बड़ी–बड़ी जमीन्दारियाँ थीं, पचास–पचास गाँव एक–एक के पास थी, तो वहाँ जनता का अनन्त शोषण होता था, उससे मुझे एक पीड़ा हुई, क्षोभ हुआ।"

लेकिन बिलकुल यही स्थिति पूर्वांचल (पू०उ०प्र०) में नहीं थी कूपलैण्ड के अनुसार, पड़ोसी बिहार की तुलना में संयुक्त प्रान्त में खेतिहर तनाव कम थे जिसका आंशिक कारण 'लगान के भुगतान के मामले में पंडित नेहरू द्वारा' मंत्रिमण्डल को 'मूल्यवान' समर्थन दिया जाना था। उदाहरण के लिए 23 अप्रैल 1938 को नेहरू ने इलाहाबाद के किसानों को सलाह दी कि वे काँग्रेस सरकार के कार्य को सुचारू रूप से चलने दें और उसमें बाधा न डालें।[3] जबकि बिहार के किसान काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल के पहले ही अधिवेशन में कवायद करते हुए सीधे असेम्बली भवन में जा घुसे और कुछ समय तक वहाँ की सीटों पर जमे रहे।[4] बिहार में 1930 की शरद से लेकर 1939 के मध्य तक मालगुजारी की वसूली एकाएक गिर गयी और प्रायः जमीन्दारों को फसल की रक्षा करने के लिए सशस्त्र पुलिस टुकड़ियों की आवश्यकता होती थी। यहाँ के

इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन में यह दौर निचले उभारों का था। जनता अपना नेतृत्व खुद कर रही थी और इसी के बीच से नेता उभर रहे थे और सबसे महत्वपूर्ण थे किसान आन्दोलन। इन सभी की अभिव्यक्ति काँग्रेस के 1937, फैजपुर अधिवेशन और 1938, हरीपुरा अधिवेशन में होती है, जिसकी अध्यक्षता जवाहर लाल नेहरू एवं सुभाष बाबू कर रहे थे। इसमें अगर सोवियत समाजवादी कल्याणकारी नीतियो और सुधारों को अपनाया गया तो वहीं द्वि–राष्ट्र के सिद्धान्त को एक सिरे से नकारा गया।

किसान आन्दोलनों ने सरकार के साथ साहूकार–जमीन्दार जुगलबन्दी के लिए भी चुनौती पैदा की जिससे प्रतिक्रियात्मक सामाजिक शक्तियाँ (प्रभुवर्ग) या तो सम्प्रदायवाद की ओर झुक जा रही थीं, या फिर गान्धीवाद का पिछला दरवाजा उनके लिए सुरक्षित सिद्ध हो जाता था। ऐसे ही माहौल में दोनों कहानीकारों का रचनात्मक व्यक्तित्व निर्मित होना था।

मार्कण्डेय जी कहते हैं, "मेरा घर पूरा गान्धी विचारों से भरा हुआ था, इसी में मेरा निर्माण हुआ। बहुत प्रभाव था गान्धी का। प्रतापगढ़ में आने के बाद नरेन्द्रदेव से मुलाकात हुई उनके सम्पर्क में आया और किसान आन्दोलन वहाँ देखने को मिला। अवध के तालुकेदारियों में जो आन्दोलन हुआ उसका प्रभाव बहुत ज्यादा हुआ। अवध में बड़ी–बड़ी जमीन्दारियाँ थीं, पचास–पचास गाँव एक–एक के पास थी, तो वहाँ जनता का अनन्त शोषण होता था, उससे मुझे एक पीड़ा हुई, क्षोभ हुआ।"

लेकिन बिलकुल यही स्थिति पूर्वांचल (पू0उ0प्र0) में नहीं थी कूपलैण्ड के अनुसार, पड़ोसी बिहार की तुलना में संयुक्त प्रान्त में खेतिहर तनाव कम थे जिसका आंशिक कारण 'लगान के भुगतान के मामले में पंडित नेहरू द्वारा' मंत्रिमण्डल को 'मूल्यवान' समर्थन दिया जाना था। उदाहरण के लिए 23 अप्रैल 1938 को नेहरू ने इलाहाबाद के किसानों को सलाह दी कि वे काँग्रेस सरकार के कार्य को सुचारू रूप से चलने दें और उसमें बाधा न डालें।[3] जबकि बिहार के किसान काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल के पहले ही अधिवेशन में कवायद करते हुए सीधे असेम्बली भवन में जा घुसे और कुछ समय तक वहाँ की सीटों पर जमे रहे।[4] बिहार में 1930 की शरद से लेकर 1939 के मध्य तक मालगुजारी की वसूली एकाएक गिर गयी और प्रायः जमीन्दारों को फसल की रक्षा करने के लिए सशस्त्र पुलिस टुकड़ियों की आवश्यकता होती थी। यहाँ के

गाँव सहजानन्द के संघर्षशील नारों से गूँजते रहते थे।[5] लेकिन ध्यान देने वाली बात है कि समाजवादी या कम्यूनिस्टी प्रभाव और झुकाव के बावजूद किसान सभा अनिवार्यतः छोटे जोतधारियों अथवा काश्तकारों के रूप में ऐसे किसानों की ही सभा थी जिनके पास थोड़ी जमीन थी। इसमें भूमिहारों की प्रधानता थी, हरिजनों या आदिवासी खेतिहर मजदूरों की नहीं[6] फिर भी एक बात तो हुई कि जमीन्दारों का दबाव काँग्रेस के भीतर कमोवेश बना रहा या बढ़ा ही वहीं राष्ट्रीय आन्दोलन से असम्पृक्त जमीन्दारों के अन्दर किसान आन्दोलनों को लेकर आशंका की स्थिति भी बनी होगी। यही कारण है कि ग्राम कहानीकार होने के बावजूद शिव प्रसाद सिंह में भूमि–समस्याएँ उठायी ही नहीं गयी हैं। जबकि मार्कण्डेय की प्रारम्भिक कहानियों में प्रभुतापरक करूणामूलक सोच ही अधिक है। यद्यपि, कि वे उससे जल्द ही मुक्त होते दिखते हैं लेकिन शिव प्रसाद सिंह का लेखन कभी भी उससे मुक्त नहीं हो सका।

दूसरी तरफ इन दोनों कहानीकारों ने रचनात्मक शुरुआत 20–22 की उम्र में की। यह अवस्था स्वयं में सबसे बड़े तर्क के रूप में रहती है। उसकी सोच, उसकी समझ, उसकी व्याख्या, उसकी जानकारी सही, बाकी सबकुछ गलत। यही कारण है कि दोनों कहानीकार आरम्भिक रचनाओं में यथातथ्यवाद को यथार्थवाद समझने की भूल कर बैठते हैं या फिर उसे रूमानी बना देते हैं। नामवर सिंह लिखते हैं, ''इन किशोर कहानीकारों के पास एक ही चीज की कमी है और वह है पैनी सामाजिक दृष्टि। लोक–जीवन का मुग्ध–चित्रण अपने–आप में कोई बहुत ऊँची चीज नहीं है और न साध्य ही।''[7] मार्कण्डेय का रचनात्मक व्यक्तित्व इससे जूझता है और निरन्तर प्रौढ़ होता जाता है लेकिन शिवप्रसाद सिंह का रचनात्मक व्यक्तित्व स्पष्टता से अस्पष्टता की ओर तथा व्यक्तिवाद की कन्दरा की तरफ मुड़ता जाता है। इतना ही नहीं वे गाँवों को छोड़ मुरदासरायों की ओर रूख कर जाते हैं। यद्यपि कि शिव प्रसाद सिंह के रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण पीड़ा को लेकर ही हुआ था। जैसा कि वे लिखते हैं, ''मैंने कलम उठाई ही नहीं होती, यदि उन अमानवीय चालों, क्रियाकलापों ('आर–पार की माला' की पृष्ठभूमि), यहाँ तक कि सगे खून के रिश्तों को भोथरे हथियारों से रेत–रेत कर कटते हुए न देखा होता। अक्सर लोग यही जानते हैं कि लेखक एक बड़े जमींदार परिवार का सदस्य है। लोग यह भूल जाते हैं कि यदि कर्ज की कमाई पर

गुलछर्रे उड़ाता तो कलम पकड़ने की जरूरत न होती। वैसे भी कर्ज की अदायगी और जवान बेटियों की शादी में तीन मौजों की सारी जमीन बिक गयी।"[8] बेली ने 'जातियों की आर्थिक परिधि' में दिखाया है कि क्षत्रियों के कर्जों में शादी–विवाह के दौरान रूढ़ि पालन और रश्म अदायगी तथा अन्य परम्पराओं के पालन के दौरान लिये गये पैसे होते थे। शिव प्रसाद सिंह आगे लिखते हैं, "पस्त–हिम्मती, काहिली और घोर निराशा के तमस् में उस तथाकथित जमीन्दार–परिवार में फ़ाके होने लगे। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि बारह–बारह बैलों के होते हुए भी गोबर को खाद के रूप में इस्तेमाल न करने के बावजूद घर में उपले नहीं होते थे। मैं बुरी तरह टूटने लगा। घर में नीच जातों से भी ज्यादा गन्दी–गन्दी बातें बकी जातीं। आपस में जूती–पैजार तो होती थी, औरतों में झोंटौवल भी रोज–रोज होती।"[9] लेकिन इन स्थितियों ने शिव प्रसाद सिंह के अन्दर जो विद्रोह उत्पन्न किया वह वैयक्तिक तो रहा ही दृष्टिकोण में भी वह दयामूलक ही बना रहा जो अभिजन सहित्य–रुचि रहा है। उनके व्यक्तित्व का समर्पण सामाजिकता में न होकर सत्य के विस्फोट, व्यक्तिगत नायकत्व एवं विशिष्ट चरित्रों की तलाश में लगा रहा। वे खुद को वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भों से जोड़ने में असफल रहे। वे अपनी भूमिका तय नहीं कर पाए। वे देखते तो देख पाते कि उनकी बेचैनी, पीड़ा का एक मात्र समाधान सामाजिकता और पक्षधरता के रास्ते होकर ही जाता था जिससे वे लगातार बचते रहते हैं जबकि मार्कण्डेय लगातार उससे जुड़ते जाते हैं।

ऐसा नहीं है कि यह सिर्फ शिव प्रसाद सिंह के ही अनुभव की चीज है या सच्चाई का ऐसा रूप केवल उन्हीं ने देखा बल्कि यह हर युग के अनुत्पादक, परोपजीवी वर्ग के विघटन और पतन की सच्चाई है। कितना अच्छा होता यदि शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का वाद अनजाने ही सही, इस रास्ते होकर भी जाता है जैसा कि लेनिन ने टाल्सटाय के साहित्य के बारे में सोचा था।

3.2. पक्षधरता

" सच्चाई कोई सेव नहीं है कि कोई भी उसे उठा ले। सत्य या तो इस पक्ष की तरफ है या उस पक्ष की तरफ। एक लेखक को सत्य की प्रकृति की पड़ताल करके पक्ष चुनना होगा। सच्चाई तटस्थ नहीं, पक्षधर है।" – हावर्ड फास्ट[10]

पक्षधरता, पार्टी का झण्डा नहीं होता जैसा कि कभी–कभी समझ लिया जाता है बल्कि वह, वस्तुगत ऐतिहासिक विकास क्रम की पड़ताल करके नये सन्दर्भों में अपनी भूमिका तय करना होता है। 'रचनाकार के पास अपने समाज को देखने–समझने के लिए ऐतिहासिक–दृष्टि सम्पन्नता का होना बहुत जरूरी है। खाली प्रभावों से कुछ नहीं होता।[11] ऐतिहासिकता से मतलब खाली घटनाएँ नहीं होती बल्कि घटनाओं की प्रकृति होती है जिसकी पड़ताल की बात हावर्ड फास्ट करता है। यह एक प्रक्रिया है जो हर समय में चलती रहती है और प्रत्येक लेखक को इससे जूझना चाहिए। वस्तुगत सन्दर्भों की पहचान लेखक का खास दाइत्व बनता है वरना यथार्थ सिर्फ यथार्थ बनकर रह जाय।

बतौर अमरकान्त, मनुष्य का इतिहास एक तो यह है कि उसमें संघर्ष की परम्परा है, प्रकृति की क्रूर शक्तियों को वश में करने की साहसी चेष्टाएँ हैं, ज्ञान–विज्ञान का विकास है। उन सबसे हम जुड़ते हैं। दूसरी बात यह है कि जिस देश या जिस क्षेत्र के हम होते हैं उसके भी इतिहास के अपने विशेष सन्दर्भ होते हैं। उसकी सफलताएँ–असफलताएँ होती हैं। उनसे हम जूझते हैं। उसके अन्तर्विरोधों से गुजरते हुए दृष्टि को विकसित करते हैं, जैसे प्रेमचन्द ने किया हर जागरूक लेखक यही सब करता है।[12] और इसीलिए प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि लेखक स्वभाव से प्रगतिशील होता है। क्योंकि प्रगतिशील जीवन दृष्टि एक ऐतिहासिक दृष्टि भी होती है। यह दृष्टि दो स्तरों पर कार्य करती है। एक तो वह स्वस्थ मानवीय परम्पराओं को स्वीकार करती है उनको आत्मसात करती है और उनको नई वाणी भी देती है – और साथ ही मृत, अनुपयोगी और प्रतिगामी परम्पराओं को अस्वीकार करती है।[13] लेखक या साहित्यकार लिखता या लिखने के लिए बाध्य ही इसलिए होता है कि उनकी परम्परा से टकराहट है। जैसे ही वह किसी नतीजे पर पहुँचता है स्वयं अपने निष्कर्षो पर प्रश्नचिन्ह लगाने लगता है यानि लेखक का काम लोगों को सोचने के लिए उकसाना है। उन्हें सोचा हुआ थम्हाना नहीं।[14]

जबकि एक व्यापक घिराव का परिवेश निर्मित हो रहा हो, समय और समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा हो, सर्वत्र संकट और संशय का वातावरण हो, तब रचनाकार का कार्य सिर्फ रचना कर देना भर नहीं है। उसे ऐसी रचना करनी है जो

संकट के इस भयानक रूप को उजागर करे और आदमी के भीतर उससे लड़ने की हिम्मत पैदा करे।[15]

इस प्रकार पक्षधरता कोई नारा नहीं है बल्कि मौजूदा माहौल की संवीक्षा और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भों की पहचान के साथ जीवन, जनता और आम आदमी के पक्ष में मुठभेड़ करने का अवसर देना है। हर परिस्थिति में अन्याय, घृणा, हिंसा का विरोध करने और मानवीय गरिमा की स्थापना करना है। परम्परा को समझाना और उसे सही रास्ते पर लाना है क्योंकि परम्परा पालने से ज्यादे जरूरी होता है उसका इतिहास जानना। यह तभी सम्भव है जब हम सच्चाई की पक्षधरता स्वीकार करते हैं और सच्चाई भी खालिस नहीं बल्कि ऐतिहासिकता की समझ से विकसित आम आदमी की तरफदारी और सामाजिकता से संपृक्त सच्चाई।

3.3. कहानी साहित्य और राजनीति

"कहानीकार अपने भावबोध से कहानी लिखता है। भावबोध में उसकी राजनीतिक समझ होती है। वह खुद भी राजनीतिक आदमी होता है। इन्हीं से उसका भावबोध बनता है। जीवन, कला, संस्कृति, साहित्य आदि से व्यापक लगाव और निर्मम कठोर अभ्यास से कहानी लिखने का काम बनता है। राजनीति की प्राणवायु से कहानी का सौन्दर्यशास्त्र बन जाता है। विचारधारा के भावना में ढल जाने पर तथा कहानी में भली प्रकार व्यक्त हो जाने पर सौ कर्मशास्त्र की रूपरेखा तैयार हो जाती है।"

— अमरकान्त[16]

राजनीति से साहित्य सदैव प्रभावित रहा है। पूरे भक्तिकाल को राजनीति से अलग करके नहीं देखा जा सकता। कबीर की 'चलती चक्की' राजनीतिक दशा को ही प्रतिबिम्बित करता है जिसमें आम जनता पिसती है। एक तरफ धर्म और समाज के स्थानीय हथकण्डे हैं तो दूसरी तरफ शासक के डण्डे। इस चीज को तुलसीदास ने भी समझा था वरना उन्हें 'रामचरित मानस' के आदर्शों की जरूरत नहीं पड़ती। 'कहाँ जाई का करी' तथा 'भूमि चोर भूप भये' जैसी पीड़ा कबीर की देखी 'चलती चक्की' का ही भाष्य है जो साहित्य की राजनीतिक समझ को ही प्रस्तुत करता है। क्योंकि राजनीति साहित्यकार के लिए साहित्य का व्यवहार पक्ष है। दोनों परस्पर एक दूसरे से

टकराते हुए आगे बढ़ते हैं – उनके बीच चलने वाला द्वन्द्वात्मक सहयोग उन्हें समृद्ध और विकसित करता है।[17]

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि साहित्य, राजनीति से चालित कोई चीज है बल्कि यह सामाजिक उपयोगिता के मानदण्ड का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है इसलिए कला और साहित्य के विज्ञान में, राजनीतिक मानदण्ड को उसका सही स्थान प्रदान करना चाहिए।[18] अर्थात प्रेमचन्द के शब्दों में साहित्य, राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।[19] और प्रेमचन्द ने अपने व्यवहार से सिद्ध कर दिया है कि साहित्य देश के राजनीतिक उत्थान का साधन बन सकता है। साहित्य के इस व्यापक प्रभाव को भुला देना उतना ही भ्रामक है जितना यह माँग करना कि साहित्य को राजनीति से दूर रखा जाय।[20]

(i) पक्षधरता और राजनीति तथा शिव प्रसाद सिंह

शिव प्रसाद सिंह पक्षधरता और प्रतिबद्धता को अलग करते हुए मानते हैं कि प्रतिबद्धता का प्रश्न उनके लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं है जो किसी निश्चित पार्टी, राजनीति या व्यवस्था से प्रतिबद्ध है। प्रतिबद्धता का प्रश्न सिर्फ उन लेखकों के लिए है जो लेखन के व्यक्ति–स्वातन्त्र्य में पूर्ण आस्था रखते हैं और मानव नियति से सम्बन्धित हर समस्या को वस्तुनिष्ठ ढंग से देखना चाहते हैं। बाहर से आक्रान्त और भीतर से विदीर्ण इस नये राष्ट्र के साहित्यकारों के लिए प्रतिबद्धता का प्रश्न आत्मविश्वास और आस्था का प्रश्न है।[21] पुनः 'अंधेरा हँसता है' के उपस्थापन में वे लिखते हैं, आज सामाजिक प्रतिबद्धता का नारा और युगीन प्रासंगिकता की बातें तो बहुत सुनाई पड़ती हैं पर सामाजिक प्रतिबद्धता केवल नारे की चीज नहीं होनी चाहिए। समाज के दलित, शोषित, पीड़ित वर्ग के प्रति सही दृष्टि जीवन से सीधे उद्‌भूत होती है, बशर्ते आपकी दृष्टि मानव नियति को सही ढंग से सहानुभूतिपूर्वक समझने में कतराती न हो। अपनी जमीन पर खड़े ये पात्र जो असलियत की गवाही देते हैं वह सबसे बड़ी प्रतिबद्धता है और लेखक यथार्थ की इसी भाव–भंगी को पकड़ने के लिए सर्वथा प्रतिबद्ध रहा है।[22]

जाहिर है शिवप्रसाद सिंह के लिए पक्षधरता एक नारा है जिसे वे प्रतिबद्धता कहते हैं या, फिर वह आस्था और आत्मविश्वास का प्रश्न है न कि, पार्टी, राजनीति या व्यवस्था का। ऐसे में शिव प्रसाद सिंह की 'सही दृष्टि' 'सहानुभूति' से सनी ही हो सकती है न कि किसी चेतना के निर्माण से। और, वह समाज के दलित, शोषित और पीड़ित के प्रति प्रभुत्तापरक दयावादी करूणामूलक दृष्टि ही हो सकती है जो कि शिव प्रसाद सिंह की आस्था है और यहीं प्रतिबद्धता भी।

गौरतलब है, कि अम्बेडकर ने दलित–उत्थान के लिए राजनीतिक हिस्सेदारी की माँग की थी क्योंकि उन्हें पता था कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में किसी भी परिवर्तन का रास्ता राजनीतिक रास्ते से होकर ही आता है क्योंकि आर्थिक–सामाजिक हितों और शक्तियों का प्रतिनिधित्व उसी के माध्यम से होता है। वी0पी0 सिंह का 'सामाजिक न्याय' हो या पी0वी0 नरसिम्हाराव का आर्थिक उदारीकरण या, फिर वर्तमान फाँसीवादी उभार सभी ने राजनीति के माध्यम से ही उसे अंजाम दिया है। वर्तमान व्यवस्था में राजनीति ही परिवर्तन का एक जरिया है क्योंकि सारी शक्तियाँ उसी में केन्द्रित हो रही हैं। ऐसे में शिव प्रसाद सिंह द्वारा प्रतिबद्धता का प्रश्न राजनीति या व्यवस्था से सम्बन्धित न मानकर आस्था और आत्मविश्वास का प्रश्न मानना बेहद हास्यास्पद और बचकाना लगता है।

साहित्य अगर व्यवस्था के लिए नहीं लड़ेगा तो फिर किसके लिए लड़ेगा? तब तो एक ही रास्ता बचता है कि वह साहित्य को 'कला, कला के लिए' मानता है जबकि शिव प्रसाद सिंह इससे इनकार करते हैं[23] लेकिन उनकी कहानियाँ उसी रास्ते होकर जाती हैं। उनकी कोई भी कहानी व्यक्तिवादी मोह से मुक्त नहीं। और ऐसा हर उस लेखक के साथ होगा जो, पक्षधरता, राजनीति, व्यवस्था को साहित्य से अलग मानकर चलेगा। उसे पता नहीं कि जिस मानवतावाद, सामाजिकता और यथार्थ की वह बात करता है बिना पक्षधरता के महज कोरी लफ्फाजी ही होती है। शिव प्रसाद सिंह भी इसका दम्भ खूब भरते हैं लेकिन उनकी कहानियाँ एक दूसरा ही सच बयान करती हैं जिसमें से सामाजिकता, यथार्थ, मानवतावाद एक सिरे से गायब रहता है और अगर कुछ रहता है तो वहीं शास्त्रीय करूणामूलक दृष्टि (सहानुभूति) तथा व्यक्तिवाद और यथार्थ के नाम पर विद्रूपता एवं यथातथ्यता।

आजादी के बाद रचना–समय को संकट से घिरा होने में सन्देह नहीं जो कि 'युग और परिवेश' में दिखाया जा चुका है, फिर भी शिव प्रसाद सिंह प्रतिबद्धता को पक्षधरता से अलगाते हुए 'आस्था और आत्मविश्वास' का प्रश्न बना देते हैं। यह प्रकारान्तर से चली आ रही आध्यात्मिकता का ही आधुनिक संस्करण है, एक कुहेलिका, एक भ्रम जो सदैव से प्रतिक्रियात्मक शक्तियों के हाथों में पड़कर गैर–सामाजिक कला–मूल्यों और नैतिकता का निर्माण करता रहा है।

भले ही शिव प्रसाद सिंह इससे अनभिज्ञ हों लेकिन यह गौरतलब है कि किसी भी तथ्य का अपने अनुसार मतलब निकालना प्रभुता एवं प्रतिक्रियात्मक शक्तियों की निशानी है और अमेरिका इसकी ताजा मिसाल है जो वैश्विक लोकतन्त्र के नाम पर कहीं फाँसीवाद को बढ़ावा दे रहा है तो वहीं मानवता के रक्षा के नाम पर दूसरे देशों में जाकर नागरिक अधिकारों का दमन कर रहा है।

शिव प्रसाद सिंह इससे अछूते नहीं क्योंकि उनके संस्कार सामाजिक प्रभुता के दायरे में ही विकसित हुए, उन्होंने वहीं अभिरूचि ग्रहण की और सोने पे सुहागा यह हुआ कि उन्होंने खुद को ऐतिहासिक भौतिक सच्चाइयों से दूर रखा यही कारण है कि वे प्रतिबद्धता को आस्था और आत्मविश्वास से जोड़कर व्यक्तिगत बना देते हैं तथा मानवतावाद, सामाजिकता एवं यथार्थ की व्याख्या सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सन्दर्भो से काटकर करते हैं। इसी के साथ वे कहानियों में उतरते हैं जिसके चलते उनकी अधिकांश कहानियाँ बिना किसी केन्द्रीय उद्देश्य के चलती हैं और कहीं भी, किसी भी समय बिना किसी निष्कर्ष के समाप्त हो जाती हैं। कुछ समझ में नहीं आता कि कहानी लिखी क्यूँ गयी है, खाली समय काटने के लिए या, फिर पीड़ितों, उपेक्षितों को सहानुभूति एवं करूणा का चरणामृत पिलाने के लिए।

शिव प्रसाद सिंह यह भूल जाते हैं कि दया, करूणा, सहानुभूति और मनुष्यता की बात करने से पीड़ितों, उपेक्षितों या हाशिये पर जीवन बिताने वालों के अधिकार सुनिश्चित नहीं होते बल्कि भौतिक विकास के ऐतिहासिक क्रम को समझकर उनके लिए अपनी पक्षधरता सुनिश्चित करने से ही वह दाइत्व पूरा होता है जो राजनीति और व्यवस्था से अलग होकर नहीं किया जा सकता।

(ii) पक्षधरता और राजनीति तथा मार्कण्डेय

मार्कण्डेय की चेतना का निर्माण राजनीतिक सम्पर्कों में ही हुआ था। उनके बाबा कांग्रेस की मीटिंगों में जाया करते थे एवं उनका घर गान्धी साहित्य से भरा पड़ा था, फिर वे प्रतापगढ़ में आचार्य नरेन्द्रदेव के सम्पर्क में आए अर्थात कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी जो एन्टी गान्धी न होकर गाँधीवाद से ही निकली एक शाखा थी। लेकिन इलाहाबाद में आते–आते वे मार्क्सिस्ट हो चुके थे। ‒बखुद मार्कण्डेय, चेतना पर जो प्रभाव है वह प्रतापगढ़ का है। बाइफर्केशन जो चेतना का हुआ, परिवर्तन जो चेतना में, विचारों में हुआ, वह तो सब प्रतापगढ़ में हुआ। फाइट की, संघर्ष की, प्रतिरोध की, असहमति की जो प्रवृत्तियाँ आयीं मन में कि चाहे दीवार टूटे न लेकिन उसमें खरोंच लगाते रहो, किसी न किसी हाथ से टूट जाएगी कभी न कभी लेकिन, अपना काम करते रहो। तो, यह सब प्रवृत्तियाँ प्रतापगढ़ में विकसित हुईं और वे जाग्रत हुईं कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी से और वो कम्यूनिस्ट पार्टी तक पहुँच गयीं। जब मैं इलाहाबाद आया तो मैं मार्क्सिस्ट होकर आया पूरी तरह से हालाँकि, मैं कभी भी किसी मार्क्सवादी पार्टी का मेम्बर नहीं हुआ लेकिन ये है कि मैं पूरी तरह से मार्क्सिस्ट होकर ही आया।[24]

यह बिलकुल जरूरी नहीं है कि हर लेखक कम्यूनिस्ट या मार्क्सिस्ट हो लेकिन कम्यूनिज्म के यथार्थ से साक्षात्कार जरूरी है। मानवता से प्रेम जरूरी है लेकिन मनुष्य के संघर्षों के वस्तुगत यथार्थ से सम्बन्ध बनाए बिना मानवता के प्रति प्रेम या आदर की कल्पना नहीं की जा सकती।[25] इस बात को मार्कण्डेय ने समझा था और वे निरन्तर उससे जूझते हैं। वे व्यक्ति को उसके सामाजिक–आर्थिक सन्दर्भो से अलग करके नहीं देखते जबकि शिव प्रसाद सिंह लिखते हैं, मैं मनुष्य को, उसकी समस्याओं को अपने ढंग से देखना चाहता हूँ [26] उनके लिए मनुष्य से बड़ी कोई इकाई नहीं, मनुष्यता से बड़ा कोई मजहब नहीं।[27] जाहिर है अपने ढंग से देखने में न तो मनुष्यता टिकेगी और न ही उसकी समस्याओं का कोई समाधान क्योंकि इस 'अपने ढंग' तथा 'आस्था और आत्मविश्वास की प्रतिबद्धता' ने समस्याएँ तो पैदा कीं लेकिन समाधान छुच्छ ही रहा।

हावर्ड फास्ट लिखते हैं, मनुष्य को उसकी सम्पूर्ण महिमा में देखना जरूरी है, उसकी आज की महिमा और कल की सम्भाव्य महिमा। क्योंकि अगर कोई यह नहीं देखता तो वह टी०एस० इलियट और फ्रेंच काफ्का के दिखाए दयनीय अन्धेरे रास्ते पर

चला जाएगा। विश्वास जरूरी है, लेकिन स्वयं जिन्दगी के वस्तुगत यथार्थ से अलग कोई स्थाई आस्था नहीं है।[28] जबकि अब्दुल बिस्मिल्लाह लिखते हैं, मार्क्सवाद के अलावा कोई ऐसी विचारधारा दुनिया में है ही नहीं जो सामाजिक पहलुओं का वैज्ञानिक विवेचन कर सके। इस तरह यह एक परफैक्ट वैज्ञानिक दर्शन है जिससे लेखन को जोड़ना खुद को सही रास्ते पर लाना है।[29] और यहीं मार्कण्डेय के लिए भी अभीष्ट है तथा सामाजिक प्रतिबद्धता का आधार भी।

3.4. व्यक्ति और समाज

शिव प्रसाद सिंह लिखते हैं, कर्म को लेकर 'व्यक्ति और समाज' में कशमकश चलती रहती है। व्यक्ति के कर्मों के बारे में सोचने की प्रक्रिया वही नहीं है जो समाज की है। समाज आवरण मूलक सत्यों या मूल्यों का हिमायती होता है, जबकि इकाई अपने भोगे हुए अनुभव और कमाए हुए सत्य को चाहकर भी भुला नहीं सकती।[30] शिव प्रसाद सिंह व्यक्ति और समाज में विरोध पाते हैं जिसमें उनका पक्ष व्यक्ति है। 'मनुष्य से बड़ी कोई इकाई नहीं है, मनुष्यता से बड़ा कोई मजहब नहीं है।'[31] फिर वे मानते हैं कि मनुष्य को केवल एक ही प्रकार से अवगत किया जा सकता है और वह है उसकी *सम्पूर्ण परिस्थितियों के बीच स्थिति का अवबोध*[32] लेकिन वे इसे स्पष्ट नहीं करते और *दार्शनिकता* की तरफ मुड़ जाते हैं जैसे ब्रह्मसत्य और जगत मिथ्या वैसे ही मनुष्य सत्य और समाज मिथ्या। मनुष्य समाज निरपेक्ष होकर स्वतन्त्रता और मूल्यों के साथ पैदा होता है। वे लिखते हैं, मानव पदार्थ अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकारों से संवलित है।[33] और शिव प्रसाद सिंह इसी अधिकार के साथ कहानियों में उतरते हैं और यही कारण है कि उनकी कहानियाँ विशिष्ट चरित्रों को ही ढूंढती फिरती हैं।

वे आगे लिखते हैं, चूँकि मानव सत्य हमेशा ही परिस्थितियों से आवेष्टित है, इसलिए चरित्र का तात्पर्य इन परिस्थितियों के सही रूपों का विश्लेषण है।[34] यह ठीक वही अन्दाज है जैसे कि शंकर माया को निरावृत्त करके ब्रह्मसत्य को पाते हैं वैसे ही, शिव प्रसाद सिंह परिस्थितियों के सही रूपों के विश्लेषण से मानव सत्य पाते हैं जिसका सामाजिकता से कोई नाता नहीं होता क्यूँकि 'समाज आवरण मूलक सत्यों या मूल्यों का हिमायती होता है' और 'मानव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकारों से संवलित है'।

शिव प्रसाद सिंह के लिए व्यक्ति का भोगा हुआ सत्य महत्वपूर्ण है। जाहिर है, कि समाज का भी सच वही नहीं हो सकता क्यूँकि समाज एक सामूहिक इकाई है। व्यक्ति का भोगा सत्य आपस में भिन्न हो सकता है और विशिष्ट भी लेकिन समाज सामूहिकता से निर्मित होता है अतः व्यक्ति के भोगे हुए सत्यों से विरोध के बावजूद न तो वह अवैध या गलत हो जाता है और न ही उसकी भूमिका और महत्व कम हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि मनुष्य अन्ततः एक सामाजिक प्राणी है। और, समाज कोई विस्फोट से उत्पन्न इकाई नहीं है अपितु भौतिक परिस्थितियों एवं जरूरतों से उत्पन्न इकाई है जो निरन्तर गतिशील एवं परिवर्तनशील रहती है। मार्क्स लिखता है, मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।[35]

समाज के नियम सामान्य होते हैं, सामूहिक होते हैं न कि बाध्यकारी। शिव प्रसाद सिंह जिस समाज को व्यक्ति स्वतन्त्रता और निजता के विपरीत पाते हैं वस्तुतः वह प्रभुता का संस्कार दोष है जिसे समाज पर आरोपित किया जाता है। समाज सदैव समूहों की जरूरतों का प्रतिबिम्ब होता है।[36] अगर कोई समाज आवृत्त सत्य को प्रतिबिम्बित करता है, तो वह समाज का दोष न होकर उस वर्ग का दोष है जो उस पर शासन करता है तथा सामाजिक शक्ति और सत्ता का उपभोग करता है। फ्रेडरिक एंगेल्स 'कला का आर्थिक और सांस्कृतिक आधार' में लिखता है, आर्थिक संबंधों से, जिन्हे हर समाज के इतिहास का निर्णायक आधार मानते हैं, हमारा अभिप्राय वह पद्धति तथा विधि है जिसके अनुसार समाज विशेष के लोग अपनी जीविका के साधनों को पैदा करते हैं और एक दूसरे के साथ पैदावार का विनिमय करते हैं और एक तकनीक के रूप में वह पैदावार के वितरण को भी निश्चित करती है, और इसके साथ ही गोत्र–समाज के भंग होने के बाद, समाज के वर्गों में बँटवारे को फलतः स्वामी–दास सम्बन्धों को तथा इनके साथ राज्य, राजनीति, कानून आदि को निश्चित करती है।[37]

शिव प्रसाद सिंह अगर चीजों के भौतिक स्वरूप को ऐतिहासिक सन्दर्भों में देखते तो उन्हें पता चलता कि वे जिस सत्य को समाज से अलगाते हैं वह उसी बुर्जुआ तथा अर्द्ध सामन्ती नैतिकता का ही परिणाम है, जिसे वे खुद हिकारत की नजर

से देखते हैं।[38] लेकिन, विचारधारा की स्पष्टता के अभाव में उसी का अनुसरण भी कर जाते हैं।

इस तरह शिव प्रसाद सिंह जहाँ व्यक्ति–चरित्रों की विशिष्टता को ढूंढने एवं उनके अन्तर्विरोधों को समझने में दिमाग खपाते हैं वहीं मार्कण्डेय सामाजिक चरित्रों, वर्गगत चरित्रों एवं अन्तर्विरोधों से निरन्तर जूझते हुए आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं, विचारधारा के साथ–साथ जरूरी है कि सामाजिक सन्दर्भों पर भी जोर दिया जाय, हमारे सामाजिक सन्दर्भ कैसे हैं, उसकी क्या सच्चाइयाँ हैं, उसकी स्थिति क्या है! दूसरी बात यह कि हमारा पुराना समाज जो है, उसकी जो परम्परा है, वह अन्दर तक घुसा है। उसके संस्थान जातिवाद, शादी, परिवार आदि सामन्तवादी ढाँचे के अन्तर्गत ही बने रहे तो जब तक इन्स्टीट्यूशन नहीं बदलेंगे समाज नहीं बदलेगा। सामाजिक परिवर्तन को वह पृष्ठभूमि देने की जरूरत है और यह लेखकीय दाइत्व भी बनता है।[39]

3.5. स्त्री उपेक्षिता

शिव प्रसाद सिंह लिखते हैं, "मैं 'सिमोन द बोउवा' के 'सेकेण्ड सेक्स' का प्रशंसक रहा हूँ। इसलिए नारी चित्रों के बारे में मुझे जितनी पाठकीय समझदारी मिली, उतनी पुरुषचित्रों के बारे में नहीं। मैं नारी को अलग–अलग सत्ता मानकर नहीं समाज की क्रिया शक्ति मानकर उसके बारे में विचार करता हूँ।

अतिसामान्य नारी ही मेरे लेखन में चित्रित है, मैं वर्गभेद नहीं करता क्योंकि नारी में मुझे वर्गगत भेद कम नजर आए।"[40] ऐसा नहीं है कि शिव प्रसाद सिंह सिर्फ *स्त्रियों के ही बारे में ऐसी राय रखते हैं, दरअसल, वे प्रत्येक वर्गगत भेदों से तौबा* करते हैं वरना उन्हें यह नागवार न गुजरता, कि "प्रेमचन्द की ग्राम–कथाएं वर्गगत चरित्रों के सामाजिक खाने में बँटे कर्मों के तै–शुदा अर्थों को प्रधानता देती थीं।"[41] इसीलिए वे प्रेमचन्द को "सामाजिक यथार्थ के बाहरी रूपों" का सफल कथाकार मानते हैं। सामाजिक यथार्थ के अन्दरूनी रूप शिव प्रसाद सिंह के ही शब्दों में "निजी अनुभव और भोगे हुए सत्य हैं"[42] इतना ही नहीं यह व्यक्तिवादी मोह और आत्म ग्रस्तता उनकी कहानियों का भी रंग खूब गाढ़ा करती है।

बाकी, नरी सम्बन्धी दृष्टिकोण में शिव प्रसाद सिंह मर्यादावादी ही हैं अर्थात आधुनिकता के कलेवर में प्रभुतावादी शुचिता और शुद्धता जो "अनिता चटर्जी" जैसी कहानी पर भड़क उठती है। लिखते हैं, "दादावादी" कहानीकार उस प्रत्येक नारी को कमजोर लड़की कहते हैं, जो पारिवारिक घेरे को तोड़कर क्लब और रेस्त्रां में उनके साथ प्रेम का तकाजा नहीं निभा पातीं"।[43] शिव प्रसाद सिंह के साथ दिक्कत वहीं है जो वे चीजों को वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भों से परे रखकर समझने की कोशिश करते हैं। जिस सीमोन द बोउवा के "सेकेण्ड सेक्स" का प्रभाव वे स्वीकार करते हैं उन्हीं का कथन उसी पुस्तक में है कि "स्त्री का अपवित्र होना स्वाभाविक है।"[44] इसका मतलब यह नहीं है कि स्त्री बेलगाम हो गयी, बल्कि सेक्स एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और स्वाभाविक सेक्स को प्रभु परक नैतिकता वादियों द्वारा अपवित्र करार दे दिया गया है। और, इसी नैतिकता से शिव प्रसाद सिंह भी घिरे हुए हैं, शिव प्रसाद सिंह इस सत्य में विश्वास करते हैं, कि सारी चीजों का नियामक मनुष्य का अद्वितीय दिमाग होता है, न कि उसकी भौतिक जरूरतें।

मार्कण्डेय पूंजीवादी सभ्यता से दो–दो हाथ करने वाले रचनाकार हैं इसलिए उनके यहां भ्रम के कुहाँसे नहीं, जो थे भी, वे "गुलरा के बाबा" के साथ ही चले गये थे, फिर पोखरे में विलीन पान–फूल हो गये। उनकी दृष्टि इतनी साफ हो जाती है कि पूँजीवाद की हर चालाकी को पकड़ लेते हैं। उसके हर हथकण्डे को पहचान लेते हैं, "पूँजीवादी समाज में मानवीय रिश्तों को सर्वथा समाप्त कर देने की विलक्षण शक्ति है।"[45] इतना ही नहीं वे उसका विच्छेदन भी करते हैं जो महाजोत बनाए हुए है, "समितियाँ सरकारी हैं और सरकार जनतान्त्रिक। जनता भूखी है और तन्त्र पूँजी पतियों के हाथ में सिमटता जा रहा है। सदियों की समाज–व्यवस्था टूट रही है और जो बन रहा है उसे पहचानने के लिए नयी भौतिक दृष्टि की जरूरत है। और आज का भौतिक जीवन–बोध परम्परागत मान्यताओं के लिए चुनौती हो उठा है। जिसे स्वीकार करने का मतलब है बाजार से उपेक्षा, इनामी समितियों और सरकारी साहित्यकारों से तिरस्कार और पूँजीशाहों से दुश्मनी। जो दामन बचाकर निकल रहे हैं वे भ्रम की सृष्टि कर रहे हैं और भ्रम पूँजीवादी बाजार का सबसे तेज बिकने वाला सौदा है"।[46]

ऐसी दृष्टि से पूँजीवादी समाज में फँसी स्त्री भला कैसे न दिखती। "सिवाय पर्दों और छिपावों के गहरे कुहासों के और क्या है औरत, लेकिन इसका मतलब यह भी तो नहीं होता कि वह कपड़े उतार फेंके और हमारी आज तक की सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक उपलब्धि को नकारने पर उतर आए! लेकिन औरत की उस घुटन का क्या जबाब है, जहाँ वह निजत्व के सम्पूर्ण सन्दर्भ से च्युत होकर बाजार के शो–केसों में नंगी खड़ी हो, बिकने के लिए भी नहीं, बिकने वाली वस्तुओं में नकली लालसा पैदा करने के लिए, खरीददार का मन सहलाने के लिए! यानि चकलाखाने से भी दो कदम आगे जाकर, नारी–देह नहीं उसकी प्रतिच्छाया तक को शोषित करने वाला पूँजीवादी समाज उस हर मूल्य को बिक्री के योग्य वस्तु बना लेता है, जो किसी भी तरह बाजार में बिक सके। इसलिए धर्म और परम्पराओं की निरन्तर मार से कुंठित औरत अभी साँस भी नहीं ले पायी थी कि व्यवसाय ने उसके रहे–सहे रूप का भी बीमा करा लिया।"[47]

मार्कण्डेय स्त्री–इतिहास को ही नहीं बल्कि उसकी भावी भूमिका की भी पड़ताल कर जाते हैं। उनकी हर नारी पात्र इसीलिए पूँजीवादी समय के घेराव के विरूद्ध खड़ी रहती है चाहे वह "प्रिया सैनी" हो चाहे गाँव की, वर्ग–चेतना से कोसों दूर, मंगी। दोनों ही उन हथकण्डों को पहचानती हैं जिसमें आज की औरत जाने–अनजाने फँस जाती है। कहना न होगा कि आज जबकि पूँजीवाद ने अपनी प्रचण्डता दिखानी शुरू कर दी है अर्थात उसका फॉसीवादी–प्रतिक्रियावादी चेहरा खुलकर सामने आ रहा है, औरत ही वह सामाजिक इकाई है, जो उससे दो–दो हाथ कर सकती है तथा उसके लोकतान्त्रिक मानवतावादी मुखौटे को बेनकाब कर सकती है क्योंकि उसकी मार सबसे अधिक उसी पर पड़ती है। और, यह आकस्मिक नहीं कि 1990 के दशक में महिला लेखन का बोलबाला रहा है। एक तरफ प्रभाखेतान की "छिन्नमस्ता"। वही, गीतांजली श्री की "हमारा शहर उस बरस" है तो अलका की "कलिकथा, वाया बाईपास"। यह सब पूँजीवाद के हर मुखौटे से संघर्ष करती प्रतीत होती है। इसे मार्कण्डेय ने बहुत पहले ही पहचान लिया था। कहना लाजिमी है कि प्रेमचन्द के अधूरे काम को आज की महिला लेखिकाएँ ही सही अंजाम दे रही हैं।

लेकिन स्वतन्त्रता के बाद के समयों में इस वाणी को, प्रखरता को, प्रतिरोध को मार्कण्डेय ने अपने बूते पर जिन्दा रखा था। उन्होंने युगों से चली आ रही, स्त्री के उस तेवर को पहचाना था जो अब तक हाशिए पर पड़ी हुई थी। "कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए" उनकी इसी स्त्री सम्बन्धी सोच को बयान करती है, जहाँ उसे किसी नैतिकता और दया की जरूरत नहीं बल्कि वह अपनी भूमिका खुद तय करने के मूड में है।

स्त्री–मुक्ति के सवाल पर मर्कण्डेय चीन के मुक्ति–संघर्ष को याद करते हुए कहते हैं, चीन में जब संघर्ष चल रहा था। मुक्ति–संग्राम, माओ के नेतृत्व में, उस समय चीन की स्थिति बहुत खराब थी, तो वहाँ का जो विमेन फेडरेशन था, बहुत विशाल संगठन के रूप में उभरा और मुक्ति–संग्राम की लड़ाई में साथ–साथ हिस्सेदारी रही उसकी। तो, चीन लिबरेट हुआ, मुक्त हुआ तो सबसे पहले स्त्रियों की मुक्ति के सारे प्रयास किए गये। जैसे कि, प्राइमरी स्कूलों में यह बाधित कर दिया गया कि पुरूष की नियुक्ति नहीं होगी जहाँ तक सम्भव होगा लड़कियाँ ही रखी जाएंगी। इसके बाद उन्हें लाइब्रेरी में काम दिये गये, उनको स्टेशन पर इनक्वायरीज में काम दिया गया। इस तरह एक–एक करके स्त्रियों को सारे देश में काम पर लगाया गया। उनके देश का कानून बदला गया लेकिन हमारे देश में इस तरह का कुछ नहीं हुआ।

जबकि, हमारे देश में इन्दिरा गान्धी जैसी नेता हुईं लेकिन स्त्रियों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ आज आप देखते है टी0वी0 पर नंगा पांव कर देने से लिबरेशन हो जाएगा तो वह लिबरेशन नहीं है। यह पूँजीवाद से घिरी स्त्री की डबुल गुलामी है जैसे कि फाँसीवाद में घुँघटे वाली स्त्री डबुल गुलामी में फंसी हुई है। लिबरेशन तो तब होगा जब स्त्रियाँ सहभागी होंगी, आपके साथ काम करने की स्थिति में होंगी।[48]

इस तरह मार्कण्डेय ने स्त्री–मुक्ति को सर्वहारा की मुक्ति से जोड़कर देखा है, जो उनकी कालजयी कहानी "दूध और दवा" का प्रतिपाद्य विषय बनता है कि स्त्रियाँ और मजदूर अपने मालिकों को क्यों ओढ़े हुए हैं? लेकिन वहीं शिव प्रसाद सिंह सीमोन द बोउवा की "सेकेण्ड सेक्स" का आधा–अधूरा ज्ञान पिटारा लेकर कहते हैं कि स्त्री में वर्गभेद मैं नहीं करता। वे यह भूल जाते हैं कि "सेकेण्ड सेक्स" एक अस्तित्ववादी नजरिए से लिखी गयी रचना है जो स्त्री की समस्याओं को सर्वहारा की समस्याओं से

अलग करके देखने की कोशिश करती है लेकिन कही भी वह वैज्ञानिक समाजवाद को नजर अन्दाज करके नहीं चलती।

सीमोन एक जगह मानती हैं कि मनुष्य जाति में स्त्री–पुरूष का विशिष्टीकरण वास्तव में सिर्फ प्रजनन से सम्बन्धित नहीं होता।[49] लेकिन पुनः अपने अस्तित्ववादी आग्रह के चलते वे प्रजनन को ही स्त्री–दासता का मूल कारण कहती हैं लेकिन सीमोन यह भी मानती हैं कि पितृसत्तात्मक सत्ताओं के विकास के साथ पुरूष अपनी संतति के लिए अपने अधिकार का दावा करने को आतुर हो उठा।[50]

पितृसत्तात्मक शक्तियों का विकास उत्पादन के साधनों पर अधिकार और सम्पत्ति की अवधारणा से अलग नहीं। प्रजनन और भरण–पोषण की समस्या या स्त्री की दासता, सम्पत्ति की अवधारणा के साथ ही आती है। स्त्री के ऊपर अधिकार और संरक्षण का दावा भी इसी के साथ हुआ तथा विवाह जैसी संस्था सामने आयी ताकि उस सम्पत्ति का जायज वारिस ढूढ़ा जा सके। स्त्री के स्वतन्त्र रहने से ऐसा करना असम्भव होगा क्योंकि तब यह निश्चित करने का दावा सिर्फ स्त्री के पास ही रहेगा कि उसकी सन्तान का पिता कौन है?

आज भी अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिसमें प्रजनन एवं भरण–पोषण के आधार पर वे कत्तई सुरक्षात्मक नहीं हुई हैं और, न ही दासता स्वीकार की है बल्कि वे श्रम में बराबर की हिस्सेदारी करती है और इसी के आधार पर वे पति को कभी भी छोड़कर दूसरे के पास चले जाने का अधिकार भी रखती हैं। यहाँ प्रजनन और भरण पोषण कोई बाधा नहीं उत्पन्न करता। इसके पीछे कारण है तो सिर्फ यही कि उनके पास संरक्षित सम्पत्ति या अचल सम्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं होता। उनकी जिन्दगी श्रम पर ही टिकी है जिसे बेचकर वे अपना भरण–पोषण करती हैं इसमें पति की भूमिका बहुत मायने नहीं रखती सिवाय सहकर्मिता के।

तो, स्त्री मुक्ति की लड़ाई वैज्ञानिक समाजवाद की लड़ाई से अलग नहीं बशर्ते कि पुरुष प्रभुता भी साथ में पराजित हो, यहीं वह अलग हो जाती है जहाँ उसे पुरूष प्रभुता से भी लड़ना पड़ता है। एक गुलामी उसकी वह है जहाँ उसे सम्पत्ति के अधिकार से वंचित किया गया है, दूसरी गुलामी उसकी वह है जहाँ वह पुरूषों के संरक्षण मे रखी जाती है। मार्कण्डेय ने "दूध और दवा" के माध्यम से स्त्री–मुक्ति को

इन्हीं सन्दर्भों में रखकर सर्वहारा की मुक्ति से जोड़ा है लेकिन शिवप्रसाद सिंह का दृष्टिकोण संरक्षणवादी है जो वर्गगत भेद देखने से इनकार करता है। दरअसल यह स्त्रियों के माध्यम से वर्गीय संरचना से भी इनकार है क्योंकि अन्ततः वे प्रभुपरक या बुर्जुआयी नैतिकता की ही पंगत में आते हैं।

3.6 वर्गगत चेतना

मार्कण्डेय का मानना है, कि हमारे यहाँ सामाजिक रूपान्तरण नहीं हुआ। पूँजीवाद ने हमारे यहाँ सामन्तवाद को जिन्दा रखा और यही कारण है कि यहाँ वर्गीयचेतना का विकास नहीं हो पाया। इसलिए हमें सामाजिक सन्दर्भों को जांचने और वर्गीय चेतना को आधार प्रदान करने की जरूरत है। यह एक लेखकीय दाइत्व भी बनता है।[51] जबकि शिव प्रसाद सिंह वर्गीय चेतना की कोई बात नहीं करते क्यूँकि उन्हें राजनीति या व्यवस्था के प्रति पक्षधर होना लेखकीय स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप लगता है। लेकिन, तब उनका मानवतावाद तथा उनकी मनुष्यता की पुकार किस आधार पर टिकी है, समझ से परे है! क्योंकि उसके लिए एक राजनीतिक व्यवस्था की जरूरत होती जो समाज की आर्थिक संरचनाओं पर टिका होता है। केवल मानवतावाद फिर तो एक ढोंग भर है। मानवतावाद अकेले में कोई व्यवस्था नहीं होती बल्कि वह राजनीतिक व्यवस्था द्वारा भौतिक जरूरतों के समायोजन से ही सम्भव होती है और यह तभी जाना जा सकता है जब ऐतिहासिक दृष्टि के साथ-साथ वर्गीय चेतना की भी परख हो लेकिन शिव प्रसाद सिंह पहले ही घोषित कर चुके हैं कि उनके लिए प्रतिबद्धता आस्था और आत्म विश्वास का प्रश्न है। इतना ही नहीं वे रंज खाते हैं कि कुछ ग्राम कहानियाँ राजनीतिक चश्में से देखी गयी हैं।[52] यह सोच अन्ततः शिव प्रसाद सिंह को उसी जमात में खड़ी कर देती है जिसमें पूँजीवादी और प्रतिक्रियावादी साहित्य फलता फूलता है।

कुँवर पाल सिंह लिखते हैं, यह मनुष्य से व्यक्ति, व्यक्ति से व्यक्तिवादी और अहंवादी बनाने में निपुण है।.....यह विचारधारा मानव समाज की वास्तविक समस्याओं से बचना चाहती है। इसके लिए मनुष्य नदी का द्वीप है। वह निरन्तर अकेला है। भीड़ उसे निगल जाती है। संगठन उसके व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है। यह दृष्टि मनुष्य

विरोधी तथा अवैज्ञानिक है। मनुष्य का मूल्यांकन उसके सामाजिक सम्बन्धों और वास्तविकताओं के बीच रखकर ही किया जा सकता है।[53] इसके अभाव में कोई भी रचनाकार न तो पतनशील अवस्थाओं को समझ पाता है और न ही, परिवर्तनकारी शक्तियों को देख पाता है। शिवप्रसाद सिंह के साथ भी यही दिक्कत है जिसके चलते उनकी कहानियाँ सत्य का विस्फोट करने में ज्यादे दिलचस्पी लेती हैं। सध गया, तो तीर, नहीं तो तुक्का।

ऐसे लोगों के पास न तो कोई कसौटी होती है न कोई विचारधारा। जबकि कोई सार्थक लेखन ऐसा नहीं होता जिसके पास जीवन और जगत की व्याख्या करने वाली कोई सामाजिक कसौटी और विचारधारा न हो। हर साहित्य का अपना वैचारिक पक्ष होता है।[54] लेकिन शिवप्रसाद सिंह पक्षधरता से बिदकते हैं और प्रतिबद्धता पर मुग्ध भी होते हैं तो उसे राजनीति और व्यवस्था से अलग कर "आस्था और आत्म विश्वास" के बल पर शुद्ध मानवता की खोज में लग जाते हैं जो अन्ततः सामन्तवादी और पूँजीवादी प्रतिक्रियात्मक फाँसीवादी शक्तियों को ही फायदा पहुँचाता है।

शीतयुद्ध में पूरे बुर्जुआ तन्त्र ने प्रचारित करने का प्रयास किया कि साहित्य का विचार धारा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जो साहित्य किसी विचारधारा पर आधारित होता है, वह साहित्य नहीं, प्रोपेगेंडा है। साहित्य का आदर्श अत्यन्त उच्च होता है। वह ऊँचे और आध्यात्मिक मूल्यों की खोज करता है। उसका कार्य बाह्य संसार का चित्रण नहीं बल्कि व्यक्ति के आन्तरिक संसार का प्रामाणिक चित्रण करना है।[55] अतः इसके लिए जरूरी हो जाता है कि "निजी अनुभव और भोगा हुआ सत्य" इसकी एकमात्र कसौटी बने न कि वस्तुवादी ऐतिहासिकता। ऐसे में वह वर्ग-संघर्षो एवं वर्ग चेतना, वर्ग विभेद आदि को नहीं स्वीकार करेगा जैसा कि शिव प्रसाद सिंह भी करते हैं।

ऐतिहासिकता और वर्ग चेतना का अभाव ही है कि शिव प्रसाद सिंह के पास पीड़ितों और उपेक्षितों को देने के लिए सिर्फ सहानुभूति, करूणा और दया है, न कि कोई व्यवस्था। पीड़ितों, उपेक्षितों और हाशिए पर पड़ी जातियों पर शिव प्रसाद सिंह की निगाह खूब अड़ती है लेकिन वैसे ही जैसे गान्धी का अछूतोद्धार, जिसका समाधान वे आध्यात्मिक नैतिकता से हल करना चाहते हैं और शिव प्रसाद सिंह सहानुभूति द्वारा। गाँधी के पास आध्यात्मिक मानवतावाद है, तो शिव प्रसाद सिंह के पास अपने

ढंग का मानवतावाद। और दोनों की खासियत यह है कि उसमें से ठोस आर्थिक भूगोल तथा भौतिक समाधान गायब रहता है।

इस अपने ढंग का ही नतीजा है कि "समाज के दलित, शोषित, पीड़ित वर्ग के प्रति सही दृष्टि जीवन से उद्भूत होती है, बिना किसी व्यवस्था के "सहानुभूति" के साथ। इस "सही दृष्टि" की इतिश्री इतने से हो जाती है, कि भई, उनकी जिन्दगी बड़ी दारूणमय और व्यथायुक्त है! लेकिन इसके लिए हो क्या, जिसमें इस व्यथा का अन्त हो! शिव प्रसाद सिंह के लिए साहित्य का उद्देश्य यहीं तक सीमित है क्योंकि आगे बढ़ने पर लेखकीय स्वतन्त्रता तो खतरे में पड़ती ही है, विचारधारा, राजनीतिक पक्षधरता के प्रवेश का खतरा भी बढ़ जाता है जो शिव प्रसाद सिंह के लिए वर्ज्य है क्योंकि इससे निजी अनुभव और भोगा हुआ यथार्थ भी खंडित हो सकता है!

उनका विश्वास है कि वर्ग चेतना से बड़ी निजी इकाई की चेतना है और इसी निजी इकाई में उनकी आस्था भी है। इसीलिए, वे खुद को प्रेमचन्द की परम्परा से अलग शिव प्रसादियन परम्परा का लेखक मानते हैं क्योंकि प्रेमचन्द के चरित्र वर्गगत चरित्र हैं।[56] यही कारण है कि शिव प्रसाद सिंह की सही दृष्टि दलितों और उपेक्षितों के प्रति करूणा और दया में मनुष्यता का उपस्थापन ढूंढती है, न कि किसी व्यवस्था में, राजनीति में या फिर वर्ग–संघर्षों के इतिहास में।

3.7 जातीयता

शिव प्रसाद सिह लिखते हैं, "जातीय साहित्य का अर्थ है, किसी देश का वह साहित्य, जो असली अर्थों में वहाँ का साहित्य कहा जा सके, जिसमें उस देश की जनता के दुःख, संघर्ष, इच्छाओं, आकांक्षाओं को अंकित करने का प्रयत्न किया गया हो, वहाँ की सांस्कृतिक विरासत को समझते हुए समाज और जीवन में संघर्षरत स्वस्थ और विकासशील तत्वों को प्रेरित किया जाता हो, मनुष्य के बाहरी और भीतरी जीवन में पड़ने वाले नाना प्रकार के प्रभाव का सही विश्लेषण किया गया हो। ऐसे साहित्य को हम उस देश का साहित्य कहते हैं। इसी प्रकार का साहित्य किसी देश की जनता का सही प्रतिनिधि होता है"।[57]

पहली बात यह कि साहित्य को समाज का आइना कहा जाता है और परिवेश का प्रभाव उस पर पड़ता है ऐसे में प्रत्येक देश का साहित्य उसकी जनता के सुख–दुःख से ही जुड़ा होगा और सांस्कृतिक विरासत से अलग नहीं होगा क्यूंकि व्यक्ति स्वयं उसी का अंग होता है और उसे आगे बढ़ाता है। लेकिन, गौरतलब है कि यह सांस्कृतिक विरासत कोई शाश्वत विधान नहीं होता बल्कि वह खुद समय के साथ नया होता रहता है तथा विकासमान तत्वों को ग्रहण करता रहता है। तो, हर देश का साहित्य, उस देश का जातीय साहित्य ही होता है ऐसे में शिव प्रसाद सिंह का कहना है कि कुछ शहरी कथाएं जातीय साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती, एक अविवेकपूर्ण रवैये और दृष्टि की तरफ इशारा करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि शिव प्रसाद सिंह बदलते शहरों की प्रकृति और प्रवृत्ति को पकड़ने में विफल हैं और जातीयता को अलौकिकता की तरफ मोड़ देते हैं।

शहरी कथाओं मे चित्रित नारियों का विश्लेषण करते हुए वे उन कहानियों को जातीय साहित्य का कलंक और अभारतीय तक करार देते हैं।[58] इससे उनकी भारतीयता सम्बन्धी दृष्टि साफ होती है जो वैसी ही भारतीयता के खाने में बैठती है जहाँ हिन्दुत्ववादी भारतीयता रहती है।

इसी क्रम में वे कहते हैं कि हमारे नगरों के जीवन में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष जितना तीव्र है, उतना अभी गांवों में नही है जबकि उसी दौर में लिखी गयी एम0एन0 श्रीनिवास और बेली की पुस्तकें, "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" तथा "जातियों की आर्थिक परिधि" कुछ दूसरा ही तथ्य सामने रखती हैं और खुद शिवप्रसाद सिंह की कहानियों (खैरा पीपल कभी न डोले, किसकी पाँखे) में यह बात उभरती है। सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष कभी न रूकने वाली प्रक्रिया है, जिसका इतिहास वर्ग–संघर्षो के इतिहास के साथ ही जुड़ा हुआ है तथा निरन्तर गतिशील रहा है। यह कोई गाँव और नगर की बात नहीं है बल्कि यह प्रत्येक युग से जुड़ी हुई बात है जिसकी प्रतिध्वनि कभी रामायण–महाभारत में सुनायी पड़ती है, तो कभी जातक व पुराण कथाओं में और हमारा भक्ति–साहित्य तो उसी गूँज के बीच अलख जगाने का नाम ही है। ऐसे में शिव प्रसाद सिंह का जातीयता सम्बन्धी

दृष्टिकोण और सामाजिक–सांस्कृतिक संघर्षों का विभाजन उस "अपने ढंग की सही दृष्टि" को ही आगे बढ़ाता है जो पीछे हम इसी अध्याय में देख आए हैं।

3.8 परम्परा और आधुनिकता

शिव प्रसाद सिंह का परम्परा सम्बन्धी दृष्टिकोण तो बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है और जो शेष बचता है उनकी कहानियाँ स्पष्ट कर देती हैं। जिसमें, शाश्वत नैतिकता और मूल्यों की ही प्रधानता है। इसे आगे के अध्याय में स्पष्टता एवं विस्तार मिलेगा।

आधुनिकता के सम्बन्ध में शिव प्रसाद सिंह ने "धारा" कहानी की पृष्ठभूमि में कुछ प्रकाश डाला है, "आधुनिक संस्कृति की धारा के बीच कुछ ऐसे द्वीप हैं जो उसमें पूरी तरह घुल मिल नहीं सके। संघर्ष जारी है। आदिम जीवन के संस्कारों को हमारी आधुनिक सभ्यता तोड़ रही है, पर ऐसे चरित्र हैं जो पूरी तरह उस धारा में नहीं आए। ये धारा में आएं, मैं इसका समर्थक हूँ। मैं आधुनिक जीवन की प्रगति और भविष्योन्मुखी महायात्रा में आस्था रखता हूँ, पर धारा में कूदने या बहा लिए जाने का दर्द भी समझना चाहता हूँ।"[59] अब इस आधुनिक जीवन के स्वरूप में अगर देखें तो वहाँ "साड़ी, ब्जाउज जैसे आकर्षण"[60] हैं तथा "शहर में नौकरी आधुनिक सभ्यता की नई उपलब्धि"[61]। आसानी से समझा जा सकता है कि शिव प्रसाद सिंह के लिए आधुनिकता किसी विचारधारा से ताल्लुक नहीं रखती। बल्कि, वह मानव के लिए आकर्षण और उपलब्धि है। जैसे, ये नयी चीजें हो, जिसके आने से समय आधुनिक हो गया। अब इसमें यह बात समझ से परे है कि साड़ी, ब्जाउज का आकर्षण नया है या नौकरी की उललब्धि। यानि इसके पहले ये सब आदमी की जरूरतों से जुड़ी हुई नहीं थी।

शिव प्रसाद सिंह के अनोखे दृष्टिकोणों का यह अगला पड़ाव है, जो एक अन्धी गली का निर्माण करता है। एक ऐसी खोह जिसमें जाने के पदचिन्ह तो हों लेकिन वापसी के नहीं। और, ऐसा इसलिए होता है कि शिवप्रसाद सिंह के पास कोई विचारधारा नहीं है अगर है तो "आस्था और आत्मविश्वास" जैसी अमूर्त धारणाएं तथा

सहानुभूति जैसी खालिस भावनाएं। इन्हीं अन्तरालों में वे जातीयता, नारी, परम्परा, आधुनिकता, सामाजिक–सांस्कृतिक संघर्षों को जाँचते परखते हैं।

उनकी जातीयता या भारतीयता सम्बन्धी सोच बिलकुल उसी मुहाने पर पहुँचती है जहाँ भारतीय संस्कृति को फांसीवादियों ने ले जाकर छोड़ा है। यहीं नही वे जब नारी सम्बन्धी विचार करते हैं, तो उनके सामने पूर्वोत्तर की नारियों, पश्चिमोत्तर की नारियों या सुदूर दक्षिण की नारियों का कोई चित्र नहीं होता, उनकी कोई परम्परा नहीं होती। यहीं नहीं नारी संबन्धी उनकी नैतिकता प्रभुवादी नैतिकता से बिलकुल भिन्न नहीं। भारतीय नारी के रूप में वे सामन्तवादी शुद्धता का ही एक रूप प्रस्तुत करते हैं जिसमें से पंजाबी, दकनी तथा पूर्वोत्तर की स्त्रियों के रूप गायब रहते हैं। यही नहीं वे नारियों के रूप में गैर प्रभु वर्ग की नारियों से भी अपरिचित हैं, उनकी चेतना के स्वरूप से अपरिचित है जबकि हमारे हिन्दी साहित्य में ही "रामायण" से लेकर "भविष्यत्तकहा" तथा सूरदास की नारियां उस चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं जो श्रमिक संस्कृति से जुड़ी हुई है।

ध्यान देने वाली बात है कि हमारे भक्ति साहित्य में नारी सम्बन्धी दो परम्परायें मिलती हैं। सीता अगर अनुत्पादक परोपजीवी प्रभु संस्कृति से जुड़ी हैं, तो राधा उत्पादक एवं सहजीवी कृषक–श्रमिक संस्कृति से। सीता का धर्म राम के धर्म से अलग नहीं सीता राम पर निर्भर है जबकि राधा कहीं भी कृष्ण पर निर्भर नहीं बल्कि उसका एक अलग अस्तित्व रहता है, वह सहकर्मिणी है जो कि उत्पादन और श्रम में समान हिस्सेदारी करती है लेकिन शिव प्रसाद सिंह दोनों को एक ही परम्परा मानने की भूल कर बैठते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक समझ के अभाव में शिव प्रसाद सिंह लाख अच्छी बातें करके भी शास्त्रीय, प्रभुमूलक, सामन्तवादी नैतिकता एवं मूल्यों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं जो अनजाने ही सही लेकिन असली हकों की लड़ाई से लोगों को भटकाती है।

शिव प्रसाद सिंह प्रतिबद्धता से इनकार करते हैं तो किसी भी वाद से मुक्त। आंचलिक भी नहीं होना चाहते। अस्तित्ववाद भी उन्हें नहीं भाया। गान्धीवाद कोई हल नहीं, बैज्ञानिक समाजवाद रहस्य है। पूँजीवाद से हिकारत है, सामन्तवाद रूढ़िबद्ध है। इस तरह से शिव प्रसाद सिह की "अपने ढंग की सही दृष्टि" बेमतलब, बेतरतीब,

फालतू टहलती रहती है, कहीं नहीं पहुंच पाती। उनके पास न कोई राह है, न मंजिल। न जीत, न जोश। उनके पास, न लड़ने का माद्दा है न हारने का गौरव। फिर भी, वे लड़ते हैं एक ऐसी लड़ाई, जिसमें न मारने वाले को पता रहता है कि वह क्यूँ मार रहा है, न मरने वाले को पता रहता है, कि वह क्यूँ मर रहा है!

लेकिन मार्कण्डेय के पास एक स्पष्ट विचारधारा है तथा उनकी पक्षधरता सुनिश्चित है जब वे कहते हैं कि मैं इलाहाबाद मार्क्सवादी होकर आया। फिर भी, वे निरन्तर अपना विकास करते हैं। उनकी नारियाँ प्रतिरोध की परम्परा से जुड़ी हैं तथा उनका संघर्ष कम्यूनिस्ट राजनीतिक व्यवस्था के लिए है क्यूंकि वह वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था का एक मात्र विकल्प है क्योंकि पूँजीवादी समाज समानता का भ्रम पैदा करता है। मसलन कानून के समक्ष समानता, राजनीतिक समानता, धार्मिक समानता, सामाजिक समानता (सामन्ती विषमताओं का उन्मूलन) आदि। लेकिन नजर को थोड़ा सा भी गड़ाने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जिस समाज में पूँजीवाद जितना गहरा होता है, वहाँ विषमता उतनी ही ज्यादा होती है।

जबकि, कम्यूनिस्ट समाज (वैज्ञानिक समाजवाद) वह समाज है, जिसमें सभी समान होते हैं। यहाँ भी गैर–बराबरी होती है लेकिन यह गैर–बराबरी उच्चतर सामाजिक आदर्शों पर आधारित है। यह प्रसिद्ध आदर्श है, कि प्रत्येक आदमी अपनी योग्यता के अनुसार समाज को देगा और प्रत्येक आदमी को समाज उसकी जरूरत के अनुसार देगा। व्यक्ति और समाज के बीच इससे सुन्दर और सन्तुलित रिश्ते की कल्पना कर पाना कठिन है।[62]

कम्यून एक जीवन शैली है, सामाजिक, राजनीतिक संगठन का एक तरीका है। यही एक मात्र विचारधारा है जो कोई बुद्धिमान व्यक्ति अपना सकता है तथा कम्यूनिज्म को छोड़कर मनुष्य की मुक्ति का कोई और मार्ग नहीं है। मार्कण्डेय की दृष्टि उत्तरोत्तर इसी दिशा में साफ होती चलती है वरना यह आकस्मिक नहीं कि उनकी कहानियाँ पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतिपक्ष का निर्माण करती हैं तथा साथ ही तेलंगाना के किसान आन्दोलन और नक्सलबाड़ी किसान आन्दोलन के बीच की रचनात्मक कड़ी भी बनती हैं।

टिप्पणी

1. "नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध" – मुक्तिबोध, पृ0 8
2. "मनोविश्लेषण"– सिग्मंड फ्रायड, पृ0 344
3. "आधुनिक भारत"– सुमित सरकार, पृ0 386
4. वही, पृ0 384
5. वही,
6. वही, पृ0 385
7. "कहानी : नई कहानी" – नामवर सिंह, पृ0 16
8. "दस प्रतिनिध कहानियाँ" – शिव प्रसाद सिंह, पृ0 13
9. वही,
10. "साहित्य और यथार्थ", पृ0 19
11. अमरकान्त, *कहानी की वर्णमाला*, पृ0 65
12. वही, पृ0 19
13. वही, पृ0 62
14. मृदुला गर्ग, "हिन्दी साहित्य, सामाजिक स्वीकृति का संकट", राष्ट्रीय–सहारा (हस्तक्षेप), शनिवार, 20 जून, 1998
15. अब्दुल बिस्मिल्लाह, "*कहानी की वर्णमाला*", पृ0 21
16. "कहानी की वर्णमाला"–राजेन्द्र अरूण (सं0), पृ0 19
17. काशीनाथ सिंह, कहानी की वर्णमाला, पृ0 76
18. "साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद"–कुँवर पाल सिंह (सं0), पृ0 81
19. वही, पृ0 164
20. राम विलास शर्मा, वही, पृ0 135–36
21. "कथाकार : शिव प्रसाद सिंह" – डा0 कामेश्वर प्रसाद सिंह, पृ0 11
22. वही,
23. 'आज की हिन्दी कहानी : प्रगति और परिमिति' (संकलित), "नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति"–डा0 देवी शंकर अवस्थी।
24. मार्कण्डेय के साथ व्यक्तिगत बातचीत।

25. "साहित्य और यथार्थ"–हावर्ड फास्ट, पृ0 92
26. "शिव प्रसाद सिंह का कथा–साहित्य"–डॉ0 सत्यदेव त्रिपाठी, पृ0 124
27. वही, पृ0 126
28. "साहित्य और यथार्थ", पृ0 92–93
29. "कहानी की वर्णमाला"–राजेन्द्र अरूण पृ0 84
30. "कथाकार : शिव प्रसाद सिंह" – डॉ0 कामेश्वर प्रसाद सिंह, पृ0 20
31. "शिव प्रसाद सिंह का कथा–साहित्य" – डॉ0 सत्यदेव त्रिपाठी, पृ0 126
32. "दस प्रतिनिधि कहानियाँ"–शिव प्रसाद सिंह (मेरी जबाब देही)।
33. वही,
34. वही
35. "साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद"–कुँवर पाल सिंह (सं0) पृ0 110
36. फ्रेडरिक एंगेल्स, वही, पृ0 60
37. वही, पृ0 59
38. "दस प्रतिनिधि कहानियाँ"–शिव प्रसाद सिंह (मेरी जबाब देही)।
39. मार्कण्डेय के साथ व्यक्तिगत बातचीत।
40. "कथाकार : शिव प्रसाद सिंह" – डॉ0 कामेश्वर प्रसाद सिंह, पृ0 12
41. वही, पृ0 49
42. वही, पृ0 20
43. 'आज की हिन्दी–कहानी प्रगति और परिमिति' (संकलित), "नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति"–डा0 देवी शंकर अवस्थी।
44. "द सेकण्ड सेक्स"– सीमोनद बोउवा (अनुवाद, स्त्री उपेक्षिता–प्रभा खेतान) पृ0 227
45. "कहानी की बात", पृ0 39
46. वही, पृ0 38
47. वही, पृ0 43
48. मार्कण्डेय के साथ व्यक्तिगत बातचीत।

49. "हम कह सकते हैं, कि दूसरे प्राणियों की तुलना में मनुष्य–जाति में स्त्री–पुरूष का विशिष्टीकरण वास्तव में सिर्फ प्रजनन से संबन्धित नहीं होता। पुरूष यौन–स्थिति को एक विशिष्टता प्रदान करता है और अपनी यौन–क्रियाओं की मध्यस्थता द्वारा एक मूल्य प्रक्षेपित करता है।" स्त्री उपेक्षिता (द सेकंड सेक्स–हिन्दी अनुवाद)–प्रभा खेतान पृ0 32

50. वही, पृ0 32

    जबकि इसी पुस्तक में वे लिखती हैं "औरत शक्ति–सम्पन्न होती हुई भी उर्वरा थी, उसमें प्रजनन की क्षमता थी। यह क्षमता पुरूष के पास नहीं थी। औरत की यही विशेषता उसकी दासता का मूल कारण भी बनी।" वही, पृ0 50

51 मार्कण्डेय के साथ व्यक्तिगत बातचीत।

52 "शिव प्रसाद सिंह का कथा–साहित्य"–डा0 सत्यदेव त्रिपाठी, पृ0 54

53 "साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद"– कुँवरपाल सिंह (सं0) पृ0 152

54 वही, पृ0 138

55 वही, पृ0 139

56 "कथाकार : शिव प्रसाद सिंह"– डा0 कामेश्वर प्रसाद सिंह, पृ0 49

57 'आज की हिन्दी–कहानी : प्रगति और परिमिति' (संकलन), "नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति" – डा0 देवी शंकर अवस्थी।

58 वही

59 "दस प्रतिनिधि कहानियाँ : शिव प्रसाद सिंह (मेरी जबाब देही)।

60 वही

61 वही

62 राजकिशोर, राष्ट्रीय सहारा में प्रस्तुत कालम "स्वकीय"।

63 वही

❑ ❑ ❑

कथ्य का तुलनात्मक मूल्यांकन

कथ्य का तुलनात्मक मूल्यांकन

कथ्य यानि कहानी जो कहती या बयान करती है तथा जिसके ऊपर कथानक का विकास होता है। जैसे, कि ई० एम० फॉर्स्टर कहता है, घटनाक्रम के व्यवस्थित वृत्तांत को कहानी कहते हैं।[1] यह घटनाक्रम कथ्य की ही बुनियाद पर अपना ताना–बाना बुनता है और कथानक को आगे बढ़ाता है। कथानक, जैसा कि फॉर्स्टर कहता है, भी घटना–क्रम का विवरण है लेकिन यहाँ कारणत्व पर अधिक बल होता है। 'राजा मर गया और तदुपरांत शोक से रानी मर गयी' एक कहानी है। राजा मर गया और तदुपरांत शोक से रानी मर गयी' एक कथानक है।[2] अर्थात कालक्रम सुरक्षित रखते हुए कारण–कार्य की योजना यानि, प्रश्नों और जिज्ञासाओं का क्रम लेकिन राजा–रानी का मरना जिस उद्देश्य को लेकर कहानी का विषय बनती है, वहीं उसका कथ्य होता है।

कथाकार का पहला काम वह उद्देश्य होता है जिससे प्रभावित होकर वह विषयों का चुनाव करता है तत्पश्चात उसे एक वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है क्योंकि जब तक सामने कोई उद्देश्य नहीं होगा तब तक इसका पता नही चल पाएगा कि किन विशेषताओं की ओर प्रतिनिधि तत्व के रूप में संकेत किया जाय। यह तब भी था जब नैतिक एवं रूप कथाएं रची जाती थीं क्योंकि कहानी कोई नई चीज नहीं है बल्कि आदिम कालीन है। उसका प्रारम्भ पठन–पाठन की खोज से पूर्ण साहित्य के उद्‌गम से जुड़ा हुआ है और हमारी आदिम प्रवृत्ति को वह अपील करती है।[3]

लेकिन अब कहानी याकि सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ मनोरंजन और उपदेश की चीज नहीं है बल्कि प्रतिरोध की आवाज तथा सुन्दर और मानवीय गरिमा से युक्त जीवन के पक्ष में संघर्ष का एक जरिया बन चुकी है। ऐसे में एक वृहत्तर उद्देश्य एवं विचारधारा के प्रति समर्पण ढूढ़ना लाज़िमी है। कहानी के सम्बन्ध में एस० अन्तनोफ लिखता है, "विचार और चरित्र को एकात्म कर देना उतना कठिन नहीं है, जितना यह पहली बार देखने में जान पड़ता है। आखिर वे विचार, जिनका उदय लेखक के मस्तिष्क में होता है, शून्य में पैदा नहीं होते। वे उसके चारो ओर के यथार्थ से उत्पन्न होते हैं। रचना के क्रम को हम मोटे तौर पर इस भांति समझ सकते हैं। एक ही तरह के सैकड़ों

विशिष्ट जीवन घटनाओं का अध्ययन, इन घटनाओं पर मनन, विचार के अनुरूप व्यक्तित्व की उत्पत्ति और फिर किसी सम्पूर्ण में उस विचार की अवतारणा।"[4]

इस 'सम्पूर्ण' को मार्क्स स्पष्ट कर चुका है, कि कला और साहित्य वर्गों के बीच विचारधारात्मक संघर्ष में महत्वपूर्ण अस्त्र है। यह शासकों की शक्ति को मजबूत बना सकती है, तो उसकी जड़ें भी खोद सकती है। यदि वह वर्ग उत्पीड़न की रक्षा का काम दे सकती है तो इसके विपरीत श्रमजीवी जन साधारण की भी शिक्षा और उनकी चेतना के विकास में योग भी दे सकती है। उन्हें तथा अपने उत्पीड़कों पर विजय के समीप भी पहुँचा सकती है।[5]

आधुनिक कथा–साहित्य, चूँकि पूँजीवाद का जाय है, अतः यह जरूरी हो जाता है, कि उस घेराव के विरूद्ध एक प्रतिपक्ष का निर्माण हो। क्यूँकि, इस बात से हम आँख नहीं मूँद सकते कि आधुनिक युग में चीजों का निर्धारण पूँजीवाद के दबावों के तहत होता है। जिस बात को प्रेमचन्द ने गोदान में उठाया, स्वतन्त्रता के बाद वह बदल नहीं गया क्यूँकि पूँजीवाद नये लोकतान्त्रिक मुखौटों के साथ और भी घातक होने जा रहा था। जिसने उसे पहचाना उसने कथा–साहित्य में बृहत्तर उद्देश्यों एवं विचारधारा का वहीं विकास प्रस्तुत किया जो राल्फ फाक्स और गोर्की के इन कथनों से होकर आया था —

"आज मानव हमारी समाज व्यवस्था से भरभराकर ढह जाने के साथ उत्पन्न होने वाली वाह्य वस्तुगत विभीषिकाओं के खिलाफ, तानाशाही के खिलाफ, युद्ध के खिलाफ, मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ने पर बाध्य है। साथ ही उसे अपने मस्तिष्क के अन्दर इन सब चीजों के मनोगत प्रतिबिंब के खिलाफ भी लड़ना है। उसे लड़ना है दुनिया को बदलने के लिए, सभ्यता को बचाने के लिए और साथ ही उसे मानव आत्मा में पूँजीवादी अराजकता को खत्म करने के लिए भी लड़ना है।" (राल्फफाक्स : 'उपन्यास और जीवन' पृ. 101)[6]

"एक ऐसी दुनिया के लिए जिसमें सारी 'विपदायें' मानव और चीजों के स्वामित्व के संघर्ष में उत्पन्न होती हैं और जहाँ 'मुक्ति संग्राम' के नारे के तहत अक्सर दूसरों के श्रम का शोषण करने के 'अधिकार' में विस्तार करने के लिए संघर्ष किया जाता है, त्रासदी बहुत प्रतिष्ठापूर्ण शब्द है।"[7]

इसे स्पष्ट करते हुए गोर्की लिखता है –

"मैंने देखी अन्तहीन अस्तव्यस्तता, अनगिनत और सरासर बेमेल, छोटे–बड़े विरोधों का उबाल और उफ़ान, जिनके मेल से एक भयानक त्रास कामेडी जन्म ले रही थी, जिसमें सम्पत्ति के मालिक की लोलुपता मुख्य भूमिका अदा कर रही थी।"[8]

अब उस वृहत्तर उद्देश्य और विचारधारा को स्पष्ट करना आसान हो गया, जो किसी कहानी के कथ्य के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कहानी अब केवल गप्प भर नहीं बल्कि उसमें कहने के लिए भी कुछ होना चाहिए। ए0जी0 ओगडन प्रकाशन के लिए अस्वीकृत पाण्डुलिपियों के लेखकों के बारे में लिखती हैं, जिसमें लेखन की क्षमता तो होती है किन्तु जिसके पास महत्वपूर्ण कथ्य के नाम पर कुछ भी नहीं होता।[9] यानि जिसके पास कहने के लिए कुछ नहीं होता। यह, 'कहने के लिए कुछ का होना' तथा एन0 पैन्सडेविस की नजर में 'केन्द्रीय विचार की तीव्र प्रतिक्रिया'[10] ही कथ्य के मूल में होता है, जो एक उद्देश्य और विचारधारा के साथ किसी कहानी का निर्माण करता है।

4.1 प्रतिरोध की चेतना

मार्कण्डेय अपनी 'सम्पूर्ण कहानियों' की भूमिका में लिखते हैं, "आजादी के बाद व्यक्तिगत क्षेत्र में पूँजी का तेजी से जमाव हुआ। पूँजीपतियों ने जमीन्दारों के सहयोग से धीरे–धीरे सत्ता को अपने वश में कर लिया।..... जनता के सोचने–विचारने के ढंग तक का नियमन करने की शक्ति पूँजीशाहों में आ गयी। संस्कृति के क्षेत्र को इस तरह गंदला कर दिया गया कि भले–बुरे की पहचान लुप्त होने लगी। संघर्षशील मनुष्य की अस्मिता से जुड़ी हुई रचनाशीलता के सामने जीवन–मरण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ।"[11]

इसी क्रम में उनकी तीन कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं, 'दूध और दवा', 'मधुपुर के सीवान का एक कोना' तथा 'प्रिया सैनी'। इन कहानियों में पूँजीवादी घेराव तथा 1962 के बाद आए भारतीय अर्थतन्त्र के परिवर्तनों के बीच मनुष्य की सामाजिक–सांस्कृतिक संघर्षों का स्वरूप उभर कर सामने आता है।

4.1 (i) दूध और दवा

ऋषिकेश मुखर्जी की फिल्म 'आनन्द' में डॉक्टर बना अमिताभ बच्चन झुग्गी–झोपड़ी वालों के बीच काम करते हुए कहता है, दवा से रोगों का इलाज हो सकता है, भूख और गरीबी का नहीं। इनका रोग इनकी गरीबी और भूख थी, जिसका इलाज मेरे पास नहीं था.....यह औद्योगिक सभ्यता के मुहाने पर पड़ी जिन्दगियाँ हैं वहीं इसी सभ्यता के एक छोर पर निम्नमध्य वर्ग– मध्यवर्ग भी रहता है जिसकी आम जरूरत होती है दूध और दवा। इसी में फँसी रहती है दो उत्पादक श्रमिक शक्तियाँ, स्त्री और मजदूर। "मैं समझ नहीं पाता कि स्त्रियाँ और मजदूर मालिकों को क्यों ओढ़े हुए हैं, महज़ इतनी सी बात के लिए, या मुन्नी की आँखों के मॉड़े की दवा या उसके दूध के लिए!"

(दूध और दवा)

दूध और स्त्री की जरूरत ..... कमर के नीचे नंगी, खुली .... मैं इस असामयिक मृत्यु से बचना चाहता हूँ, पर कोई चारा नहीं। मुन्नी की माँ के जीने का यही सहारा है और मेरे पास उन मृत्यु की घाटियों के सूनेपन को दूर करने का सही उपाय।"

(दूध और दवा)

'सहसा मुझे मकड़ी के ननहें तार की स्मृति फिर हो जाती है और मैं विस्तर छोड़कर उठ खड़ा होता हूँ, कहीं जाला फिर न तनने लगे! मुन्नी की माँ ऐसे ही समय आ जाती है।'

(दूध और दवा)

सीमोनदबोउवा लिखती हैं, 'स्त्रियाँ दो तरीकों के बीच अपनी पसन्द चुनती हैं। एक के अनुसार स्त्री अपनी किशोरावस्था की स्वतन्त्रता को ज्यों का त्यों रखना चाहती है और दूसरे में स्त्री बिलकुल पुरूष की हो जाती है और बच्चों को जन्म देना ही उसका मुख्य कार्य हो जाता है। स्वाभाविक रति–क्रिया में स्त्री पुरुष के ऊपर अवलम्बित रहती है।...... सम्भोग को एक 'सेवा–रूप' दिया गया है।.... सेवा करना वस्तुतः अपने को किसी स्वामी के हाथ सौंप देना है..... मालिक के रूप में व्यवहार करना पुरूष के लिए वर्जित नहीं है।"[12]

इसी तरह उत्पादन में मजदूर अपना श्रम देकर उत्पादक पूँजीवादी शक्तियों को अपना मालिक बना देता है यद्यपि कि यहाँ वह अपना श्रम बेंचता है और उत्पादक

पूँजीवादी शक्तियाँ उसका भाव तय करती हैं। उनके लिए यह बाजारू रिश्ता है जिसे वह खरीद कर मूल्य चुका देता है लेकिन मजदूर के लिए वह मालिक बन जाता है और वह खुद उसकी पूँजी बढ़ाकर भी दास बन जाता है। और, अपनी किस्मत उसे सौंप देता है।

लेकिन इसका दूसरा पहलू पूँजीवादी नैतिकता में छिपा है,"पर क्यों नहीं भड़केगा, क्यों उसके लावे से मेरा घर–आँगन नहीं पट जाएगा? इसलिए न कि मैं लिखूंगा और लिखने से पैसे मिलेंगे और पैसे उसे ठंडा करते रहेंगे। वह यही तो कहती है कि पैसा दिल को ठण्डा और शरीर को गरम रखने की अद्‌भुत दवा है..."

(दूध और दवा)

मार्क्स इसे 'उनुत्पादक श्रमिक' की श्रेणी में रखता है क्यूँकि वह अपना लेख अपने स्वयं के कारण बेचता है लेकिन जब वह प्रकाशक के निर्देशानुसार पुस्तकें गढ़ता है, तो वह 'उत्पादक' श्रमिक की श्रेणी में आ जाता है क्योंकि 'उसका उत्पादन प्रारम्भ से ही पूँजी के अधीन रहता है और वह केवल उस पूँजी को बढ़ाने के उद्देश्य से ही अस्तित्व में आता है।[13]

अतः यह केवल स्त्रियों और मजदूरों की मालिकों से मुक्ति का सवाल नहीं है जहाँ सब कुछ के बावजूद दूध और दवा जैसी आम जरूरतें कठिन हो जाती हैं बल्कि यह बाजार युग में आम 'आम आदमी के संघर्षों से जुड़ी रचनात्मकता' की मुक्ति का भी सवाल है। 'दूध और दवा' पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता से घिरी आम आदमी के समस्याओं को कई छोरों से छूती कहानी है। यहीं उसका मूल स्वर है जहाँ बात उसकी मुक्ति से जुड़ी है। स्त्री और मजदूर तथा उसके बारे में सोचती रचनात्मकता की मुक्ति

".... आखिर इन दोनों को हरदम शिकायतें क्यों रहती हैं। क्यों इन दोनों के सीने में खारे पानी का इतना विशाल समुद्र फफाया रहता है, मृत्यु की आखिरी कराह की तरह इस समुद्र की लहरें चीख़ती हैं, पर किसी खोखले श्राप की तरह मिथ्या बनकर बिखर जाती हैं। मैं इन विनाशकारी लहरों को दुनिया को निगल जाते देखने के लिए व्याकुल हो उठता हूँ।"

(दूध और दवा)

यह लहरें कहीं और से नहीं बल्कि सर्वहारा की मुक्ति–कामना से उठी हैं। जिससे मानवता की मुक्ति के साथ निम्न मध्य वर्ग की मुक्ति भी जुड़ी है जैसा कि मार्क्स कहता है, कि उनका हित, सर्वहारा के हितों से जुड़ जाने में ही है।

लेकिन स्त्री–मुक्ति, सर्वहारा की मुक्ति से भी आगे तक जाती है क्योंकि समाजवादी समाज की स्थापना हो जाने से उसे केवल सामाजिक मुक्ति ही मिल सकती है, जबकि उसकी पुरूष से मुक्ति का सवाल पूरी तरह से नहीं सुलझता। जिस आधार पर, कि एंगेल्स ने उसे दोहरे सर्वहारा की संज्ञा दी है अर्थात वह घर में भी पति द्वारा शोषित है। और एंगेल्स इसके लिए जो समाजवादी समाधान प्रस्तुत करते हैं अर्थात परिवार की व्यवस्था को मिटा देना, उस पर सीमोन द बोउवा सहमति नहीं रखतीं और लिखती हैं, परिवार की व्यवस्था की समाप्ति के बाद भी औरत की मुक्ति सम्भव नहीं है[14] क्योंकि गणतांत्रिक समाजवाद में जहाँ वर्गभेद मिटाया जा सका, वैयक्तिक नीति का प्रश्न हमेशा अपना महत्व रखेगा और इसलिए सेक्सुअल विभेदीकरण का महत्व बना रहेगा।[15] सीमोन स्त्री को केवल एक उत्पादक शक्ति नहीं मानती बल्कि वह अन्या है, जिसके माध्यम से पुरूष अपने आपको खोजता है।[16]

ध्यान देने वाली बात है कि सीमोन ने स्त्री पक्ष को अस्तित्ववादी ढंग से रखा है, जो किसी व्यवस्था का नाम नहीं और यहीं 'दूध और दवा' में दिखाया गया है जहाँ अस्तित्ववादी चेतना होते हुए भी स्त्री–पुरूष सम्बन्धों की बुर्जुआ नीति को चुनौती दी गयी है।

'तुमने घर को इसलिए स्वर्ग बना रखा है कि तुम्हारी बीबी तुम्हारी कमाई खाती है और एक खरीदे हुए दास से भी बदतर ढंग से तुम्हारी सेवा करती है। तुम्हें अगर यह पता लग जाय कि वह तुम्हें नहीं किसी और को चाहती है, तो तुम हवा में नजर आते हो, क्योंकि तुम्हें अपने से ज्यादा अपने पैसों पर भरोसा है।'

(दूध और दवा)

पूँजीवादी समाज में औरत एक चीज बनकर रह जाती है। बुर्जुआ मूल्य उसे पालतू बना देते हैं जहाँ पैसा दिल को ठंडा और शरीर को गरम रखने की अद्भुत दवा है' लेकिन उसका प्रतिपक्ष भी है जो उसके लिए मोटर, बँगले और सुख की अनेक कोटियों के बीच जगह तलासने का काम करता है। दरअसल, कहानी सामन्ती

संस्कारों एवं बुर्जुआ मान्यताओं की सलीब पर टँगे लहूलुहान सामाजिक संस्थाओं (परिवार विवाह) का सच बयान करती है जहाँ

.... पत्थर का एक बहुत बड़ा ढेर है और लोग आँखे मूँद कर पत्थर मारते हैं..... लोग फूल चढ़ा रहे हैं मान्यताओं पर..... आदमी को बार–बार की नोची–छिछड़ी को दाँतों से नोंच–नोंच कर फेंक रहे हैं..... लोग नंगी औरत के कोमल शरीर को खुरदरे जूट के रस्सों से जकड़कर बाँध रहे हैं...... सिर्फ एक लाचारी का आरोप....... आदमी नहीं, टूटा हुआ, पुराना खंडहर.....'

(दूध और दवा)

यह जर्जरित हो चुकी व्यवस्था है, जहाँ औरत या तो बच्चे पैदा करने की मशीन है (सम्पत्ति का वारिस) या फिर विज्ञापन है, यह मानवीय रिश्तों को खत्म कर देती है, यह अजनबीपन को बढ़ावा देती है, जिससे स्त्री–पुरूष सम्बन्ध सबसे पहले प्रभावित होता है, यह हर चीज का मूल्य तय कर देती है, जहाँ अगर आप बिक नहीं सकते तो बेकार हैं, इसलिए न कि मैं लिखूँगा और लिखने से पैसे मिलेंग और पैसे उसे ठंडा करते रहेंगे। वह यहीं तो कहती है कि पैसा दिल को ठण्डा और शरीर को गरम रखने की अद्भुत दवा है।' वस्तुतः यह स्त्री की वास्तविकता को उसके घर के अन्दर केन्द्रित कर देता है। बाहरी दुनिया एक प्रकार से उसके लिए समाप्त हो जाती है। रेशमी वस्त्र, मखमली कुर्सियाँ और चिकने काँच के बर्तन, ये सब किसी न किसी रूप से औरत की कामनाओं को संतुष्ट करते हैं। घर की सारी साज–सज्जा उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है..... चूँकि वह कर्ता नहीं है, किसी परियोजना में नहीं लगी हुई, अतः बड़े उत्साह से, जो कुछ भी उसके पास है, उसी में मुक्ति खोजने लगती है।[17]

'मैं पूछती हूँ कि मुन्नी के दूध और दवाइयों का क्या हुआ?'

'कल दो रूपये का सामान मँगाया था, आज–भर और चलेगा'

'अब इसके सुख की कल्पना मेरे पास नहीं है, न ही तुम्हारे मन में है और अगर है, तो नहीं होना चाहिए।'

'........ मेरे सीने में एक बन्द ज्वाला मुखी है, जो कभी नहीं भड़केगा यह मैं जानती हूँ।'

(दूध और दवा)

खाना, सोना और सफाई करना, यही मानों उसका जीवन है। धूल और गर्द के विरूद्ध संघर्ष में उसे कभी विजय प्राप्त नहीं होगी।[18]

'खिड़की कितनी ही बंद रखो, गर्द आ ही कर मानती है।'

(दूध और दवा)

वस्तुतः स्त्रियों द्वारा मालिकों को ओढ़ना बुर्जुआ नैतिकता का ही परिणाम है जिसमें विवाह एक उच्चतम आदर्श है जो धन सम्बन्धी सुरक्षा या आर्थिक हितों के संरक्षण को निरन्तर अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए है। वहाँ विवाह परस्पर सहयोग पर आधारित नहीं और न ही वहाँ स्वतन्त्रता के साथ सह–अस्तित्व सम्भव है। बुर्जुआ आभिजात्य कभी भी स्त्री को स्वतन्त्रत होते नहीं देख सकता सीमोन लिखती है, विवाह इस वर्ग के लिए तो आवेग और महत्वाकांक्षा विहीन एक ऐसा कार्यक्रम है जिसमें उद्देश्यहीन दिन अंतहीन रूप में दोहराये जाते हैं। जिन्दगी धीरे–धीरे बिना अपना उद्देश्य पूछे मौत की तरफ सरकती जाती है।[19] उसके अनुसार नियोजित और व्यवस्थित विवाह को बुर्जुवाओं का एक बहुत ही ठोस हिस्सा जिलाए हुए है। स्त्री के कामनात्मक जीवन के नियन्त्रण के प्रयास में विवाह उसकी इच्छाओं को खत्म ही कर देता है।[20] विकृति, अपराध, और पाप सभी कुछ विवाह में एक बड़ा ही ठंडा, पूर्व नियोजित रूप ग्रहण करता है।[21]

लेकिन इसी के साथ स्त्री का एक ऐसा चरित्र भी है जो प्रेम की मुक्त भाव–भूमि पर विकसित होता है। जैसा कि सूरदास के यहाँ होता है। ऐसा नहीं है कि यह खाली घर बैठे का प्रेम है क्योंकि सूरदास के यहाँ भी प्रेम की भूमि पर खड़ी स्त्रियाँ उत्पादक श्रमिक हैं और यहाँ भी वह मातृत्व और श्रम दाइत्वों से युक्त हैं

'.....ये प्रश्न उसके साथ नहीं उठते, क्या आखिर? क्या उसे बच्चे नहीं हो सकते या वे दूध पीने वाले बच्चे नहीं होंगे?

(दूध और दवा)

ऐसा सोचना ही उसे जीवन की भौतिक सच्चाइयों से रुबरू कराके चलता है इसलिए वह झिलमिलाते, सुनहले लोक से वापस आ जाती है कड़ी जमीन की उसी चुभन पर जहाँ से वह कथानायक को लेकर कुछ देर के लिए जाती है। कड़ी जमीन

यानि जहाँ जीने लायक परिस्थितियाँ न हों, लाख कर्म करने पर आजीविका मुश्किल से जुड़ती हो, जहाँ छोटे–छोटे सपने तक दम तोड़ देते हों।

'हल्के, गुलाबी रंग के फ्राक में लड़खड़ाती, दौड़ती मुन्नी को देखने की मेरी कैसी विचित्र लालसा है, जो कभी पूरी होती ही नहीं दिखाई देती।'

(दूध और दवा)

'पर मुन्नी का बैलून तो मेरे कमरे की निचली छत ही में अटका रह जाता है।'

(दूध और दवा)

अतः कथानायक का संघर्ष कई स्तरों पर चलता है। बुर्जुआ नैतिकता या सामन्ती मान्यताओं द्वारा थोपे गये सम्बन्धों से वह लड़ता है जहाँ विवाह आवेग और महत्वाकांक्षाविहीन एक कार्यक्रम है तथा स्त्रियाँ मालिकों को ओढ़े हुए हैं। सेक्स और मातृत्व से आगे वे अपनी कोई भूमिका नहीं मानती। इसके बरक्स कथानायक उस स्त्री को याद करता है जिसकी भूमिका सेक्स और मातृत्व से आगे श्रम तक भी जाती है जहाँ वह मजदूर वर्ग से मिलकर सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग, श्रमिक वर्ग का निर्माण करती है। लेकिन कथानायक के प्रेम की यह सम्पदा सामन्ती मान्यताओं की सलीब पर चढ़ चुकी है। यह स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की वह भूमि है जहाँ दोनों स्वतन्त्र हैं लेकिन एक दूसरे के प्रति दाइत्वों से बँधे हैं इसीलिए वह खरगोश के जोड़े को आज तक नहीं भूला :

'मेरे घर के सामने एक चौड़ा नाला है और उसके परे कँटीली झाड़ी का एक बड़ा सा गुंबद। मैंने कभी इसमें एक खरगोश के जोड़े को घुसते देखा था। वैसे मैं पल भर को पिछली बात को भूल जाता हूँ, पर उसे आज भी नहीं भूला।'

(दूध और दवा)

नारी–मुक्ति को सर्वहारा की मुक्ति से जोड़कर देखने का अर्थ यह नहीं है कि दोनों की भौतिक स्थिति एक है लेकिन इसमें दो राय नहीं कि उनकी राजनीतिक स्थिति एक है और उसी स्थिति तक पहुँचने का प्रयास 'दूध और दवा' करती है। जब वह बुर्जुआ मानसिकता की जकड़बन्दी में जड़ हो चुकी स्त्री की भूमिका का बयान करती है तो बात यही होती है कि वह स्त्री–मुक्ति की चेतना से जुड़े और स्वतन्त्रता

तथा समानता की भूमि प्राप्त करे। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि स्त्री–मुक्ति का अर्थ मातृत्व या स्त्रीपन से मुक्ति न होकर सामाजिक–आर्थिक स्थिति की मुक्ति है।

कथानायक का संघर्ष इसलिए भी दुहरा हो जाता है क्योंकि वह इसी को लेकर रचनात्मक संघर्ष भी करता है लेकिन विडम्बना देखिए कि आम आदमी के जीवन संघर्ष से जुड़ी रचनात्मकता किनारे पर हो गयी है। यह बाजारवाद की आहट है जिसे मार्कण्डेय ने बहुत पहले पहचान लिया था। पूँजीवादी दबावों की जो भयानक स्थिति 1990 के बाद से हमारे देश में शुरु हुई उसको 'दूध और दवा' में मार्कण्डेय ने तभी जाहिर कर दिया था क्योंकि पूँजीवाद लाख मुखौटे लगा ले उसका चरित्र नहीं बदल सकता। सारी चीजों का मूल्य बाजारवादी शक्तियों के हितों से परिचालित होने लगता है, चाहे वह मानवीय सम्बन्ध हों, उसकी गरिमा हो या उससे जुड़ी रचनात्मकता हो :

'मैं झटके से उठ बैठता हूँ और लिखने की कापी के मसौदे कई बार उलट–पुलट कर देखने लगता हूँ। कई अच्छी चीजें लिखे बगैर पड़ी रह गयी हैं।'

(दूध और दवा)

क्योंकि उसे पैसे के लिए लिखना है अर्थात प्रकाशक की मर्जी के अनुसार। ऐसा करके वह अनुत्पादक श्रमिक से उत्पादक श्रमिक हो जाता है।

यही दबाव स्त्री–पुरुष सम्बन्ध को निहायत ही दूसरी स्थिति प्रदान कर देता है। उसकी जटिलताएँ स्त्री–पुरुष सम्बन्ध को आपस में ही अजनबी बना देती हैं।

'.....शायद तुम इसलिए नहीं रुक सकी कि तुम्हारे साथ तुम्हारी सखी थी और उस पर तुम यह जाहिर होने देना नहीं चाहती थी कि तुम मुझे जानती हो'

(दूध और दवा)

तथा इसी में भय, आशंका और अविश्वास जन्म लेने लगता है।

'मैं सिर्फ चुभन, टीस और प्रतारणा को चुन–चुनकर अपने तरकश में भरता जाता हूँ'

(दूध और दवा)

और ऐसा इसलिए होता है कि उस माहौल में, बुर्जुआ मान्यताओं की नैतिकता में घिरकर कथानायक की रचनात्मक क्रियाशीलता दम तोड़ती है। उसका सामाजिक चेतस मन घुटता है, जिसका परिचय कहानी के प्रारम्भ में ही हो जाता हैः

'वैसे मुझे काम करना, करते रहना और करते–करते उसी में खो जाना प्रिय है। इसी की बात मैं लोगों से करता हूँ.....पर यह सब तभी होता है जब मेरे चारों ओर लोग होते हैं। ऐसा नहीं कि लोगों में मेरे बीबी–बच्चे शामिल नहीं है' यह सामाजिकता छुच्छ नहीं है बल्कि वह क्रियाशील है तथा उसमें कर्तव्य और दाइत्व भी हैं।

इस तरह 'दूध और दवा' लेखक की सामाजिक चेतना से जुड़ी तो है ही, साथ ही उससे जुड़ी रचनागत संघर्ष को भी बयान करती है। वहीं वह यथार्थवाद की चेतना से भी जुड़ी है जिसके चलते बुर्जुआ संस्थागत मान्यताओं की जड़ता वस्तुगत सन्दर्भों में उभरकर सामने आ सकी है। लेखक युगीन चेतना से भी सम्पृक्त है जिससे वह पूँजीवादी चरित्र को समझने में सफल रहा है जहाँ दूध और दवा जैसी आम जरूरतें मायावनीं हो उठती हैं तथा छोटे सपने निगल लिए जाते हैं।

लेखक द्वारा स्त्री–मुक्ति को सर्वहारा मुक्ति के साथ जोड़कर देखना उसकी ऐतिहासिक चेतना का दर्शन कराता है साथ ही कहानी को युग–सत्य से जोड़ देता है। 'दूध और दवा' हर उस सभ्यता से संघर्ष की कहानी है जो बुर्जुआ मान्यताओं पर टिकी है तथा पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता जिसकी व्यवस्थागत परिणति है।

4.1. (ii) मधुपुर के सीवान का एक कोना

भारत को आजादी मिल गयी लेकिन गाँवों में रहने वाली अधिसंख्य आबादी ने इसका मतलब भी नहीं जाना। उनकी जिन्दगी तथा उनसे जुड़े सवाल जस के तस रहे। आजादी महज सत्ता का हस्तान्तरण होकर रह गयी तथा स्वतन्त्रता और समानता जैसे मूल्य पूँजीशाहों की तिजोरियों तथा सामन्तों के ठाकुरबाड़ों में कैद हो गये। जमीन्दारी उन्मूलन हो गया पर जमीन्दार बने रहे। खेतों की हदबन्दी हो गयी पर सत्ता और शक्ति की हदबन्दी नहीं हुई।

योजनाएँ बनी, हरित क्रान्ति की शुरुआत हुई, देश खुशहाली के रास्ते पर चला, बहुतों की जिन्दगियाँ बहाल हुई पर अगर किसी को उनके हाल पर छोड़ दिया गया, तो वे थे खेत–मजदूर जिनके प्रश्न आज भी अनुत्तरित हैं। उन्हीं खेत–मजदूरों की जिन्दगी से रुबरु होती कहानी है 'मधुपुर के सीवान का एक कोना।' 'जिनगी बीत गई खटते–खटते, दो जून का भोजन कभी नहीं जुटा। सोचता हूँ तो लगता है, जहाँ का तहाँ हूँ।' (इसी कहानी से)

यह कहानी है 1960 के बाद की जब कृषिगत मूलभूत परिवर्तन होने शुरु हो गये थे। नहर और ट्रैक्टर जैसी क्रान्तियाँ उससे जुड़ने लगी थीं। लेकिन उसके साथ एक और सच भी जुड़ा था :

'अब तो ट्यूबवेल, नहर जाने क्या–क्या बन रहे हैं। मुदा बरक्कत नहीं किसान के घर। उत्तर के सीवान में नहर *आ गयी*, उधर जो *दौरी–दवन की मजूरी–धतूरी थी*, वह भी गयी।' और फिर यह भी एक सच था कि उत्पादन के साधनों में हो रहा यह परिवर्तन इनकी जिन्दगी को बदलने नहीं जा रहा था। ट्यूबवेल के लिए हो रही नाप–जोख पर नरेश, बचन से पूछता है 'का हुआ, बचन? साहब तो नाप–जोख गया था'

इस पर बचन कहता है :

'मैं का जानूँ, भाई। कवन मेरे दस–बीस बिगहा सींचने को धरा है, जो साहब–सूबा मुझसे बताकर जाएँगे। ऐसी ही उड़ती–पुड़ती जैसे तुम सुन लेते हो, वैसे ही हम भी कहीं सुन लेते हैं।'

(इसी कहानी से)

हाँ एक परिवर्तन हो सकता है कि तब ये खेत–मजदूर से फैक्ट्री मजदूर हो जायँ।

'मुन्नन *कभी* इधर, कभी उधर की बात सुनता और सोचने लगता है कि यह सब जल्दी–जल्दी क्यों नहीं होता, जिससे शहर में चलकर रहा जाय।'

(इसी कहानी से)

खेत–*मजदूरों के साथ ही मुन्नन जैसे बेगार की भी कहानी है यह,।*

'पचास रूपये करज लेकर इसका बाप क्या मरा, बेचारे की जिन्दगी ही गिरो धर ली गयी।'

बेगारी के विरुद्ध कानून 1970 के बाद ही बनता है लेकिन फिर भी व्यवहार में वह प्रचलित था क्योंकि सारे कायदे–कानून अभी भी सामन्ती शक्तियों के खूटों से बँधे थे। यद्यपि कि जमीन्दारी उन्मूलन हो चुका *था* लेकिन जुल्म–जबरदस्ती अभी भी थी क्योंकि सत्ता सामन्तशाही तथा बुर्जुआ शक्तियों के ही हाथों में रही तथा सबसे बड़ी बात कि भूमि–सम्बन्धी विषमताएँ तथा जटिलताएँ घूम–फिरकर बनी ही रहीं। तेलंगाना किसान विद्रोह अभी सूखा नहीं था कि नक्सलबाड़ी आन्दोलन दस्तक देने वाला था।

'मधुपुर के सीवान का एक कोना' उन्हीं पृष्ठभूमियों की पहचान कराती कहानी है जो 'महुए का पेड़', 'कल्यानमन', 'भूदान' आदि में बिखरी पड़ी है। यह कहानी उसी की सम्पूर्णता है, बिखराव की एक सूत्रता है, बड़ा विम्ब है जिसकी तलाश मार्कण्डेय करते हैं तथा उसे पाने का प्रयास करते हैं। उनकी ग्राम–चेतना का संश्लिष्ट रूप इसी कहानी में उभरकर सामने आता है जहाँ शोषणकारी प्रवृत्तियों की पहचान बदलती परिस्थितियों में तो हुई है जहाँ छोटी सी बात पर उनका अभिमान आहत हो उठता है और जुल्म की मार दोहरी हो उठती है। यह दबाव है उस परिवर्तनकारी बयार का जिसका संकेत नरेश के इस वाक्य में उभरता है :

'आगे का समय तो ऐसा होगा कि लगता है अपना कुछ नहीं रहेगा। सब करेंगे, सब खाएँगे।'

(इसी कहानी से)

यह इशारा समाजवादी राज्य की परिकल्पना की तरफ ही है जिसके दबावों ने सामन्ती–पूँजीशाही शक्तियों के ऊपर बल डाल दिया था। दमन का कोई भी मौका वे चूकते न थे।

जुल्म की इन्तहाँ तब बढ़ जाती है जब गुनाह मामूली हो। मुन्नन को यूँ तो बैल रोज ही परेशान करते थे लेकिन पुरवाही (सिंचाई का साधन) से छूटते ही आज वे भड़क उठे और सीवान में खड़ी फसल को रौंद डाला। इसमें भला मुन्नन की क्या खता लेकिन द्वार पर पहुँचते ही ठाकुर के लड़के ने सीने पर चढ़ उसे इतना मारा कि वह अधमरा हो जमीन पर तड़फड़ाने लगा और बेहोश हो गया। कहानी की मार्मिकता गहरे तक छू जाती है तथा शोषण की पूरी ऐतिहासिकता आँखों के सामने नाच जाती है। मानवता कराह उठती है। उसके आर्तनाद से दिल दहल जाता है और नफरत हो जाती है उस व्यवस्था से जिसमें आदमी जानवरों से भी बदतर जिन्दगी जीता है। जिसका श्रम तो बंधुआ है ही जिन्दगी भी अपया है।

वह खून–पसीना एक करके जी–जान भिड़ाकर मालिक के लिए बैल की तरह जुता रहता है और बेबस हो पिटता है। छोटे–छोटे ब्योरे इस जिन्दगी के, मजूरी–धतूरी के, उनकी जिन्दगी के जद्दोजेहद के, फिर भी बेहतर जिन्दगी कौन कहे मामूली जिन्दगी भी मयस्सर नहीं।' मानवीय संवेदना का ऐसा मार्मिक चित्र हिन्दी कहानी के

इतिहास में गिना–चुना ही मिलेगा। जिसमें समय और सत्य से साक्षात्कार तो है ही साथ ही, कहानी ऐतिहासिक शोषण–चक्र से रुबरू होती हुई अपने अंजाम तक पहुँचती है।

लेकिन कहानी महत्वपूर्ण हो जाती है प्रतिरोध की उस चेतना से जो उसका दूसरा पक्ष है। बचन खेत–मजदूर है जिसका घर मधुपुर के सीवान के उस कोने में है *'जहाँ से आम के बाग और अरहर के खेतों की शुरुआत होती है.......।'* उसकी एक बेटी है हीरा। मुन्नन अक्सर हीरा के बारे में सोचता है। पुरवट के समय वह हीरा की ऊँची धोती के नीचे हर बार पिंडलियों पर पानी को चढ़ते उतरते देखता है। लेकिन, मुन्नन के आगे–पीछे कोई नहीं है उसके मालिक ठाकुर ही हैं। हीरा भी मुन्नन को चाहती है लेकिन उसे स्वीकारेगा कौन, एक तो बेगार ऊपर से एक आँख भी चली गयी है। तभी तो बड़े ठाकुर धौंस देते हुए कहते हैं।

'उस हरामजादे को घर में रखना चाहिए, जो बहू–बेटियों पर निगाह उठावे? बड़ी दया है उसके लिए, तो चलकर उठा लो दरवाजे से......' यही नहीं वे उसे गाँव से निकालने के लिए भी तैयार हैं 'यहीं न, कि मैं उसे गाँव से निकाल दूँ। तुम्हारी बदनामी हो गयी'

(इसी कहानी से)

और, ऐसे में बचन द्वारा हीरा के लिए उसे माँगना सबको हैरत में डाल देता है। "उससे तुम हीरा को व्याहोगे? ठाकुर आकाश से गिर पड़ा" घर की ओर जाते–जाते नरेश ने पूछा *"यह क्या कह रहे थे बचन भइया।"*

"मुन्नन को बचाने का कोई दूसरा उपाय नहीं, नरेश! अगर ठाकुर उसे घर से निकाल भी दें, तो उसे साथ रखना ठाकुर से लड़ाई लेना ही होगा। वह अकेला कहीं जाने लायक भी तो नहीं, और मैं........जानते हो, इस मधुपुर के सीवान के कोने को छोड़कर कहीं जा नहीं सकता।"

ठाकुर की इच्छा और आशा के विपरीत मुन्नन से हीरा को व्याहना और .... सीवान के कोने को न छोड़ना सांकेतिक रूप से विरोध का ही एक रूप निर्मित करता है, एक तरीका इजाद करता है। व्यवस्था के कोने में जम आए कुकुरमुत्ते सा। शोषणमूलक व्यवस्था के विरोध का जो तरीका उभरता है, वह इस कहानी को कुछ

बड़ी कहानियों में शुमार कर देता है। साथ ही, इसमें तेवर भी है, विवशता भी है, आशा भी है, निराशा भी है, भविष्य है भी, नहीं भी।

नरेश बिगड़ उठा, "गाँव की लड़की है, ऐसा कहते हुए तुम्हें सरम नहीं आती?"

"जाने दीजिए, मालिक! परजा पर दया कीजिए।......"

'यह सब जल्दी–जल्दी क्यों नहीं होता, जिससे शहर में चलकर रहा जाय।'

'यहाँ धरा ही क्या है? जिनगी बीत गयी खटते–खटते, दो जून का भोजन कभी नहीं जुटा!

(इसी कहानी से)

क्या शास्त्रीयता क्या गैर शास्त्रीयता किस रस का परिपाक नहीं हुआ, कौन सा राग छूट गया, जीवन का कौन सा भाव छूट गया। अमानवीयता भी है, अत्याचार भी है, शोषण भी है, प्रतिरोध भी है, गप्प भी है जीने की कला भी है, गद्य भी है, गीत भी है, वेदना भी है, आँसू भी है और सबके साथ एक खेत–मजदूर की जमीन से जुड़ी संवेदना भी है। उजड़ गया भी तो क्या, मर गया भी तो क्या, कहाँ जाय इस कोने को छोड़कर। यही से देखा करेगा उस खेत को जिस पर हल चलाता था, लहलहाती फसलों पर हुलस उठता था, दीपावली के दिये जलाता था, होली–गुलाल खेलता था, पहली फसल की पूजा करता था, इसी कोने से देखा करेगा, कैसे छोड़ दे माँ से आँचल को, पुत्र से आस को, कहाँ जाय इसे छोड़कर? पूरी सभ्यता और मानवता पर प्रश्न चिन्ह सा 'मधुपुर के सीवान का एक कोना।'

याद आ जाता है एक अवधी लोकगीत। ढाक का एक छोटा सा पेड़। घने पत्तों वाला और लहलहाता हुआ। उसके नीचे हरिनी खड़ी है। उसका मन अत्यन्त अनमन है। चरते–चरते हरिन हरिनी से पूछता है : 'हरिनी! क्या तुम्हारा चारागाह सूख गया है, या तुम पानी के बिना मुरझा गयी हो?' हरिनी जवाब देती है : 'न मेरा चारागाह सूखा है और न ही मैं पानी बिना मुरझायी हूँ। हे हरिन, आज राजा जी के बेटे की छट्ठी है और तुम्हें वे मार डालेंगे।'

मचिया पर कौशल्या रानी बैठी हैं। हरिनी अरज कर रही है : 'रानी माँस तो रसोई में सीझ रहा है, खलड़ी हमें दे देतीं। खलड़ी को पेड़ पर टाँग दूँगी और मन को समझाऊँगी। हेर–फेर खलड़ी को देखूँगी मानो हरिन अभी जीवित है।' रानी जबाव

देती हैं : 'हरिनी, अपने घर लौट जाओ। खलड़ी तो मैं न दूँगी। हे हरिनी! खलड़ी की खंजड़ी मढ़वाऊँगी तो मेरे राम उससे खेलेंगे।'

जब–जब खंजड़ी बजती है, हरिनी कान उठाकर सुनती है। हरिनी उसी ढाक के पेड़ के नीचे खड़ी है और हरिन को बिसूर रही है। लोकगीत कुछ इस तरह है, एक अंश :

मचियै बैठी कौसिल्ला रानी, हरिनी अरज करइ हो।
रानी, मसुवा तौ सिझहीं रसोइया, खलरिया हमैं देतिउ।।
पेडवा से टँगबइ खलरिया, त मन समझाउब हो।
रानी, हेरि–फेरि देखबइ खलरिया, जनुक हरिना जीतइ हो।।
जाहु हरिनी घर अपने, खलरिया नाहीं देबइ हो।
हरिनी! खलरी क खंजड़ी मढ़इबइ, त राम मोर खेलिहइं हो।।
जब–जब बाजइ खंजड़िया, सबद सुनि अकनइ हो।
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे हरिन के बिसूरइ हो।।[22]

'महुए का पेड़,' 'कल्यावामन', 'दौने के पत्ते', 'भूदान' तथा पूँजीवादी औद्योगिक प्रसार से जोड़कर मधुपुर के सीवान के एक कोने को देखने से ही इसकी मार्मिकता समझ में आ सकती है। बाकी कहानियाँ भूमि सम्बन्धी जटिलताओं के क्रम में आगे विवेच्य होंगी।

4.1. (iii) *प्रिया सैनी*

प्रिया सैनी के रूप में मार्कण्डेय ने वह चरित्र रचा है जो बुर्जुआ नैतिकता के विरुद्ध खड़ी है। प्रतिरोध की प्रखर चेतना के साथ वह बाजारवादी मूल्यों के विरुद्ध भी खड़ी है। प्रिया सैनी पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता के बीच अपनी रचनाधर्मिता और *कला के साथ आम आदमी के पक्ष में भी खड़ी है। स्त्री–मुक्ति को सर्वहारा मुक्ति से* जोड़कर देखती कहानी है, प्रिया सैनी।

प्रिया सैनी जहाँ रहती है, उसी के शब्दों में, 'सड़क के बीच से रेलवे लाइन और रात–दिन मोटरों, ट्रकों का रेला। कुलियों, मजदूरों और ठेलेवालों की भीड़। यहाँ आपको हर तरह के लोग देखने को मिल जाएँगे। वह दूर मिल का फाटक है, जहाँ हर दिन कुछ न कुछ तूफान होता ही रहता है। कई बार तो मेरी आँखों के सामने

गोलियाँ चली। मार–पीट तो आए दिन की बातें हैं।' औद्योगिक सभ्यता, मिल और मजदूर इन्हीं के करीब है प्रिया सैनी का मकान।

और, 'पिता पूर्णतः सन्त हैं, यानी वे कला को मनुष्य की श्रेष्ठतम भावनाओं की अभिव्यक्ति मानते हैं और मनुष्य का उनके यहाँ अर्थ है, गरीब, हारा, थका, दुखी'।

इसी के साथ वे 'आकाशवाणी में ठेके पर कलाकार हैं और तीस वर्षों से वहीं काम कर रहे हैं।' और खुद प्रिया सैनी नृत्य सिखाती है। इस कला का एक पक्ष है जो किसानों, मजदूरों और आम आदमी के जीवन–संघर्षों से जुड़ा है।'.....उस पीड़ा को, उस दुख को, उस महानता और गौरव को जरूर जानती हूँ जिनमें मेरे करोड़ों देशवासी जीते हैं। नाचती हूँ तो उन्हीं की हो जाती हूँ। मेरी सारी अन्तः प्रेरणा उन्हीं की है, इसलिए मेरे नृत्य में सब कुछ संघर्षमय जीवन–प्रवाह को – नये सृजन और आमूल परिवर्तन को ही समर्पित है......'

(इसी कहानी से)

लेकिन साथ ही यह कला प्रतिरोध भी करती है बुर्जुआ नैतिकता से, सामन्ती उसूलों से, बाजारवादी मूल्यों से। क्योंकि एक स्त्री जब अपनी मुक्ति और अस्मिता के लिए संघर्ष करने निकलती है तो उसकी राह में सबसे अधिक बाधाएँ यहीं शक्तियाँ उत्पन्न करती हैं। इनके लिए स्त्री एक सजावट है, एक विज्ञापन है। एक चीज है, एक वस्तु है। पुरुष रूपी देवता को अर्पित की जाने वाली अक्षत, अनाघ्रात पुष्प है। 'तुम अपनी प्रिया को अछूती, कमल की तुरत प्रस्फुटित ऐसी कली के रूप में ही स्वीकार कर सकते थे जिसे सूर्य तक ने स्पर्श न किया हो। तुम्हारी सारी प्रकृति और अहम इस बात से चोट खाए हुए सर्प की तरह तड़प रहे थे कि एक अपरिचित, जाने कौन और कैसा व्यक्ति मेरी छत्ती पर रात भर कैसे रह गया!'

सीमोन द बोउवा लिखती हैं[23], "मातृ–प्रधान समाज में विवाह के समय कन्या में कौमार्य का होना आवश्यक नहीं था।......यह भी सत्य है कि स्त्री के प्रति उदार दृष्टि वाले समाजों में लड़कियों को भी लड़कों की तरह सेक्स–सम्बन्धी स्वतन्त्रता रहती है किंतु पितृ–प्रधान समाज की नैतिकता इस बात पर जोर देती है कि विवाह के समय पति को कन्या कौमार्ययुक्त प्राप्त होनी चाहिए।"

प्रिया सैनी भी इसी नैतिकता से संघर्ष करती है साथ ही वह बाजारवादी मूल्यों का भी प्रखर विरोध करती है जिसमें स्त्री–देह एक विज्ञापन की तरह इस्तेमाल होता है, पूँजी बढ़ाने के लिए होता है '....योजना यह है कि मैं नयी लहर की फिल्म के लिए नाचते–नाचते नंगी हो जाऊँ.....।' यह पूँजीवाद है जो 'नारी–जाति का गौरव' बढ़ाने का यह तरीका अपनाता है। यह '.......एक जगह पहुँच कर समाज के सारे मूल्यों को चकनाचूर कर देते हैं और हर चीज का, यहाँ तक कि मनुष्य के मन का भी दाम लगा देते हैं।'

(प्रिया सैनी)

इससे मनुष्य बनाम पूँजीवाद का सम्बन्ध तो उभरता ही है, कला बनाम पूँजीवाद का सम्बन्ध भी उभरता है। इस ढंग से यह कहानी, 'दूध और दवा' के मन्तव्यों से जुड़ती एवं उसे स्पष्ट करती कहानी है। वहाँ जो नैतिकता 'मुन्नी की माँ' के साथ है यहाँ वह कथानायक के साथ है। वहाँ कथानायक अपनी रचनात्मकता के साथ संघर्ष करता है तो यहाँ एक स्त्री अपनी रचनात्मकता के साथ संघर्ष करती है। उसकी 'इंसान की खोज' सिर्फ देह की जरूरत ही नहीं है बल्कि 'नये सृजन और आमूल परिवर्तन' की भी जरूरत है। इसीलिए वह खासकर जहाँ मजदूर हों, गरीब हों, अभावग्रस्त लोग हों, कोई जुलूस हो, धरना हो, घिराव हो' वह देर तक खड़ी रहती है और लागों के चेहरे देखती है जिसकी मुक्ति के साथ उसकी भी मुक्ति जुड़ी है। यह वर्ग–मुक्ति की वह तलाश है जो 'अँधेरे में' मुक्तिबोध करते हैं।

प्रिया सैनी द्वारा 'इंसान की खोज' जैसे किसी पुरुष की खोज, जैसे किसी आन्दोलन की खोज, जैसे किसी परिवर्तन की खोज, जैसे बेहतर जिन्दगी की खोज, वह भले ही पूरी न हुई हो लेकिन अपने प्रयास में वह कहीं भी कमतर नहीं। 'इंसान की खोज' स्त्री–मुक्ति को सर्वहारा की मुक्ति से जोड़ देती है। बाजारवाद के विरुद्ध, बुर्जुआ नैतिकता के विरुद्ध, पुरुष–प्रभुता के विरुद्ध तबियत से उछाला गया एक पत्थर, प्रिया सैनी।

विशेष उल्लेखनीय है कि स्त्रीवादी विमर्श तथा उन्हें वर्ग–चेतना से जोड़ने की कोशिश मार्कण्डेय के यहाँ उस समय से प्राप्त होनी शुरु हो जाती है जबकि हिन्दी–साहित्य में उसके लिए जमीन भी नहीं तैयार हुई थी। कायदे से उसका प्रवेश

नवें दशक में महिला कथाकारों के साथ होता है। इसके अतिरिक्त स्त्री–मुक्ति को सर्वहारा की मुक्ति से जोड़ने की उनकी कोशिश भी अकेली है। और सबसे बडी बात, कि उसे पूँजीवादी चरित्र के साथ रखकर देखा गया है। पूँजीवादी समाज और चरित्र के बीच के अर्न्तसम्बन्धों को देखा गया है। इसलिए मार्कण्डेय इन कहानियों के साथ तब की अपेक्षा आज अधिक प्रासंगिक हैं। लेकिन वहीं शिव प्रसाद सिंह के यहाँ न तो ऐसा कोई विमर्श दिखता है और न ही इस चेतना को व्यक्त करती कहानी।

4.2. भूमि–सम्बन्धों की जटिलता तथा मार्कण्डेय और शिव प्रसाद की कहानियाँ

तेलंगाना का किसान विद्रोह अभी हरा ही था लेकिन कहानियों के लिए वह बेमानी हो गया जबकि कैफी आजमी 'तेलंगाना' पर नज्म समर्पित इस ढंग से करते हैं:

.....जरा झंझोड़ दो कुचले हुए किसानों को

इधर से काफिला–ए–इंकलाब गुजरेगा

....

समझते हो सत्याग्रह इसको, जिंदगी का अताब[24] है ये

झुका दो सर इन्किलाब है ये।[25]

लेकिन नई कहानी आन्दोलन आजादी की खुशियों की पड़ताल में अपनी खुशियों की लम्बाई–चौड़ाई नाप रहा था। और, कभी खुद को कभी खुशियों को कोस रहा था फिर भी उन सन्दर्भों और सम्बन्धों के तलाश की लौ बिलकुल बुझ नहीं गयी थी। उसे कुछ ने जिलाए रखा था जिसमें मार्कण्डेय का नाम सबसे पहले आएगा जिनकी कहानियाँ स्वतन्त्र रूप से केवल उन सन्दर्भो की तलाश करती हैं, पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं, जहाँ भूमि–समस्याएँ जटिल होती हुई आन्दोलन के रास्ते पर बढ़ रही थीं। नक्सलबाड़ी आन्दोलन ऐसा ही एक परिणाम था जिसकी धमक आज भी कम नहीं हो गयी है बल्कि आर्थिक उदारीकरण तथा औद्योगिक प्रसार ने उसे और भी गम्भीर बना दिया है। कुछ ताजा मिसालें हमारे सामने हैं :

पहली खबर है तमिलनाडु से जहाँ सरकार की वेस्टलैण्ड डेवलपमेन्ट प्रोग्राम, यानि व्यर्थ भूमि विकास कार्यक्रम ने किसानों के लिए खासी मुसीबतें खड़ी कर दी हैं। दरअसल सरकार की योजना राज्य की उन जमीनों को सस्ते दामों पर कार्पोरेट जगत

को लीज पर दे देने की है जिन पर खेती नहीं हो पा रही है। जबकि इसका विरोध पंचायतों और ग्रामसभाओं ने तो शुरु ही किया है, 'आर्गेनाइजेशन फॉर सिविल एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स' जैसी संस्थाओं–संगठनों ने भी इसका जबरदस्त विरोध किया है क्योंकि इससे पर्यावरण असुरक्षित होने का खतरा है जो किसानों के हितों के प्रतिकूल है। हाल–फिलहाल यह औद्योगिक घरानों के लिए ही खासा मुनाफे का सौदा होगा।[26]

दूसरी खबर, विकास के लिए भूमि–अधिग्रहण से सम्बन्धित है जहाँ विस्थापितों को कुछ मुआवजा देकर उनके हाल पर छोड़ दिया जाता है। उदाहरण के लिए, 1950 के दशक में हीराकुंड बाँध के निर्माण के लिए उड़ीसा सरकार ने 1,12,038 एकड़ उपजाऊ जमीन अधिग्रहीत की थी। लेकिन उड़ीसा सरकार अब तक लगभग तीन हजार प्रभावित परिवारों को मुआवजे की 6 करोड़ रूपये की राशि नहीं दे पायी है जबकि मुआवजे की कुल राशि 9 करोड़ रूपये थी।

फिर, इस बात को नजरअन्दाज कर दिया जाता है कि ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में जमीन और आजीविका परस्पर जुड़ी है। अधिकांश विकास परियोजनाएँ भी इन्हीं क्षेत्रों में लगायी जाती हैं। लेकिन भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894 में भूखण्डों को एक वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में देखा जाता है न कि पारिवारिक उत्तरजीविता के स्रोत के रूप में। इस प्रकार, एक बार के नकद मुआवजे से परिवार के भविष्य पर अंधकार की मुहर जड़ दी जाती है।[27] और, फिर हम इस बात से भी बेखबर रहते हैं कि उससे उनकी भावनाएँ भी जुडी रहती हैं। यह बात उन पर लागू नहीं होती जो उद्योग लगाते हैं या व्यापारिक प्रतिष्ठान स्थापित करते हैं क्योंकि उनके लिए वह सिर्फ मुनाफे की एक नीति होती है। मुनाफा बन्द प्रतिष्ठान और परियोजना भी बन्द, लेकिन जमीन जिसको रोटी देती है उसके लिए माई–बाप होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है।

तीसरी खबर, कर्नाटक से है। दांडोली के घने जंगलों में छह हजार 'कुनुबी' और 'माती' आदिवासियों के सिर पर इन दिनों विस्थापन की तलवार लटकी हुई है। लेकिन यह अकेले कर्नाटक की बात नहीं है बल्कि सारे देश में आदिवासियों को उनके पारम्परिक घरों यानि जंगलों से उजाड़ा जा रहा है। उसके पीछे तर्क यह है कि उससे जंगलों को खतरा है जबकि यह सभी जानते हैं कि वहाँ हित मुनाफा कमाने वालों का

ही है क्योंकि 'वन–रक्षा' के नाम पर होटल बनाये गये हैं और कई जगह तो सरकारी महकमें काबिज हैं और विधिवत उसका फायदा उठाते हैं फिर आदिवासियों से जंगलों को खतरा कैसे? जबकि, ये लोग यदि भोजन या दवाई के लिए कोई पेड़–पौधा काटते हैं तो तत्काल दूसरा रोप देते हैं। इनका जीवन यापन वन उत्पादों और जंगल में खेती पर निर्भर करता है। अगर इनसे जंगल असुरक्षित होते तो आज तक जंगल समाप्त ही हो गये होते। सच तो यह है कि वनों या जंगलों का संरक्षण उनके ही सहयोग से सम्भव है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जनजातियॉ हमारी सतरंगी संस्कृति का अद्‌भुत पहलू हैं। उनका विस्थापन संस्कृति, लोक और परम्परा के लिए एक खतरा है। पंकज चतुर्वेदी लिखते हैं, "एकबारगी लगता है कि यह आर्थिक साम्राज्यवाद का कुत्सित चेहरा ही है।"[28]

चौथी खबर, बंजर भूमि सुधार से जुडी है जिसके लिए औद्योगिक घरानों को तो आमंत्रित किया जा रहा है लेकिन निजी छोटे काश्तकारों की भागीदारी सुनिश्चित नही की जा रही है। दूसरी तरफ भूमिहीनों में आवंटन के द्वारा उसे कृषि योग्य भी बनाया जा सकता है।[29]

इस तरह हम देखते हैं कि भूमि–समस्याएँ कम नहीं हुई हैं और न ही उससे जुड़ी सुधार की सम्भावनाएँ। ऐसे में भूमि समस्याओं पर लिखी मार्कण्डेय की कहानियों तथा जनजातियों पर लिखीं शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का अलग ही महत्व है। मार्कण्डेय ने जहाँ उन सामाजिक सन्दर्भो की वस्तुगत पड़ताल के अलावा उभरती चेतना से उसे जोड़ने की कोशिश की है तो वहीं शिव प्रसाद ने उपेक्षित, हाशिए पर पड़ी जातियों को अपनी सम्वेदनाएँ प्रदान की हैं, जिनकी आजीविका भूमि–सम्बन्धों से ही जुड़ी हुई है। इस क्रम में लोहार, कुम्हार, डोम, धइकार, नट, कँजड़े, गन्हरप, बनवासी आदि पर उनकी करुणामूलक दया–दृष्टि पड़ी है लेकिन यहाँ जो कहानियाँ कथ्य की दृष्टि से सध पायी हैं उनमें, 'माटी की औलाद', 'कलंकी अवतार', 'मुर्गे ने बाँग दी' आदि चर्चा के लायक हैं। मार्कण्डेय की कहानियॉ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उसमें भूमि–सम्बन्धों की जटितलाएँ और विषमताएँ केन्दीभूत रूप से उभरी हैं। वे एक उद्देश्य बनकर आयी हैं न कि परिवेश जैसा कि शिवप्रसाद सिंह की कहानियों

में होता है। दूसरी बात यह कि मार्कण्डेय की कहानियाँ वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भो से जुड़कर वर्ग–चेतना की पृष्ठभूमि तलाश करती हैं जबकि शिव प्रसाद सिंह की दिलचस्पी इसमें नहीं है जितनी, कि 'मौसम की मार' और 'दैव–योग' में। मार्कण्डेय की कहानियों में जो कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं उनमें 'बादलों का टुकड़ा', 'गुलरा के बाबा', 'महुए का पेड़', 'कल्यानमन', 'दौने की पत्तियाँ', 'भूदान', 'दाना–भूसा'। 'दौने की पत्तियाँ', 'महुए का पेड़' ही चर्चे में शामिल हैं। बाकी कहानियाँ भूमि–सुधारों के क्रम में देखी जाएँगी।

4.2. (i) गुलरा के बाबा

'गुलरा के बाबा' मूलतः वीर–कथाओं की परम्परा से जुड़ी है जिसमें आदर्शों एवं गुणों का संयोजन होता है। इसकी जड़ें इन्द्र–कथाओं में हैं जिनका विकास लोककथाओं के माध्यम से आज तक चला आया है। गाँवों में पहलवान वीर, भूसी वीर, देऊ वीर, डीह–डीहवार आदि की स्थापना इसी की देन है। चरित्रगत आदर्श एवं पराक्रम इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। हनुमान–चौरों की स्थापना भी इसी का अंग है।

'गुलरा के बाबा' भूमि–सम्बन्धों की सामन्ती विशेषता को दिखाती है जो 'दया और दण्ड' नीति पर आधारित होता है। इसमें चैतू अहीर की अपनी झोपड़ी के लिए सरपत की जरूरत है। लेकिन सरपत उसे अधिकार के तहत न मिलकर दया के तहत मिलता है। यद्यपि कि भूमि की समान दावेदारी की बातें उठनें लगी थी आजादी की लड़ाई के साथ–साथ ही फिर भी अभी चैतू अहीर के लिए वह दूर की कौड़ी थी लेकिन तनावों का आभास कहानी में होता है जिससे यह संकेत मिलता है कि भूमि सम्बन्धी अधिकारों के प्रति चेतना का निर्माण होने लगा था :

चैतू बाबा को देखकर रुक गया।

"सलाम ठाकुर!"

"खुश रहो चैतू, लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो?"

"सरपत काट रहे हैं ठाकुर!"

"अच्छा कल से मत काटना!"

"ऐसे ही काटूँगा। और चैतू लटककर हँसिया चलाने लगा।

XXXXXXX

"अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का! अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी हो गयी?"

"जाके देख क्यों नहीं आते बड़ी मोह है तो, वह तो टूटनी ही थी। आज अखाड़े में टूटी, कल हम लोगों की लाठी से टूटती। गुलरा से सरपत न काटने गया था!"

(इसी कहानी से)

4.2. (ii) दाना-भूसा

'दाना–भूसा' यूँ तो अकाल की कहानी है लेकिन आजादी के बाद के भूमि सम्बन्धों पर भी वह पर्याप्त प्रकाश डालती है। और सच पूछा जाय तो अकाल या मौसम की मार भूमि सम्बन्धी विषमताओं का शाप झेल रहे लोगों के घिसटते जीवन की मार्मिकता को और बढ़ा देती है। आजादी आयी लेकिन इनके लिए उसके पास देने के लिए कुछ नहीं था।

".....अगवार–पिछवार तो परायी धरती है। बाग–बगइचा में रखवार बैठे हैं....."

और जिन्हें आजादी ने सब कुछ दिया वे तो इनके लिए 'बेगाने हैं' और इनकी जिन्दगी का हाल ये है 'कि साल–साल भर मरने–जरने पर भी एक महीने का दाना–भूसा घर में नहीं आता।'

आजादी ने इनकी जिन्दगी का कोई फैसला नहीं किया यानि खेत मजदूर और भूमिहीनों का। इनके सपने तो बस रोटी के पीछे उड़ते ही रहे :

'वह उड़ता रहा, उड़ता रहा और धीरे–धीरे ऐसी जगह पहुँच गया, जहाँ रोटियों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा हुआ था.....' कई उसे लूट रहे थे बंसन भी झटके से लपका, पर खाट बहुत गहरी थी और पाटियों पर उसके हाथ अड़कर रह गये।' खाट की गहराई उनकी स्थिति थी और पाटी उनकी सीमा। और उनके सपने उसी में उड़ते रहे।

4.2. (iii) बादलों का टुकड़ा

यह कहानी मजूर और महाजन के सम्बन्धों को रेखांकित करती है साथ ही उनकी गरीबी और जहालत का चित्र भी खींचती है जो उन्हें असमय बूढ़ा और उनके बच्चों को बीमार बना देती है। यहाँ तक कि पेट की जलन मिटाने के लिए कटोरे में चिपकी जली–जुली लप्सी को भी पानी से घोलकर पीने के लिए मचल उठता है। ऐसे

में महाजन का कर्ज। आजादी तो आ गयी पर महाजन नहीं गये। कर्ज के बदले में दिन–दिन भर खटो और एक रोरा गुर भी पानी पीने के लिए नहीं मिलता। कर्ज का हिसाब–किताब उनका सब कुछ चूसने के लिए लाठी लिए खड़ा है 'अभी तो तुम्हीं ने तय किया है कि मूर में बकरी और उसका बच्चा दोगी और सूद में काम करोगी'

महाजन तो है ही, वह पंडित महराज भी है लेकिन अब धर्म का डण्डा नहीं उसके हाथ में बल्कि नस्लीय हैसियत की लाठी है : '......ये साले छोटी जात के लोग, इनकी इतनी हिम्मत।'

इनका संघर्ष तब और गहरा हो जाता है जब एक तरफ उन्हें कोई काम नहीं मिलता दूसरी तरफ पंडित महाजन की दया के पीछे से झाँकती उसकी आँखें उनकी विवशता को ललचायी नजरों से देखती हैं। ......पंडित दयावान है लेकिन उसकी आँखों में...... ।'

वह महाजन की आँखों से बचने की राह तलाशता है लेकिन इस चक्र से निकलना मुश्किल है जो महाजन से लेकर ठेकेदार तक फैला है। दया और आँखें उसके दो पक्ष हैं एक से सहलाता है, दूसरे से सब कुछ चूस लेता है, सोख लेता है। इससे बचने की राह नहीं जब तक कि वह इस चक्र से निकलता नहीं और वह तभी निकलेगा जब वह अपने हितों की पहचान करेगा और उसके प्रति जागरूक होगा।

4.2. (iv) माटी की औलाद

'माटी की औलाद' शिव प्रसाद सिंह की उम्दा कहानियों में है जिसमें संवेदनाओं की तीव्रता महसूस की जा सकती है। यह 'आर–पार की माला' की ही कड़ी का एक पड़ाव है जिसमें भू–धारियों की अमानवीय प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आती हैं तथा भू–उत्पादन से जुड़े शिल्पकारों का नरकीय जीवन सारे मानवीय सम्बन्धों के ऊपर एक तमाचा बनकर पड़ता है।

'माटी की औलाद' ही माटी से दूर कर दिये गये हैं। माटी का मालिक कोई और बन बैठा है और, जो माटी की औलादों की जिन्दगियाँ तय करता है जो कहीं से भी बेहतर नहीं। माटी की औलाद यानि कुम्हार, लेकिन यह दर्द सिर्फ उसी से नहीं जुड़ा है बल्कि यह भूमि–सम्बन्धी विषमता से जुड़ा दर्द है जो किसी भी गैर भूमिधारी वर्ग की जिन्दगी में ढूंढा जा सकता है। लेकिन शिव प्रसाद सिंह उसे अलग–अलग

में महाजन का कर्ज। आजादी तो आ गयी पर महाजन नहीं गये। कर्ज के बदले में दिन–दिन भर खटो और एक रोरा गुर भी पानी पीने के लिए नहीं मिलता। कर्ज का हिसाब–किताब उनका सब कुछ चूसने के लिए लाठी लिए खड़ा है 'अभी तो तुम्हीं ने तय किया है कि मूर में बकरी और उसका बच्चा दोगी और सूद में काम करोगी'

महाजन तो है ही, वह पंडित महराज भी है लेकिन अब धर्म का डण्डा नहीं उसके हाथ में बल्कि नस्लीय हैसियत की लाठी है : '......ये साले छोटी जात के लोग, इनकी इतनी हिम्मत।'

इनका संघर्ष तब और गहरा हो जाता है जब एक तरफ उन्हें कोई काम नहीं मिलता दूसरी तरफ पंडित महाजन की दया के पीछे से झाँकती उसकी आँखें उनकी विवशता को ललचायी नजरों से देखती हैं। ......पंडित दयावान है लेकिन उसकी आँखों में...... ।'

वह महाजन की आँखों से बचने की राह तलाशता है लेकिन इस चक्र से निकलना मुश्किल है जो महाजन से लेकर ठेकेदार तक फैला है। दया और आँखें उसके दो पक्ष हैं एक से सहलाता है, दूसरे से सब कुछ चूस लेता है, सोख लेता है। इससे बचने की राह नहीं जब तक कि वह इस चक्र से निकलता नहीं और वह तभी निकलेगा जब वह अपने हितों की पहचान करेगा और उसके प्रति जागरूक होगा।

4.2. (iv) माटी की औलाद

'माटी की औलाद' शिव प्रसाद सिंह की उम्दा कहानियों में है जिसमें संवेदनाओं की तीव्रता महसूस की जा सकती है। यह 'आर–पार की माला' की ही कड़ी का एक पड़ाव है जिसमें भू–धारियों की अमानवीय प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आती हैं तथा भू–उत्पादन से जुड़े शिल्पकारों का नरकीय जीवन सारे मानवीय सम्बन्धों के ऊपर एक तमाचा बनकर पड़ता है।

'माटी की औलाद' ही माटी से दूर कर दिये गये हैं। माटी का मालिक कोई और बन बैठा है और, जो माटी की औलादों की जिन्दगियाँ तय करता है जो कहीं से भी बेहतर नहीं। माटी की औलाद यानि कुम्हार, लेकिन यह दर्द सिर्फ उसी से नहीं जुड़ा है बल्कि यह भूमि–सम्बन्धी विषमता से जुड़ा दर्द है जो किसी भी गैर भूमिधारी वर्ग की जिन्दगी में ढूंढा जा सकता है। लेकिन शिव प्रसाद सिंह उसे अलग–अलग

परखते हैं। क्योंकि, कायदे से देखा जाय तो 'मुर्गे ने बाँग दी' कहानी का कथ्य भी इसी में समाहित है लेकिन शिव प्रसाद सिंह जैसे यह तय करके चलते हैं कि सबको अपनी अलग सम्वेदना अर्पित करनी है। लोहार और कुम्हार की समस्या अलग–अलग नहीं है। खैर..

'माटी की औलाद' का 'थप्पड़' ही उसका मूल कथ्य है, जो व्यवस्थागत खामी को तो दिखाता ही है लेकिन उससे बढ़कर वह बेबसी को दिखाता है। टीमल का थप्पड़ सरजू के लिए वैसा ही है जैसा कि पावेल के लिए, पेलागेना को उसके पति द्वारा पीटना। पावेल जब छोटा होता है तो वह समझ नहीं पाता कि उसका बाप उसकी माँ को पीटता क्यूँ है लेकिन जब वह समझता है तो पाता है कि यह तो कोई तीसरी शक्ति है जो उसके घर की अशान्ति का कारण है।[30] गोर्की सृजन प्रक्रिया में लिखता है, ...जीवन में एक ऐसी शक्ति सक्रिय थी जो हर एक और हर चीज की सूरत बिगाड़ रही थी, और वही शक्ति थी जिसको "प्रतिबिम्बित" होना चाहिए, उसको नहीं जिसकी सूरत उसने बिगाड़ी थी। परन्तु बदसूरतों और खूबसूरतों को दिखाए बिना यह किया कैसे जाय?.....खैर, अंत में मैंने अपना रास्ता ढूंढ़ निकाला।[31]

जमीन्दारी उन्मूलन हुआ, भूमि–सुधार हुए फिर भी भूमि की शक्ति का सन्तुलन एक विशेष समूह के पक्ष में बना रहा जिसका प्रतिनिधित्व 'राम सुभग तिवारी' करता है। इनका चार सौ बीघे का पक्के का सीर अब भी होता है। गायें, भैंसें तो अनगिनत, उन्हें बाँधे कौन, इसलिए अलानिया घूमा करती हैं। हरवाह, चरवाह, सीरवाह आदि के परिवारों से गाँव भरा है। ....बाकी बच रहते हैं औनी–पौनी, नाई–धोबी जो उनकी परजा हैं।

टीमल के पास कुछ खेत होते थे जो 'महराज' ने बेदखल कर लिया था लेकिन लगान उस पर अब भी चलती है। उसके बनाये बर्तनों का दाम तय करते हुए वे हिसाब–किताब समझाते हैं :

बड़े महाराज ने इत्मीनान से कहा, "आठ नादों के आठ रूपये, दो हजार खपरेलों के दस, गगरी और कलशों के तीन, सब इक्कीस हुए न। इसमें तुम्हारा बकाया लगान पन्द्रह रूपये कट गये, बचे छह। हिसाब समझे न?"

जबकि इसके लिए 'खड़ी फसल के साथ खेत छीन लिया' लेकिन यहीं हिसाब चलता है क्योंकि आजादी के बाद देश की बागडोर उन्हीं सामन्ती–पूँजीशाही शक्तियों के हाथ में आयी जिनके विरुद्ध लड़के आजादी पायी गयी थी। 'माटी की औलाद' उसी विडम्बना को दर्शाती कहानी है। जो भूमि–सम्बन्धों पर आधारित है।

4.2. (v) कलंकी अवतार

यह कहानी उसी विडम्बना की अगली कड़ी है जो मार्कण्डेय की भूमि सम्बन्धी कहानियों एवं शिव प्रसाद की उपेक्षितों, पीड़ितों पर लिखी कहानियों में उभरता है। मँगरू लुहार, टीमल कुम्हार की अगली पाँत है रोपन बारी। रोपन बारी उस अवतार के इन्तजार में है जो अत्याचारी का अन्त करेगा, बड़े–छोटे का भेद–भाव मिटा देगा, सब बराबर होंगे, सबको रोटी मिलेगी, उसकी भी जमीन होगी यानि वही सपने जिसको लेकर स्वतन्त्र भारत का अवतार हुआ था लेकिन वह 'कलंकी अवतार' साबित न हुआ।

शोभन कहता है अवतार नहीं करतार चाहिए यानि अपनी मेहनत। वह खोमचा लगाता है लेकिन रोपन बारी ने अपने कर्म से कभी जी नहीं चुराया। 'कभी भी उन्हें अपने करम पर रोना नहीं आया...... कभी भी अपने धरम को निभाने में आलस नहीं दिखाया। पर फल क्या मिला। लड़की की शादी में तीन सौ रूपये के करज में घर का पुश्तैनी खेत नीलाम। लाख रोने–गिड़गिड़ाने पर भी भेदू सिंह खेत छोड़ने के लिए तैयार नही हुए। करज दिया। नालिस की। नीलामी कराई और घूम–फिरकर नीलाम खेत भेदू सिंह की जोत में आ गया। वाहरे नियाव! वाह रे फैसला'।

रोपन बारी के लिए कोई परिवर्तन नहीं आता और ऊपर से साथ में सामन्तवादी पितृवत सम्बन्ध भी टूट रहा था लेकिन वह अपना पुश्तैनी काम कैसे छोड़ दे और इसी को लेकर वह द्वन्द्व में रहता है: 'अब जमाना बदल गया है। गिरहस्थ को परजा–पौनी की फिकर नहीं। अब कोई नया काम–धन्धा ढूढ़ना चाहिए, पर रोपन के मन को चैन नहीं मिलता।.... स्वराज आया है तो सब जगह बरक्कत होनी चाहिए कि गरीब आदमी को रोटी के भी लाले पड़ जाने चाहिए!''

यहीं वह घेराव है जो व्यक्ति को विवश कर देता है धर्म की शरण में जाने के लिए जैसे कि 'महुए का पेड़' की दुःखना कहती है ''हरखू की माँ, चलती हो तीरथ को? मैं तो चली।'' (महुए का पेड़–मार्कण्डेय) और इधर रोपन बारी 'घनस्याम के यहाँ

बैठ कर धूनी रमाता है' तथा कलंकी अवतार की प्रतीक्षा करता है। धर्म उस आदमी की विवशता बन जाता है जिसकी जिन्दगी के सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं। वह अगर भेदू सिंह से मुक्त हो जाय तो बाजारू शक्तियों के हाथ का खिलौना बन जाएगा। सामन्त शाही से छूटकर पूँजीशाही के गिरफ़्त में आ जाएगा। कलंकी अवतार के पीछे दौड़ना छूटा तो काठ के घोड़े के पीछे दौड़ पड़ा यहीं उसकी नियति है। उसकी मुक्ति बिना वर्गीय चेतना का आधार दिये सम्भव नहीं। उसकी ऐतिहासिकता के साथ खड़ा करके ही उसके हितों की पहचान हो सकती है। मनुष्यता की मुक्ति भी उसी से जुड़ी है जबकि शिव प्रसाद सिंह उसे अलगाकर चलते हैं जिससे मनुष्यता की उनकी लड़ाई निरूद्देश्य हो जाती है। फिर भी 'कलंकी अवतार' यथार्थवाद की परम्परा में ही पड़ने वाली एक बेहतरीन कहानी है।

इस तरह मार्कण्डेय तथा शिवप्रसाद सिंह दोनों आजादी के बाद भूमि–सम्बन्धों की जटिलता से जुड़ी लगभग एक ही सचाई बयान करते हैं। वे आजादी–पूर्व की स्थितियों से बहुत भिन्न नहीं हो गये थे बल्कि और भी जटिल होने लगे थे। दक्षिण भारत में जातीय गतिशीलता के चिन्ह दिखते हैं पर उत्तर भारत में अभी भी पुराने सम्बन्धों की नींव पर ही लगभग, समाज टिका था। फिर भी, एक ही सच्चाई को बयान करने के बावजूद दोनों की कहानियों में दृष्टियों का अन्तर स्पष्ट है जहाँ मार्कण्डेय उसे वर्गीय हितों से जोड़कर देखते हैं वहीं शिव प्रसाद सिंह उसे अलग–अलग देखने का प्रयास करते हैं। जिसके चलते उनकी कहानियाँ सामान्य सच की बजाय विशिष्ट सच को उजागर करने में जुट जाती हैं। सामूहिकता से उसकी बराबर दूरी बनी रहती है जबकि मार्कण्डेय सामूहिक हितों की पहचान करते हैं जो उनकी कहानी को केन्द्रीयता प्रदान करते हैं।

4.3 भूमि–सुधार एवं तनाव तथा मार्कण्डेय की कहानियाँ

इतिहास का एक अशासकीय पक्ष होता है, मार्कण्डेय उसी पक्ष के कुछ दस्तावेज दिखाते हैं। इस अर्थ में वे न गाँव के कहानीकार हैं, न शहर के बल्कि वे समूचे समय के कहानीकार हैं। भूदान, कल्यानमन, आदर्श कुक्कुट गृह, हंसा जाई अकेला, महुए का पेड़, दौने की पत्तियाँ, आदमी की दुम ऐसी की कहानियाँ हैं। जिसमें समय का एक तल्ख पक्ष सामने आता है। यथार्थ को उभारने में यह प्रेमचन्द की

परम्परा का बढ़ाव है तो साथ ही एक जिन्दा साक्ष्य भी और गवाह टूटते सपनों का जो आजादी के पहले देखे थे।

खड़ा हूँ कबसे मैं चेहरों के एक जंगल में
तुम्हारे चेहरे का कुछ भी यहाँ नही मिलता।

– कैफ़ी आज़मी

चला था मंजिले जानिब कुछ अरमान से
लुटेरों की महफिल होगी पता न था।

भूमिसुधारों का कुछ ऐसा ही हश्र हुआ जिसकी रचनात्मक पक्षकारी मार्कण्डेय की कहानियाँ हैं जिनके बारे में ब्रेष्ट की कविता 'कसीदा इंकलाबी के लिए" का एक अंश याद आता है :

जहाँ भी खमोशी हो
वह बोलेगा
और जहाँ शोषण का राज हो
और किस्मत की बात की जाती हो
वह उंगली उठायेगा।

4.3. (i) *कल्यानमन*

मार्कण्डेय और शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में जो मुख्य अन्तर है वह है वर्गीय चेतना। मार्कण्डेय गाँवों में दो वर्ग देखते हैं, एक भूमिहीन वर्ग, एक भूमिधारी वर्ग एवं उससे जुड़ा बिचौलिया वर्ग। शिव प्रसाद सिंह के लिए यह विभाजन नहीं है। उनके लिए कुम्हार अलग है, लोहार अलग है। मार्कण्डेय समझते हैं मुनष्यता को, उन्हें पता है कि मानव गरिमा की बहाली क्या है, इसलिए उनके लिए यह विभाजन ऐतिहासिक सन्दर्भों से जुडा है। वे लिखते हैं, राम और कृष्ण के समान अन्यान्य सत्ता विभूषित व्यक्तियों को वर्ण्य के रूप में स्वीकार करने में, पीढ़ियों की सामाजिक मान्यता तथा यश और धन सब सुलभ होते थे, लेकिन हमारा नया संवेग जनतन्त्र का गरीब जन है, जिसके पास न धन है, न यश, न पीढ़ियों की परम्परा सामाजिक प्रतिष्ठा से विभूषित मर्यादा। ऐसे उलझे हुए, कठिन वर्ण्य से मित्रता निभाना कितना कठिन है, इसे समझने के लिए पूरे दो युगों की सम्पूर्ण संयोजित चेतना का उपयोग करना पड़ेगा।[32]

मानवीय गरिमा की बहाली आर्थिक गरिमा की बहाली से अलग नहीं। आर्थिक आधार दिये बिना मनुष्यता की बात भी बेमानी है, आखिर मनुष्यता की खुराक क्या है? और, यही कारण है कि मार्कण्डेय की कहानियों में भूमि यानि जमीन एक केन्द्रीय विषय है। इस बात से सभी वाकिफ है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का सीधा सम्बन्ध जमीनों से होता है। ऐसे में कोई भी ग्रामीण समस्या जमीनों को अलग करके नहीं देखी जा सकती।

स्वतन्त्रता के पश्चात सबसे अहम सवाल था भूमि सुधार क्योंकि हम देख आए हैं कि औद्योगिक विकास के लिए वह कितना महत्वपूर्ण था। (युग और परिवेश) भूमि सुधारों से ही बहुसंख्य आबादी की किस्मत भी तय होनी थी, ऐसे में भूमि के लिए तिकड़मबाजी, गुणा–गणित और संघर्ष आजादी के बाद की एक ऐसी सच्चाई बन गयी जिसका हल आज तक नहीं हो पाया क्योंकि देश की कमान सामन्तों और पूँजीशाहों के हाथ में चली गयी।

कल्यानमन ऐसी ही सचाई को बयान करती एक कहानी है।

कल्यानमन सोलह बीघे का तालाब है। इसी की पूरब दिशा में एक टीला है जहाँ घास का तिनका भी नहीं उगता। मँगी की झोपड़ी इसी पर है। 'दो साल हुए जब उसने सुना था कि जिसकी जोत होगी, भूँय उसी की हो जायेगी। तब उसे लगा था, न तालाब धरती है, न सिंघाड़ा खेती।.....इतना ही नहीं, उसे तो अभी इस बात पर भी शक था कि सुराजी लोगों का राज हो गया है।......बंगा उसे बार–बार समझाता कि सब तो सब, यह कल्यानमन अपना हो जाएगा।.....पानी की भराई में ही क्यों न मिला हो, पर सिंघाड़े की काश्त तो वही करता है।' लेकिन सचाई कुछ और थी और मंगी उसे पहचानती है :

'अँखिया त फूट गयी है सुरजियन की कि यह अन्हेर भी नहीं देखते। खेती चमरु करेगा, परताल ठाकुर के नाम से होगी। बीच में पटवारी इधर से भी खाएगा, उधर से भी खाएगा। अब तो बेभूँय का किसान, खाद हो गया है, खाद। बस वह खेत बनाता है।'

और फिर वह प्रश्न करती है जैसे कि आजादी से जैसे कि व्यवस्था के पैरोकारों से,

"बड़ा कानून सीख के बैठा तो है, भला बची है एक बिस्सा भूँय किसी मजूर–धतूर के पास..."

मंगी अपनी जमीन नहीं छोड़ती लेकिन कब तक? उसे डरा नहीं सके तो उसके बेटे को ही उसके विरुद्ध भड़का दिया। पनारू जो ठाकुर के घर पानी भरता है अपनी माँ के ही सामने खड़ा था। एक माँ पूरी दुनिया से अपने बेटे के लिए लड़ जाय पर सामने जब अपना ही लड़का हो, तब? अन्ततः मंगी ने भी इस्तीपा लिख दिया। '.... कितनी मुश्किल से उसने अपना नाम चढ़वाया था, कितनी परेशानियाँ सही थी, क्योंकि उसका पनारू तब नाबालिग था।' लेकिन, वह हार गयी, अपनी किस्मत की जंग वह हार गयी। ब्रेष्ट की कविता की वही पंक्तियाँ पुनः याद आती है :

जहाँ भी खामोशी हो।

....

4.3. (ii) महुए का पेड़

महुए के पेड़ से जुड़ी दुखना की संवेदना तथा ठाकुर की उस पर कब्जे की कुटिल दृष्टि ही इस कहानी का मूल प्रतिपाद्य है। 'दुखना के पास एक लिपी–पुती, साफ–सुथरी झोपड़ी, दो–एक बरतन, मिट्टी की गगरी और झोपड़ी के सामने हहरता हुआ एक महुए का पेड़ है। यही उसकी कुल सम्पत्ति है। महुए का पेड़ से उसका बड़ा निकट सम्बन्ध है। उसे दुखना ने अपने हाथ से लगाया है, सींचा है और देख–रेख कर इतना बड़ा किया है।'

खेतों को तो ठाकुर बेदखल कर चुका है लेकिन इस पेड़ के चलते उसका पूरा कब्जा नहीं हो पाया है। वह तमाम तिकड़म करता है कभी उसका ऊँटहारा उसकी टहनियाँ छिनगाता है तो कभी उसका लड़का अनाप–शनाप बकता है और एक दिन ऊँटहारे ने डाले छिनगाने का विरोध करने पर बूढ़ी को झटका दे दिया। दुखना उसी पेड़ के नीचे गिर पड़ी और कलप–कलप कर रोने लगी। और एक दिन सब कुछ छोड़कर वह तीरथ को निकल पड़ी।

प्रकृत और मानव का बड़ा गहरा रिश्ता है लेकिन सम्पत्ति और सत्ताभोगी वर्ग की लोलुपता ने उस रिश्ते को सदैव नुकसान पहुँचाया है, चाहे वह तब का जमीन्दार रहा हो या आज का पूँजीशाह। कहीं जंगलों को वनों को काटकर जोत में मिला लिया

जा रहा है तो कहीं उद्योग, पार्क, होटल स्थापित किया जा रहा है। क्योंकि, उनके लिए वह जिन्दगी का एक हिस्सा नहीं बल्कि सम्पत्ति और पूँजी बनाने का एक साधन है लेकिन जो उस छाए में रहते हैं उनके लिए वह माँ–बाप, बेटा–बेटी है। आज बनवासियों को वनों के लिए खतरा बताया जा रहा है जबकि हकीकत यह है कि वन और जंगल वहीं सुरक्षित और संरक्षित हैं जहाँ वह उनकी आजीविका से जुड़ी है। यह तथ्य सभी जानते हैं कि वनों को नुकसान उस पर निर्भर जातियों से नहीं बल्कि बढ़ते औद्योगीकरण से हुआ है तथा विकास की अन्धी दौड़ से हुआ है न कि उस पर निर्भर जातियों से और दुखना की अपने महुए के पेड़ से जुड़ी संवेदना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

'........और उसने उलटकर उस पेड़ की तरफ देखा, हवा का एक झोंका आया, पत्तियॉ खड़खड़ाकर झर पड़ीं और पेड़ नीचे से ऊपर तक हहर उठा। वह एक टक उसके विशाल तने को देखने लगी।'

'.........वह महुए के तने के पास चली गयी, खून–सी लाल तने की लकड़ी को हाथ से छुआ, झोपड़ी की दीवारों को देखा, और घूमकर हरखू की माई से कहने लगी –

"हरखू की माँ, चलती हो तीरथ को? मैं तो चली।"

निस्सारता का यह बोध, ब्रह्मज्ञान से नहीं उपजा है और न ही मोक्ष की भावना से बल्कि इसके पीछे उस शक्ति का हस्तक्षेप है, घेराव है जिसने अपने पक्ष में भू–सन्तुलन को हमेशा मोडे रखा है :

"माया–मोह काहे का हरखू की माँ, तुम जानती नहीं। यह जो सामने का खेत है न! यह मेरा ही था। बाग में पचासों पेड़ थे। पर सब ठाकुर ने ले लिया। यह तो चाहता ही है कि, मैं जल्दी से मर जाऊँ तो वह इतनी जमीन और यह पेड़ और पा ले।"

4.3. (iii) भूदान

भूदान कहानी विनोवा भावे द्वारा चलाए गए भू–दान आन्दोलन की सचाई का एक पक्ष सामने रखती है जहाँ रामजतन सिकमी लगी जमीन से इस्तीफा लिखकर

जा रहा है तो कहीं उद्योग, पार्क, होटल स्थापित किया जा रहा है। क्योंकि, उनके लिए वह जिन्दगी का एक हिस्सा नहीं बल्कि सम्पत्ति और पूँजी बनाने का एक साधन है लेकिन जो उस छाए में रहते हैं उनके लिए वह माँ–बाप, बेटा–बेटी है। आज बनवासियों को वनों के लिए खतरा बताया जा रहा है जबकि हकीकत यह है कि वन और जंगल वहीं सुरक्षित और संरक्षित हैं जहाँ वह उनकी आजीविका से जुड़ी है। यह तथ्य सभी जानते हैं कि वनों को नुकसान उस पर निर्भर जातियों से नहीं बल्कि बढ़ते औद्योगीकरण से हुआ है तथा विकास की अन्धी दौड़ से हुआ है न कि उस पर निर्भर जातियों से और दुखना की अपने महुए के पेड़ से जुड़ी संवेदना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

'........और उसने उलटकर उस पेड़ की तरफ देखा, हवा का एक झोंका आया, पत्तियाँ खड़खड़ाकर झर पड़ीं और पेड़ नीचे से ऊपर तक हहर उठा। वह एक टक उसके विशाल तने को देखने लगी।'

'.........वह महुए के तने के पास चली गयी, खून–सी लाल तने की लकड़ी को हाथ से छुआ, झोपड़ी की दीवारों को देखा, और घूमकर हरखू की माई से कहने लगी –

"हरखू की माँ, चलती हो तीरथ को? मैं तो चली।"

निस्सारता का यह बोध, ब्रह्मज्ञान से नहीं उपजा है और न ही मोक्ष की भावना से बल्कि इसके पीछे उस शक्ति का हस्तक्षेप है, घेराव है जिसने अपने पक्ष में भू–सन्तुलन को हमेशा मोड़े रखा है :

"माया–मोह काहे का हरखू की माँ, तुम जानती नहीं। यह जो सामने का खेत है न! यह मेरा ही था। बाग में पचासों पेड़ थे। पर सब ठाकुर ने ले लिया। यह तो चाहता ही है कि, मैं जल्दी से मर जाऊँ तो वह इतनी जमीन और यह पेड़ और पा ले।"

4.3. (iii) भूदान

भूदान कहानी विनोवा भावे द्वारा चलाए गए भू–दान आन्दोलन की सचाई का एक पक्ष सामने रखती है जहाँ रामजतन सिकमी लगी जमीन से इस्तीफा लिखकर

भूदान से मिले पाँच बीघे की तरी पर खुश है लेकिन उसकी खुशी अधिक दिन नहीं टिकती जब उसे पता चलता है कि "......ठाकुर के जिस दान से उसे भूँय मिली थी, वह केवल पटवारी के कागज पर थी। असल में तो वह कब की गोमती नदी के पेट में चली गयी है।"

यहाँ भी बेभूँय के किसानों, मजदूरों की व्यथा–कथा है :

'क्यों मुझसे रार मोल लेते हो, आखिर में मुकदमा लड़ाकर परेशान कर दूँगा और तुम्हें मेरे खेत की सिकमी से हाथ खींचना पड़ जाएगा। चुपचाप स्टीपा दे दो, मैं तुम्हें पाँच बिगहे भूदान से दिला दूँगा।'

अब देश आजाद हो गया है खुलकर धौंस नहीं दिखा सकते तो क्या कानून के चोर दरवाजे की धौंस तो दिखा ही सकते हैं। यह है बदले हुए ठाकुर का चरित्र जो कि *'कल्यानमन'* और *'महुए का पेड़'* में भी दृष्टिगोचर होता है। अब लठैतों को भेजकर हाथ–पैर नहीं तुड़वा सकते, टँगवा नहीं सकते इसलिए अब नये संवैधानिक तरीके हैं, लोकतान्त्रिक तरीके हैं जैसे गान्धीवादी ट्रस्टीशिप का ही एक रूप 'भूँयदान कमेटी' : "तुम नहीं जानते बाबा, यह पीछे से नाक पकड़ने की चाल है। भूँय पहले तो थोड़ी दे देंगे और फिर सबकी मिलाकर जब बड़ी जायदाद बन जाएगी तो कुमेटी बनाकर उसके सभापति बन जाएँगे, फिर जिसे मरजी होगी देंगे। जो जितना जूता टारेगा, उसके हिस्से उतनी ही ज्यादा पड़ेगी....."

– अरे यह सब बड़े मनइन का खेल है। उसी में गोलमाल हो रहा है, और नहीं तो ठाकुर ही एक आदमी हैं, जिसके घर डिपटी–कलक्टर आते। –

इस तरह वे भी इस चरित्र को पहचानते हैं जिनके अन्दर अभी वर्ग चेतना ने जन्म नहीं लिया है क्योंकि वस्तुता इसी रास्ते होकर जाती है। यह तो संसाधनों पर कब्जे का नतीजा है जो परिवर्तन के रास्ते को बिलकुल दूसरा रूख दे देता है। भूदान आन्दोलन तेलंगाना की धमक से उपजी ऐसी ही सचाई थी जिसने रोक का काम तो किया ही, उन सामन्तों को भी कांगरेस में आने का मौका मिल गया जो अभी तक अछूत बने हुए थे।

4.3. (iv) बीच के लोग

जैसे–जैसे सम्पत्ति की रीढ़ तनती–सिकुड़ती है वैसे–वैसे समाज का चरित्र बनता–बिगड़ता है। लेकिन इसके लिए चाहिए पैनी दृष्टि जो इस बनने–बिगड़ने की प्रक्रिया को पकड़ सके।

बखुद मार्कण्डेय, लेकिन बेचैनी तो इस बात की है कि परिवर्तन की वह सूक्ष्म और शतमुखी गति, समय के नन्हें–से–नन्हें क्षणांश में कैसे लक्षित की जाय! दृष्टि के सूक्ष्म सन्तुलन को कितना साधा जाय कि परिवर्तन की दिशा हमेशा दिखाई देती रहे।[33]

और इसमें कोई दो राय नहीं कि जब नयी कहानी नये जीवन–सन्दर्भो की तलाश में लगी थी मार्कण्डेय उसी के साथ परिवर्तन से जुड़ी ग्रामीण वर्ग चेतना की भूमि तलाश रहे थे। और, इसमें शक नहीं, कि इससे जुड़े तनावों के पहले की आहट उनकी कहानियों में महसूस की जा सकती है। तेलंगाना में दबायी गयी आवाज नक्सलबाड़ी में सुनायी देती है तो वहीं मार्कण्डेय की कहानी कल्यानमन की विरोध की चेतना 'बीच के लोग' तक जाते–जाते संघर्ष का रूप धारण कर लेती है। यह प्रतिरोध की आदिम चेतना से वर्ग चेतना तक का विकास है जहाँ मार्कण्डेय उन्हें पहुँचाते है। कल्यानमन, महुए का पेड़ तथा भूदान में मंगी, दुखना, जसवन्ती की जो चेतना है वह 'बीच के लोग' के मनरा तक पहुँचकर ठोस आधार ग्रहण कर लेती है।

मंगी भी उस हथकण्डे को पहचानती है, दुखना और जसवन्ती भी, जिसमें सम्पत्ति अधिग्रहण की सारी कवायदें होती हैं लेकिन वे उसे कोई सामूहिक रूप नहीं दे पातीं क्योंकि वे पिछली पीढ़ी से जुड़ी हैं, सामन्ती पितृवत सम्बन्धों से जुड़ी हैं :

'.....पहले यही घर थे कि काम करने पर खेत मिलते थे, आम के पेड़ मिलते थे, शादी–ब्याह पर लकड़ी–फाटा, गहना–कपड़ा मिलता था, हरजी–गरजी अनाज–पानी मिलता था।'

(कल्यानमन)

लेकिन आजादी के बाद यह सम्बन्ध बिलकुल ही टूट जाता है और स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है :

'.....जानता नहीं कि ये लोग जमीन के लिए, आदमी की गरदन भी काट सकते हैं।......'

(कल्यानमन)

मनरा चूँकि इस परिवर्तित समय की उपज है जहाँ पितृवत सम्बन्ध धराशायी हो चुके हैं। अब ठाकुर नहीं ठाकुर के लड़कों ने कमान सम्भाली है जो नयी परिस्थितियों की उपज है। ध्यान देने वाली बात है कि मार्कण्डेय ने इसको बखूबी पहचाना है। उनकी भूमि सम्बन्धी सभी कहानियों में यह विभाजन स्पष्टतः परिलक्षित होता है। निरन्तरता की पुरानी शक्तियों तथा निरन्तरता की नई शक्तियों का अलगाव स्पष्ट है वहीं परिवर्तन की पुरानी शक्तियों की चेतना तथा नई शक्तियों की चेतना का अलगाव भी देखा जा सकता है। इसको लक्षित करना एक कठिन कर्म है जो मार्कण्डेय के यहाँ सम्पादित होता है। यह वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भो की पहचान से ही सम्भव हो सका। बदलते हुए समय की हर नब्ज की पहचान मार्कण्डेय की कहानियों का केन्द्रीय भाव बन सका है तो इसी कारण जो कि शिव प्रसाद सिंह के लिए दूर की कौड़ी है। उन्हें आत्ममोही चरित्रों से इतनी फुर्सत नहीं थी कि वे इन परिवर्तनो को लक्षित कर पाते। यह एक बड़ा अन्तर है मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह की ग्राम चेतना से जुड़ी कहानियों में। मार्कण्डेय जहाँ बदलते परिवेश की छोटी–छोटी चीजों को संज्ञान में लेते हैं वहीं शिव प्रसाद सिंह विशिष्ट चरित्रों और भावों को कहानी का कथ्य बनाने के लिए पूरी प्रतिभा झोंक देते हैं।

भूमि सुधारों तथा परिवर्तनों से उत्पन्न नई सामाजिक चुनौतियों, तनावों एवं बदलते सन्दर्भों की जो रचनात्मक प्रक्रिया मार्कण्डेय के यहाँ चलती है 'बीच के लोग' उसी का संश्लिष्ट रूप है। 'बीच के लोग' उससे जुड़ी चेतना की प्रतिनिधि कहानी है और कहना न होगा कि वह लेखक की रचनात्मक खोज है जो 'गुलरा के बाबा' से चलकर 'सवरइया' 'कल्यानमन' होता हुआ 'बीच के लोग' तक पहुँचता है तथा वहीं वर्गीय चेतना 'मंगी' से 'मनरा' तक आकर सम्पन्न होती है। यह यात्रा वैसी ही है जैसे तेलंगाना से नक्सलबाड़ी।

यही नहीं, इस कहानी में कम्युनिस्ट जन संघर्षों की धमक (दूसरी आजादी) के साथ काँग्रेस की भूमिका तथा प्रतिक्रियावादी अलगाव भी लक्षित हुआ है। फउदी दादा का यह कथन जो संकेत देता है वह काँग्रेस की खत्म हो चुकी गाँधीवादी भूमिका को लेकर ही है :

'......मैं कई साल से धियान दे रहा हूँ कि मैं ढूह हो रहा हूँ और इधर–उधर छलककर बहता पानी अब धारा बन गया है और हरदम मुझे काट रहा है, कमजोर कर रहा है। कई बार सोचा कि अपने को वहाँ से हटा लूँ, नहीं तो मझधार में अकेला ही किसी दिन भस जाऊँगा। स्कूल–कालेज, आसरम–ब्लाक पर कई बार कहा भी लेकिन मन में बहुत होने पर भी कि यह खूसट हटे तो मनमानी लूट हो, सब उल्टे मन से रोकते हैं।'

यह दो धारायें हैं प्रतिक्रियावाद एवं परिवर्तनवाद की। एक तरफ हरदयाल के स्वयंसेवक हैं तो दूसरी तरफ रग्घू सिंह की परिवर्तनवादी जवानों की टोली जो कम्युनिस्ट जनसंघर्षों के रास्ते आगे खड़ी है। और यह यथास्थिति को बनाये रखने वाले फउदी दादा भी महसूस करते हैं कि प्रतिक्रियावादी स्वयंसेवकों का मुकाबला परिवर्तनवादी जवानों की टोली ही कर सकती है। धर्म और जाति के नाम पर मोबलाइजेशन करती फासिस्ट ताकतों की पहचान भी इस कहानी में प्रतीकात्मक रूप से उभरी है। फउदी दादा का कथन, '.....यह नंगा नाच देखो अपने पुतलों का। भारती सन्सकीरत और हिन्दू धरम यहीं सिखावता है......इसी से उबार होगा देश का।' तथा उनकी यह आशंका '.....लगता है, ठाकुर–बाम्हन सब मिल गये हैं और इस गाँव में कब का सुलगता बड़ी–छोटी जात का झगड़ा फन फैलाकर परानपुर को आज डँस लेगा।......' क्या 1990 के बाद आये जातिवादी उभारों तथा बढ़ते फासिस्ट कदमों की ओर संकेत नहीं करता। चूँकि मार्कण्डेय बढ़ी हुई राजनीतिक चेतना के कहानीकार हैं इसलिए उनके यहाँ सामाजिक चेतना का स्वर भी उतना ही मुखर है।

4.4. राजनीतिक चेतना की कहानियाँ

शिव प्रसाद सिंह की कुछ कहानियों में परिवेश के अन्तर्गत कुछ राजनीतिक टिप्पणियां आती हैं लेकिन राजनीतिक चेतना की कहानी उन्होंने नहीं लिखी जबकि मार्कण्डेय के यहाँ वह एक प्रमुख तत्त्व है। 'बीच के लोग', 'हंसा जाई अकेला', 'नौ सौ रूपये और एक ऊँट दाना' इस क्रम की महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

4.4. (i) हंसा जाई अकेला

मार्कण्डेय इसी नाम की कहानी–संग्रह की भूमिका में लिखते हैं, कथानक की दृष्टि से विचार करने पर, नये–पुराने का काल सम्बन्धी अन्तर कई कारणों से कभी कम, कभी ज्यादा होता है। इन कारणों में, किसी देश की जनता के सामाजिक–राजनैतिक जीवन के परिवर्तन–क्रम या किसी विशिष्ट व्यक्ति के प्रभाव का भी हिस्सा हो सकता है। क्योंकि जनता का जीवन ही वह धरातल है जहाँ लेखक अपने अनुभव संगठित करता है और सामान्य जीवन की भावभूमि पर ही उसकी संवेदनाएँ निर्मित होती हैं।[34]

'हंसा जाई अकेला' का धरातल भी यहीं है जहाँ आजादी के पहले हुए प्रान्तीय चुनावों की पृष्ठभूमि में ग्रामीण राजनैतिक चेतना तथा मानवीय सम्बन्धों को देखने की एक सार्थक इमानदार पहल हुई है। जैसा, कि मार्कण्डेय की कहानियों का सच है, सचाई का एक नया धरातल छूने का, उसे पहचानने का, 'हंसा जाई अकेला' में भी वही प्रयास हुआ है।

'हंसा जाई अकेला' गान्ही महात्मा की 'जै' और 'छै' के इर्द–गिर्द गाँवों के राजनैतिक परिदृश्य को उभारता चलता है। 1930 और 1940 के बीच काँगरेस की राजनीति में समाजवादी पैठ तेज होने लगती है इसी बीच गान्धी का बनवास भी चलता है जिसकी चर्चा 'सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण' तथा 'युग एवं परिवेश' अध्यायों में हो चुकी है। इस बीच जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में काँगरेस के अन्दर समाजवादी खेमा प्रभावशाली हो चुका था। प्रान्तीय चुनावों में मिली अभूतपूर्व सफलता के पीछे यही तत्व काम कर रहा था। इसी में जवाहर लाल नेहरू तथा सुभाष बाबू का व्यक्तित्व उभरकर सामने आया जिसका कि चुनाव नतीजों पर असर रहा।

सुमित सरकार लिखते हैं, "करोड़ों भारतीयों के लिए, विशेष कर हिन्दू बहुमत वाले सामान्य चुनाव क्षेत्रों में, 'गान्धी जी और पीले बक्से के लिए मत देने' का तात्पर्य देशभक्तिपूर्ण आत्म बलिदान की कद्र करने के साथ ही कुछ सामाजिक आर्थिक परिवर्तन की आशा करना भी था। आखिरकार काँग्रेस का चुनाव घोषणापत्र और फैजपुर कृषि कार्यक्रम पार्टी के पहले वाले वक्तव्यों की तुलना में निश्चय ही प्रगतिशील थे, भले ही वे वामपंथी आकांक्षाओं को पूरा नहीं करते थे।"[35]

हंसा पर्ची बाँटता फिरता है और कहता जाता है,

"बाबू साहब जो कहें मान लो! पूड़ी–मिठाई राजा के तम्मू (छतारी के नवाब की नेशनल एग्रीकल्चरिस्ट पार्टी) में खाओ! खरचा खोराक बाबू साहब से लो और मोटर में बैठो! लेकिन काँगरेस का बक्सा याद रखो! वहाँ जाकर, खाना–पीना भूल जाओ? काँगरेस तुम्हारे राज के लिए लड़ती है। बेदखली बंद होगी! छुआछूत बंद होगा। जनता का राज होगा। एक बार बोलो, बोलो गान्हीं महात्मा की जय!....
जय.........

(*हंसा जाई अकेला*)

लेकिन गान्धी का प्रभाव प्रतीकात्मक ही था, भूमिका तो नेहरू की ही अधिक थी :

'मिनटों में ही पचासों लड़के आ जुटे। चल पड़ा हंसा का जुलूस।'

"सुशिल्ला की गवनई, जौने में बीर जवाहिर की कहानी है....."

दरअसल गान्धी के प्रभाव के पीछे अफवाहों की भूमिका ही अधिक थी जिससे उनका स्थानीयकरण हो जाता था :

'क्षणभर में ही जैसे सारे गाँव को हंसा ने जगा दिया हो। जिधर से देखो, लोग चले आ रहे हैं। लड़के गान्धी बाबा को क्या जानें, उनके लिए तो हंसा ही सब कुछ था। एक उनके आगे झण्डा तानकर कहता "बोलो, हंसा दादा की....!'

(हंसा जाई अकेला)

सुमित सरकार लिखते हैं, "इस बात की भी आवश्यकता है कि अफवाहों की भूमिका को समझा जाए, वह भी ऐसे समाज में जो मुख्यतः निरक्षर था और तीव्र तनावों एवं दबावों के दौर से गुजर रहा था।....इसी मनःस्थिति में किसानों को विश्वास हो गया था कि गान्धी जी जमीन्दारी समाप्त कर देंगे, संयुक्त प्रान्त के खेत–मजदूर समझते थे कि गान्धीजी उन्हें 'जोत दे देंगे'....किसान गान्धी जी से सम्बन्धित अफवाहों को एक आमूल परिवर्तनवादी, जमीन्दार–विरोधी मोड़ दे रहे थे।"[36]

चुनावों के दौरान रामलीला की स्थिति इसे और स्पष्ट करती है जहाँ हंसा रावण बनता है :

'एक बच्चे ने अपनी छड़ी में लगा हुआ तिरंगा झट दशानन के सिर पर खोंस दिया और सब लोग जोर से हँसने लगे। उसी भीड़ में से किसी ने चिल्लाकर कहा, "गन्हीं महात्मा की जय.....!"

रावण भाषण देने लगा, "भाइयों! राम राजा था। देखो, छोटी जात का कोई कभी राम नहीं बनने पाता है। राक्षस सब बनते हैं। बिराहिम, कालू, भुलई, पेद्दर, सभी की पालटी है, हमारी। यह जनता की लड़ाई है। बोल दो धावा।"......

लड़ाई चलती रही। नगाड़े और ढोल बजते रहे। संठे के रंगे हुए तीर छूटते रहे। पर रावण मरे, तो क्यों मरे। चौपाई बार–बार टूटती। व्यास बार–बार कहता, "सो जाओ!" पर कौन सुनता है। हंसा की सेना क्यों हारे?

इसी बीच लक्ष्मण को जमीन से ठोकर लगी। वह लुढ़क पड़े। उनका मुकुट गिर गया। आगे पीछे दौड़ते–दौड़ते राम को चक्कर आ गया, और उनको उल्टी होने लगी। सारे मेले में शोर मच गया, "जीत गयी जनता की फौज। हंसा दादा की पाल्टी ऐसे ही वोट जीत लेगी।"

(हंसा जाई अकेला)

लेकिन इसी के साथ जमीन्दारों और प्रतिक्रियावादियों के यहाँ इसका दूसरा रूप उभरता है :

"मिल गया ससुर को एक काम। गन्ही बाबा का पायक काहे नहीं हो जाता। कौनों कँगरेसी जात–कुजात मेहरारू मिल जाती। गन्हीं को कोई विचार थोड़े है, चमार–सियार का छुआ–छिरका तो खाते हैं।"

(हंसा जाई अकेला)

गाँव में चुनाव की धूम मची थी। बाबू साहब बभनौटी के साथ कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। ....खेत निकाल लेने की, जानवरों को हँकवा देने की बातें कही जाती और हंसा–सुशीला कहानी का प्रचार किया जाता, – भ्रष्ट हैं सब! इनका कोई दीन–धरम नहीं है! गन्ही तो तेली हैं।......

(हंसा जाई अकेला)

हकीकत तो यह है कि 1930 के बाद कांगरेस की लोकप्रियता में उसकी वामपंथ की ओर झुकी समाजवादी छवि ही प्रमुख थी :

– और पच्चीस–तीस लोग हँसिया लेकर राजा साहब के तम्बू की डोरियों के पास खड़े हो गये।.........हंसा ने विजय का बिगुल फूँका और सारा तम्बू एक मिनट में जमीन पर था। जोर का शोर मचा। किसानों ने जय–जयकार की,.....

(हंसा जाई अकेला)

लेकिन कांग्रेस के अन्दर दक्षिणपन्थियों का ही प्रभुत्व बना रहा जिसका प्रमाण त्रिपुरी संकट है। हंसा जाई अकेला इसी सचाई को बयान करती है जहाँ कांग्रेस अपने समाजवादी आदर्शों, जिस चरित्र की जनता में छवि थी, गान्धी की जो छवि थी (वह गान्धीवाद से बिलकुल भिन्न था), की तिलांजली देती रही। काँग्रेस के अन्दर वामपंथ हारता रहा और दक्षिण पन्थ जीतता रहा। यही कारण है कि कांग्रेस को आजादी के बाद कई विभाजन देखने पड़े और इसकी पृष्ठभूमि वस्तुतः गान्धी के दक्षिणपन्थी रूझानों ने ही तैयार कर दी थी।

इस तरह 'हंसा जाई अकेला' उन राजनीतिक सच्चाइयों को दिखाता है जो निचले उभारों से जुड़ा था, उनकी आकांक्षाओं से जुड़ा था जिसका आरोपण उन्होंने गान्धी में किया कांगरेस में किया लेकिन कांग्रेस दूसरे रास्ते जा रही थी। कहानी का प्रारम्भ, 'वहाँ तक तो सब साथ थे, लेकिन अब कोई भी दो एक साथ नहीं रहा।' तथा अन्त, 'अब भी कभी–कभी वह आजादी लेने की कसमें खाता है।' एक बड़े व्यंग्य की सृष्टि करता है जिसका राज कांग्रेस की भूमिका और गान्धी की छवि में छिपा है।

'नौ सौ रूपये और एक ऊँट दाना' भी इसी क्रम की कहानी है जिसमें आजादी–पूर्व की संघर्षशील परम्परा और मूल्यों तथा आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में आजादी के बाद की अवस्था का ग्रामीण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत हुआ है। 'बे–विचार की नीति' यानि राजनीति में विचारहीनता का प्रवेश, पंचायतों की दशा तथा सामाजिक भेद–भाव की स्थिति को उभारने की कोशिश इस कहानी में हुई है।

शिव प्रसाद सिंह की एक कहानी है 'शहीद–दिवस' जिसमें 1942 के आन्दोलन का छिद्रान्वेषण हुआ है जैसा कि शिव प्रसाद सिंह की फितरत है। वे उस कहानी में कुछ भी उभार नहीं पाते सिवाय सेठ की धोखेबाजी के। उससे न तो कोई राजनीतिक सन्दर्भ उभरता है और न ही सामाजिक स्थितियाँ। उभरती हैं तो कुछ खट्टी–मीठी स्मृतियां जिसमें खोकर शिव प्रसाद सिंह ने ढेरों कहानियाँ लिख डाली हैं।

4.5. सामाजिक चेतना

सामाजिक विषमता, भेद–भाव, रुढ़ियों के प्रति सजगता से तो इस चेतना का पता चलता ही है लेकिन इसके साथ ही महत्वपूर्ण होता है समाज की सुन्दर रीतियों, स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों, मिली–जुली संस्कृतियों की तलाश। एक रचनात्मक व्यक्तित्व इसी के लिए संघर्ष करता है जैसा कि प्रेमचन्द कहते हैं, 'मनुष्य ने जो कुछ सुन्दर पाया है साहित्य उसी की अभिव्यक्ति करता है।' (द्र0 प्रथम अध्याय)

इस हिसाब से शिव प्रसाद सिंह की कुछ कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं जिसमें 'मरहला', 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'कर्ज', 'किसकी पाँखें', 'अँधेरा हंसता है', 'शाखा मृग' आदि कहानियाँ हैं। इसमें 'मरहला', 'खैरा पीपल कभी न डोले' तथा 'किसकी पाँखें' स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों एवं मेलजोल की संस्कृत के पक्ष में जूझती कहानियाँ हैं लेकिन समाज की सड़ी–गली मान्यताओं, गलत परम्पराओं, रूढ़ियों के प्रति जो सजगता और पैनी दृष्टि मार्कण्डेय की कहानियों में है वह शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में नही है। क्योंकि शिव प्रसाद सिंह उसे केन्द्रीय भाव नहीं बनाते। 'कर्मनाशा की हार' की दृष्टि को विकसित करने की जरूरत थी लेकिन शिव प्रसाद सिंह ने उसे वही छोड़ दिया जबकि मार्कण्डेय निरन्तर पैने होते चलते हैं। 'शवसाधना' उसी का नतीजा है।

दूसरी बात यह, कि शिव प्रसाद सिंह कहानी के रूप में कोई एक केन्द्रीय भाव नहीं उभार पाते उसे उद्देश्य नहीं दे पाते जिससे कहानियों में परिवेश प्रधान हो जाता है और कहानियाँ आंचलिकता की ओर झुक जाती है। ऐसे में अगर उन्हें आंचलिकता के खाने में डाल दिया जाय तो आश्चर्य नहीं।

4.5 (i) मानवीय सम्बन्ध तथा खैरा पीपल कभी न डोले

खैरा पीपल..... एक आंचलिक कहानी है जिसमें कथानायक के माध्यम से टूटते मानवीय सम्बन्धों, सामाजिक कुरीतियों, पनपती लम्पटता आदि पर प्रकाश डालने की कोशिश हुई है। कहानी का कोई एक भाव नहीं है अगर कुछ है तो वह कथानायक की स्मृतियाँ हैं जो मोहासिक्त सी दिखती हैं यद्यपि कि उसमें बढ़ती लम्पटता को उभारने तथा कुरीतियों पर चोट करने की कोशिश हुई है, वहीं जातीय गतिशीलता तथा मानवीय रिश्तों की गरमाहट भी महसूस की गयी है। गुदई काका और भीखम

चौधरी के जरिये इसे उभारा गया है। जब परिवेश ही नायक हो जाय और परिवेश ही केन्द्रीय भाव बन जाय तो कहानी आंचलिक हो जाती है।

4.5 (ii) मरहला

"अरे वाहरे बुढ़िया !" खुनखुन गुस्से में आकर बोला –"मैं क्या ड्राइवर हूँ जो तेरी गइया देख के अंजन रोक दूँगा ? जाके हाँक ले और पगही डाल के रख हाँ!" कहाँ यह रूखाई और कहाँ जान की भी परवाह न कर उसी बुढ़िया की गाय बचाने के लिए लाइन पर दौड़ जाना :

'हवा को भी अपनी गति से थरथराता हुआ भारी–भरकम इंजन का लम्बा मुँह एक झटके में गाय को अपने जबड़े में दबोच लेगा खुनखुन ने इंजन की ओर देखा, फिर गाय की ओर । हरी झण्डी हाथ में लिए ही वह लाइन पर कूदा और बेतहासा गाय की ओर दौड़ पड़ा ।'

यहीं है मरहला की कहानी जिसमें शिवप्रसाद सिंह ने मानवीय रिश्तों की मूल भावना को छुआ है, जहां जीवन,सामाजिक उद्देश्यों और मूल्यों से अनुप्राणित है ।

'...... खुनखुन उनके परिवार का एक आदमी था किसानों के सुख–दुख में समान भागीदार की तरह। औरतें जानती थीं कि मरहलादार उनके घरवालों की ही नींद सोता है और उन्हीं की नीद जगता है उनके हर काम में वह फाटक पर बैठा –बैठा मदद करता है ।'

सामाजिकता की यहीं थाप मानवीय सम्बन्धों को उर्जा देती है ;

'खुनखुन को लगा कि वह मरहले की मनहूस दीवारों को तोड़कर गाँव की किसी गली में आ गया है, जहां कई जोड़ी आंखें उसे स्नेह और ममता से देख रही हैं ।'

शिव प्रसाद सिंह जहाँ भी स्मृतिमोह तथा आत्ममोह से उबरे हैं वहाँ उन्होंने सामाजिक चेतना से जुड़ी कुछ बेहतरीन कहानियाँ लिखी हैं 'मरहला' उनमें से एक है।

मार्कण्डेय की 'गनेसी' भी ऐसी ही कहानी है लेकिन वह कोई भी भाव छूने में असफल है ।

4.5 (iii) सामाजिकता बनाम'किसकी पाँखें'

उसी सामासिक संस्कृति की पाँखें जिसे धर्म की शक्तियों ने नीछ डाला और साम्प्रदाइकता की आग में झोंक दिया।

अशरफ चाचा कुछ सोच रहे थे शायद । कुछ ऐसा,जिसे हमेशा सोचना आदमी के लिए मुश्किल होता है। इसी से शायद उनके चेहरे की रेखाऐं सिमटकर घनी होती जा रही थीं और वे भँवर को चीरने में नहीं, उसमें डूबने में ही सकून पा रहे थे।'

'इस देश को बनाने में जितनी हड्डियाँ हिन्दुओं ने गलाई हैं उससे कम मुसलमानों ने नही । रहन–सहन रीति–रिवाज, वाणी–व्यवहार सब जगह उसकी छाप दिखाई देती है और इतना ही नहीं बल्कि दोनों के सुख–दुख भी एक थे :

'अशरफ चाचा की शादी में बड़ी शान थी । तम्बू वाले को बयाना देना हुआ तो अशरफ चाचा गये । बाजे वाले को साई देनी थी तो अशरफ चाचा की खोज हुई।.....'

'शादी –व्याह का काम समाप्त हो चुका था। उसी साल बाबा का देहान्त हो गया। अशरफ चाचा उनके पैरों में सिर रगड़ –रगड़ कर रोये । लोगों को लगा कि बुढ़ऊ की मौत से सिर्फ उनके अपने निजी बेटे ही अनाथ नहीं हुए,अशरफ चाचा भी अनाथ हो गये ।'

लेकिन इस पर ग्रहण लग गया जब देवी पूजा नये पुजारी के हाथों में आया और उसने नया विधान चालू किया :

'........ज्ञानू पण्डित ने सिर को झटकते हुए कहा,"मैं देवी माता की पूजा में म्लेच्छ से चन्दा नहीं ले सकता । यह हमारे धर्म के विरूद्व है । जो लोग मन्दिरों को अपवित्र करते हैं उन पर हिलाली ध्वजा गाड़ते हैं ,उनके पैसे से पूजा नहीं हो सकती–।"

'.......,गरदन झुकाए वे दालान से बाहर आए और चुपचाप कंकरीली गली से होते हुए छावनी की ओर चल पड़े ।'और इसी के साथ जैसे वह मेलजोल की संस्कृति भी कंकरीली गली में मुड़ गयी।

'........ मैं तो असल में इस हवा के बारे में सोच रहा हूँ । अजीब खुन–खुनी हवा है यह जब भी गुमरकर चलती है तो ढेरों पत्ते इसकी लपेट में ऐंठकर पत्त–पत्त गिरने लगते हैं –।'

कथानायक जैसे एक ऐसा राष्ट्र हो जिसे जन्म तो हिन्दू माँ ने दिया था लेकिन उसके पालन–पोषण में मुस्लिम माँ ने भी कम भूमिका नहीं अदा की। आज वही खुद को बँटा हुआ लुटा हुआ देख रहा है।

4.5 (iv) धर्म का खेल बनाम शव-साधना

धर्म आदमी की भौतिक जरूरतों से ही पैदा हुआ था । आदमी ने अपने बनने की प्रक्रिया में ही उसे गढ़ा था अर्थात धर्म मनुष्य के लौकिक जीवन को ही अभिव्यक्त करता था लेकिन धीरे–धीरे उसमें अलौकिकता का प्रवेश होता गया और हम तक पहुँचते –पहुँचते वह एक खेल बन चुका था । धर्म के इसी स्वरूप का उद्घाटन मार्कण्डेय ने अपनी कहानी 'शव–परीक्षा ' में की है ।

आज धर्म के खेल में सत्ता लोभी भी हैं धन लोभी भी हैं ,स्त्री की शरीर के लोभी भी हैं और सभी अपने –अपने तरीके से खेल रहे हैं । धर्म अपना ऐतिहासिक महत्व खो चुका है आज उसका जो स्वरूप है वह प्रति–हिंसा और सत्ता मद से तैयार हुआ है । सत्ता के गलियारे से बाजार के द्वार तक उसका मैदान है ।सभी उसे अपने हितों से ड्रिबल करते हैं ।फाँसीवाद और पूंजीवाद आज उसी के रथ पर सवार हो अपने खूनी पंजे फैला रहे हैं तो प्रतिहिंसा उसे शव–साधना से महा–साधना तक पहुँचा रही है ।

घूरे बाबा भी प्रतिहिंसा की इसी आग में शव–साधना करते हैं लेकिन यह मार्कण्डेय की ऐतिहासिक दृष्टि ही है जो धर्म की हकीकत को उन्होंने उघाड़ दिया है ,धर्म को नंगा कर दिया है ।

'..... मठिया में प्रेत–साधना करते हैं बाबा!'

और यह साधना है लोभ और पिपासा की, स्त्री–देह की,धन की।

'घूरे बाबा घूमकर महिला दर्शनार्थियों की ओर देखते हैं ।

– पुत्र की कामना .....! बुझी हुई , भारी–भारी–सी ,भूखी.....

–पति की कामना!.... चपल, लोलुप, पियासी.....

–धन की कामना!.....उदास,रसहीन,मुर्दा.....

–रोग मुक्ति की कामना..... बीमार,पीली–पीली.....

और घूरे बाबा की शव– साधना (शरीर–साधना) इसी के बल पर फलती–फूलती है । घूरे बाबा की ही क्यूँ धर्म भी इसी के बल पर फलता–फूलता है। सुखी इसे पहचानती है।

'सुखी चुभ रही है अभी ,घेंचू को भी , जो सन्यास का भोग भोगना सीख गया है , शव–साधना और माया की खुमारी को समझ गया है और.......रतनजोत तो तेरी दासी हो सकती है दासी!..... बाबा की बात उसे याद है और बाबा को भी , जो रतनजोत को अगले जनम के वैधव्य से मुक्ति दिलाना चाहते हैं ।'

यह मुक्ति , स्त्री–देह की भी मुक्ति है जो सामन्तवादी नैतिकता के जंजीरों में जकड़ी रहती है । जहाँ मासिकता पर कड़ा पहरा रहता है । यही कारण है कि धर्म सामन्तवाद से उपजी आवश्यक बुराई बन जाता है, वह सामन्ती नैतिकता में जकड़ी स्त्री–देह की मुक्ति का साधन बन जाता है ।

चुड़इनियाँ के मठ से, बम् भोले, अथवा सत्त गुरू, की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। अब वहाँ रात के अंधेरे में बाबा सुखी की जाँघों पर सिर रखकर ,उसकी कमर में हाथ डाले घंटों रोते हैं ,"आखिर गढ़ी वाले कब तक रतनजोत के भागने की बात छिपाएँगे। एक–न एक दिन घेचू के साथ उसके भागने का पता!"

मार्कण्डेय की ऐतिहासिक चेतना ही है जो एक साथ धर्म के सारे चरित्रों का उद्घाटन कर जाती है , साथ ही सामन्ती नैतिकता और धर्म के अन्तःसम्बन्धों को भी सामने रख देती है । आज , जबकि प्रवचनकारों और बापुओं की बाढ़ सी आ गयी है यह आवश्यक हो गया है कि हम पुनः उसकी तह में जाएँ ! और ऐसा उदारीकरण के साथ–साथ होता है तो यह और भी जरूरी हो जाता है कि हम स्त्री –देह से जुड़ी बुर्जुआ नैतिकता और धर्म के इस नये चरित्र के बीच के सम्बन्धों को समझें । 'शव–साधना' अपनी इसी भूमिका के साथ आज भी प्रासंगिक है और मार्कण्डेय की कालजयी कहानियों में शुमार करती है , वैसे ही जैसे 'दूध और दवा'। और तब समझ में आता है कि डा० रामविलास शर्मा को यह कहानी इतनी पसन्द क्यूँ आती है ।[37]

4.5 (v) संस्थागत रूढ़ियाँ बनाम सोहगइला

जैसा कि स्पष्ट है ,कि शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय की दृष्टियों में अन्तर है । यह अन्तर रूढ़ियों की पहचान और उस पर चोट करने में दिखता है। मार्कण्डेय की तलाश जहाँ संस्थागत रूढ़ियों को लेकर है वही शिवप्रसाद सिंह आंचलिक रूढ़ियों की पहचान पर अधिक ध्यान देते हैं । 'कर्मनाशा की हार', 'खैरा पीपल ...' आदि इसका उदाहरण हैं। लेकिन मार्कण्डेय संस्थागत रूढ़ियों पर प्रहार

करते हैं । इस दृष्टि से 'सोहगइला' उनकी महत्वपूर्ण कहानी है जो अपने कथ्य के चुनाव को लेकर भी बेहतरीन बन पड़ी है।

'शव–साधना ' अगर सामन्तवादी नैतिकता और धर्म के अन्तर्सम्बन्धों को सामने रखती है तो 'सोहगइला' सामन्तवादी नैतिकता और विवाह के अन्तर्सम्बन्धों को। पति, परमेश्वर होता है , सोहगइला उसी की निशानी होती है :

''इन्हें छोड़ना नहीं। कुल–परिवार की लाज का ध्यान रखना !'' और माँ ने लाल जमीन पर छोटे–छोटे,पीले धब्बे वाली मोटी अँचरी –मनौरीदार सुहा के आँचल में टँके घुघुरूओं वाले किनारे को थोड़ा नीचे खींच दिया ।.... दिखाई पड़ रहे थे केवल वे दो नन्हें –नन्हें हाथ , जिनमें लाल रंग का सोहगइला, गुलाब के फूल की तरह लहक रहा था ।

वह याद करती है ठकुरानी बहू को'.....लेकिन वह भी वैसी ही बहू बनेगी, उसी तरह का घर–दुआर होगा , वह भी कहीं नही जाएगी.....'

–वह व्याहता है, वह ससुराल जा रही है, यह उसका सुहाग है, सुहाग–और प्यास की तकलीफ से ढीले होने वाले उसके हाथ एकाएक कस गये , क्योंकि ठकुरानी बहू की एक–एक बात उसे याद आ रही ।

ध्यान देने वाली बात है कि शिवप्रसाद सिंह जहाँ प्रभु–नैतिकता को आरोपित करते हैं श्रमिक एवं निचली जातियों पर वहीं मार्कण्डेय उसे संस्कृतीकरण के अन्तर्गत देखते हैं । ठाकुरानी को देखकर उनके जैसा बनना चाहती है रनियाँः

'और ठाकुरानी बहू का सुन्दर चेहरा उसकी आँखों में गड़ गया ।'यहीं सोचकर वह सोहगइला को और भी सतर्कता से पकड़ लेती है ।एक तरफ प्यास के मारे उसकी जान जा रही है दूसरी तरफ सोहगइला।

'क्षण भर बाद, उसने फिर आँखें खोलीं और चाहा कि चिल्ला कर कुछ कहे ...... पानी से भरे , उसी पीतल के बड़े लोटे को दोनों हाथों से उठाकर मुँह में लगाए , वह यह भी भूल गयी थी कि सोहगइला कब से उसके हाथ में नहीं है .....

इसके बाद लेखक की टिप्पड़ी ' वह अब बच्ची नहीं रह गयी थी और सामने खड़े भविष्य को पहचान रही थी ।' सामने खड़ा भविष्य कि उसका भी हश्र माँ जैसा नहीं होगा जिसका पति उसे छोड़ चुका है फिर भी वह पति के नाम पर जीती है ।

'सोहगइला'मार्कण्डेय के प्रगतिशील दृष्टिकोण को भी सामने रखती है जो उन्हें प्रेमचन्द एवं यशपाल की परम्परा से जोड़ता है ।

इसके अतिरिक्त उनकी सामाजिक चेतना का स्वरूप 'हंसा जाई अकेला ' के रामलीला वाले प्रसंग में भी देखा जा सकता है। (द्र–यहीं अध्याय) 'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' भी प्रगतिशील परम्परा से जुड़ी सामाजिक चेतना की कहानी है । भूमि –सम्बन्धी सभी कहानियाँ उसी से जुड़कर चलती हैं ।

4.6 नारी चेतना

नारी चेतना से जुड़ी कहानियों में परम्पराओं का भेद है । शिवप्रसाद सिंह प्रभु परम्परा या शास्त्रीय परम्परा से जुड़ते हैं तो मार्कण्डेय उस दूसरी परम्परा से जिसकी चर्चा नामवर सिंह करते हैं । शिवप्रसाद सिंह जहाँ नारी की शुद्धता और पवित्रता पर अधिक जोर देते हैं वही मार्कण्डेय नैतिकता के प्रश्नों में न उलझकर उनकी वस्तुगत सामाजिक स्थितियों पर ध्यान देते हैं जहाँ वे उससे रगड़ खाकर बनती बिगड़ती रहती हैं । दूसरे, मार्कण्डेय नारी मुक्ति को वर्ग मुक्ति से जोड़कर देखते हैं 'सूर्या' और 'प्रिया सैनी' इस ढंग की महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं । इसकी शेष चर्चा अगले अध्याय में नारी –चरित्र के अन्तर्गत अपेक्षित होगी । शिवप्रसाद सिंह नारी सम्बन्धी प्रभु नैतिकता को ही केन्द्र में रखते हैं जहाँ उन्हें कदम–कदम पर अपनी पवित्रता और शुद्धता की सफाई देनी पड़ती है। शिवप्रसाद सिंह नारी–पवित्रता के लिए जूझते कहानीकार हैं।

4.7 पीड़ित चेतना

शिवप्रसाद सिंह ने हाशिए पर जिन्दगी बशर कर रहे लोगों को कहानी का विषय बनाकर उन्हें संवेदना दी है लेकिन इसे व्यवस्थागत बुराई के रूप में न देखकर कथानायक की सहृदयता से देखते हैं। उसे ऐतिहासिक वस्तुगत सन्दर्भो से जोड़कर नहीं देखते । इसे मानव की भवितव्य गरिमा से नहीं जोड़ते । जिसके चलते,उनकी कहानियाँ उस पीड़ा के प्रति खालिस करूणा का उद्रेक करके शान्त हो जाती है । हाशिए पर जिन्दगी बशर कर रहे जिन लोगों को वे कहानी का विषय बनाते हैं उनकी पीड़ा ही खुद हाशिए पर चली जाती है और कथानायक की सहृदयता महत्वपूर्ण हो

जाती है इन लोगों की बेहतर जिन्दगी के लिए कोई सपना नहीं है उनके पास अगर कुछ है तो छुच्छ दया की दृष्टि।'धारा','इन्हें भी इन्तजार है' ऐसी ही कहानियाँ हैं ।

इतना ही नहीं ,बल्कि वे उस पीड़ा का वास्तविक कारण भी नही बता पाते। उनकी जिन्दगी से वे कथानायक की या लेखक की असन्तुष्टि को तो उभार ले जाते है लेकिन सन्तुष्टि के लिए कोई विकल्प नहीं है उनके पास । यहीं कारण है कि वे व्यवस्थागत नफरत भी नहीं पैदा कर पाए हैं । किसी व्यवस्था से उदासीन हो जाना, अमानवीय हो जाना भी उस व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है। प्रेमचन्द की कफन और मार्कण्डेय की घुन इसका सर्वोत्तम उदाहरण हैं लेकिन शिवप्रसाद सिंह वह भी नहीं कर पाते।

मार्कण्डेय पीड़ा और समस्या को वर्गों से जोड़कर देखते हैं तथा वर्गीय चेतना का आधार निर्मित करते हैं जिसकी चर्चा पीछे हो आयी है । शिवप्रसाद सिंह व्यक्तिवादी आग्रह के चलते उसे डोम, धरिकार, नट, सँपेरा, पासी, बनवासी में अलग–अलग बाँटकर देखते हैं और इन्तजार करते हैं किसी अलौकिक चमत्कार का जिससे उनकी सारी पीड़ा हर ली जाएगी। क्योंकि उनकी प्रतिबद्वता किसी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति नहीं है ।

अपनी व्यक्तिवादी चेतना के बावजूद वे यथार्थवाद से भी जुड़ते हैं लेकिन वहीं जहाँ कथानायकत्व से मुक्त होते हैं। 'पापजीवी', 'सँपेरा', 'आर–पार की माला' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।

4.7 (i) पापजीवी

पापजीवी मुसहरों की कहानी है । मुसहरों में स्त्री–पुरूष सम्बन्ध बहुत जटिल नहीं होते क्योंकि उनके सम्बन्ध में श्रम की समान हिस्सेदारी महत्वपूर्ण होती है जिससे वे एक दूसरे के साथ जन्म–जन्मान्तर की. कसमें नही खाते और लगभग स्वतन्त्र रहते हैं या कभी भी अलग हो सकते हैं लेकिन पापजीवी में शिवप्रसाद सिंह ने इस स्थिति को नजर अन्दाज कर दिया है। वे प्रभु–पत्नी–आदर्शों को आरोपित कर बैठते हैं ।

मुसहरों को माना जाता है कि वे जन्मजात चोर होते हैं। अच्छा होता कि शिवप्रसाद सिंह उन परिस्थितियों को दिखाते जिसमें वे चोरी करने के लिए बाध्य होते

हैं बजाय ,उन्हें साव दिखाने के ।लेकिन शिवप्रसाद सिंह को करूण पैदा करनी है और मुसहरों के ऊपर कहानी लिखनी है सो लिख दी । न तो उनकी जीवनगत विशेषताओं को जानने की कोशिश की और न ही उनकी परिवेशगत विशेषताओं को। ऐसी गलतियाँ कहानी को नुकसान पहुँचाती हैं जहाँ,कि अपने पचास वर्षों के सफर में ही उसने ऊँचा स्थान प्राप्त कर गम्भीर साहित्य की विधा रूप में प्रतिष्ठित कर लिया था। कहानी कलम की घिसावट नहीं होती । विषयों का चुनाव गहन विश्लेषण की अपेक्षा रखता है।

4.7 (ii) आर–पार की माला

'आर–पार की माला' इस दृष्टि से एक अच्छी कहानी है तथा यथार्थवादी परम्परा से जुड़कर चलती है । आम जिन्दगी जीने वालों की छोटी–छोटी खुशियाँ कैसे एक–एक कर बिखर जाती हैं ।हाशिए पर जीने वाली जातियों का सामान्य सा जीवन कैसे हस्तक्षेप की भेंट चढ़ जाता है । हस्तक्षेप, सामाजिक शक्तियों का जो उनके अहं से, विलास से,प्रभुता से और शक्ति का स्रोत और सन्तुलन अपने पक्ष में बनाये रखने से पैदा होता है । इसकी जड़ कहीं और नहीं बल्कि हमारी व्यवस्था की बुनावट में है , जो आमूल –चूल परिवर्तन की माँग करती है । यह तैयार हुआ है भौतिक शक्तियों की बेइमानी से । प्रकृति द्वारा प्रदत्त समान वितरण की व्यवस्था में दखल देने से।

अगर हम समाज के अन्तरसम्बन्धों को पहचानते हैं, अन्तर्विरोधों को पहचानते हैं तो हम वर्ग–संघर्षों के इतिहास को न जानते हुए भी उसी रास्ते पर बढ़ेंगे । तब भी अच्छी और यथार्थपूर्ण रचनाएँ लिखी गयी हैं जबकि वर्गीय संघर्षों की पहचान नही हुई थी। क्यूँकि, वस्तुता अपना स्वाभाविक विकास करती है ।उसमें विभेदीकरण का अर्थ है कि कुछ गलत हो रहा है । उस गलत की पहचान के लिए दृष्टि विकसित करनी पड़ती है। भौतिक विकास की गति पकड़नी पड़ती है। हमें यह मानना पड़ता है,कि चीजें शाश्वत नहीं हैं ,उनकी गति कोई और तय नहीं करता है बल्कि भौतिक जरूरतें और वे परिस्थितियाँ तय करती हैं ,जिनमें रहकर वह जीने के साधन निर्मित करता है, उनका विकास करता है। इन्हीं से होकर मूल्य एवं नैतिकता बनते–बिगड़ते रहते हैं ।

लेकिन शिवप्रसाद सिंह के साथ जो विडम्बना है, वह उनका साथ यहाँ भी नहीं छोड़ती अर्थात मूल्य ,नैतिकता ,इज्जत आदि की अमूर्त धारणाएँ :

सामने नीरू और रज्जब को एक साथ देखकर बुड्ढा ठिठका ।"हूँ ,अबे यह लालों का घर नहीं है। अभी से लौंडिया के पीछे पागल है !....."

यह कंजड़ो की नैतिकता नहीं बोलती बल्कि यह लेखक की प्रभु नैतिकता बोलती है जिसका आरोपण शिवप्रसाद सिंह करते हैं ।

.....जुम्मन उखड़ा ,"चोर कहने वाले। यहाँ तो अपनी आबरू पर मरते हैं । रहते हैं इज्जत के साथ बरगद के नीचे या जेल के पीछे।"

शिवप्रसाद सिंह इतने से ही बाज नहीं आते और अस्तित्ववादी नैतिकता का भी आरोपण कर देते हैं :

"नहीं,मैं भी वहीं रहती हूँ :झोपड़ी में तो कभी–कभी आती हूँ । जानते हो ठाकुर की दो औरते हैं । मगर उससे मन नहीं भरता । बाप नौकर है तो बेटी नौकरानी !" और वह सुबक –सुबक कर रोने लगी।

फिर सहसा थूककर बोली , "उबकाई आती है।"

यद्यपि ,कि कहानी अपना एक प्रभाव छोड़ने में सफल है लेकिन शिवप्रसाद सिंह को , कंजड़ों, नटों, डोमों, मुसहरों के ऊपर कहानियाँ लिखने से पहले इन जातियों की ऐतिहासिक स्थिति की भी पड़ताल कर लेनी थी ।ऐसा करके ही वे उनकी सामाजिक स्थिति को गहराई से उभार पाते । पुनःयह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि कहानियाँ कलम की घिसावट नहीं होतीं तथा कहानियों का निर्माण सिर्फ संवेदना से नहीं होता । जिनकी जिन्दगी की दयनीयता वे दिखाते हैं उनके जीने के जज्बे को भी दिखाते तो कहानी का भला होता । उनकी जिन्दगी, वाया बाइपास चलती है, उनकी जिजीविषा कभी नहीं मरती। वह कौन सी परिस्थिति है, जिसमें वे जीने का ऐसा ढर्रा विकसित कर लेते हैं ? उसकी पड़ताल उनकी दयनीयता से ज्यादा जरूरी होता है ।

मार्कण्डेय की कहानियों में वहीं पड़ताल दिखती है क्योंकि सच्चाई यथातथ्यता नहीं होती । उसके लिए साफ दृष्टि चाहिए जो सामाजिक बुनावट की ऐतिहासिकता को समझता हो तथा ढाँचागत परिवर्तनों पर नजर रखता हो । यथार्थवाद का अर्थ है वस्तुगत सामाजिक सन्दर्भों की तलाश और तभी हम उन सामाजिक स्थितियों को

समझ पाएँगें जिसमें एक वर्ग की सुविधा दूसरे वर्ग की मुसीबत बन जाती है जिसे वे अपनी नियति मान लेते हैं । लेखक का काम होता है उस नियति के घेरे को तोड़ना जो बिना वर्ग चेतना के सम्भव नहीं।

मार्कण्डेय की कहानियाँ निरन्तर उससे जुड़ती चलती हैं जहाँ वे पीड़ित के प्रति करूणा नहीं उपजाते बल्कि उन स्थितियों के ऊपर प्रश्न खड़ा करते हैं जिसमें नीरू(आर–पार की माला) बदलू (पापजीवी) ,मंगरू (मुर्गे ने बाग दी),टीमल(माटी की औलाद) जैसे लोग पैदा होते रहते हैं। मार्कण्डेय की एक कहानी है,'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' उसकी पात्र है जमुना बारी ।

......अभी गाँव में आयी है । उसकी पूर्व कथा यों है कि उसने सात लोगो से अब तक शादियाँ की और सातों को छोड़ दिया । यह हमारा बारी नौकर उसका आठवाँ पति था , जिसे लेकर वह कलकत्ता भाग गयी । वहाँ जब नौकर को ठीक से काम धंधा नहीं मिला और वे भूखों मरने लगे ,तो वो एक दूसरे मिल–मजदूर से मुहब्बत करने लगी ।'

(कहानी के लिए पात्र चाहिए)

लेकिन वह ऐसा क्यूँ करती है? इसका जबाब वही देती है:

"मैंने कुछ नहीं किया है रे लेखक ! क्यों नहीं पूछता उन सारे लोगों से, जिन्होंने मुझे ऐसा बनाया । देखता नहीं , यह पंडित ,वह जमीन्दार का छोकरा और वह महाजन का छोटा भाई, सभी मेरे साथ सो चुके हैं , पर सब मुझे गाली देते हैं । और जब मेरे पेट में बच्चा आया इन्होंने पंचायत करके उसे नाजायज करार दिया और मुझे गाँव से बाहर निकाल दिया ।"

(कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए)

इस तरह मार्कण्डेय समाज की निर्धारण शक्तियों को चिन्हित करते हैं जो सारी बुराई की जड़ हैं और उन पर प्रश्न खड़ा करते हैं न, कि समाज पर । शिवप्रसाद सिंह समाज को ही प्रश्न के घेरे में ला देते हैं । (द्रष्टव्य–अध्याय तीन,व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध) वे व्यक्ति को महत्वपूर्ण मान लेते हैं ।समाज की बुनावट में अगर गड़बड़ है, तो इससे समाज गलत नहीं हो जाता !एक लेखक बुनावट के जिम्मेदार

लोगों की पहचान करता है, निर्धारक शक्तियों की पहचान करता है और तभी वह यथार्थवाद की ऐतिहासिक परम्परा से जुड पाता है।

4.8 विम्बात्मक कथ्य

विम्बात्मक कथ्य की परम्परा हमारी प्राचीन रूपक कथाओं से ही होकर आयी है । प्रेमचन्द ने इसे ऊँचाई दी जहाँ "मन्त्र" 'शतरंज के खिलाड़ी' "दो बैलो की कथा," 'कफन', 'ठाकुर का कुँआ' कहानियाँ मिलती हैं ।

मंत्र कहानी का विम्ब है मंत्र की अवधारणा यानी, अगर उसे जानने वाला उसका प्रयोग तब नहीं करता जब उसे साँप के काटे हुए की रक्षा के लिए बुलाया जाता है तब उसकी शक्ति चली जाती है । यह मिथकीय विम्ब है जिसका प्रयोग प्रेमचन्द ने मानवता की रक्षा के लिए किया है। भगत डाक्टर के बच्चे को बचाकर उस मंत्र की शक्ति को बचाता है जिसकी जरूरत कभी खत्म नहीं होगी । 'शतरंज के खिलाड़ी' तथा 'दो बैलो की कथा' में स्वतन्त्रता–संघर्ष से जुड़ा विम्ब है तो वही 'कफन 'और 'ठाकुर का कुँआ' में व्यवस्था की क्रूरता और उसमें अमानवीय हो चुके रिश्तों का विम्ब है तो वहीं सड़ चुकी व्यवस्था का विम्ब सड़ चुके पानी में है जिसको जोखू पीने के लिए विवश है। लेकिन ध्यान देना है कि यहाँ विम्ब उभरता है वह कथ्य नहीं है । मार्कण्डेय की कहानी घुन इसी परम्परा में आती है तथा 'सवरइया' भी लेकिन विशुद्व रूप से विम्बात्मक कथ्य का प्रयोग हुआ है मार्कण्डेय की कहानी 'प्रलय और मनुष्य' में।

4.8 (i) प्रलय और मनुष्य

यूँ तो प्रलय कथाएं बाइबिल और पुराणों में मिलती है जहाँ मनुष्य की उसके ऊपर विजय गाथा प्रस्तुत हुई है। वैदिक कथाएँ इसी से भरी पड़ी हैं जहाँ प्रकृति के ऊपर विजय पाता मनुष्य निरन्तर आगे बढ़ता है लेकिन आधुनिक कथा–साहित्य में वह नयी परिस्थितियों के बीच पुनः कहानी रूप बनती है मार्कण्डेय के यहाँ।

प्राकृतिक आपदा के समय मनुष्य के सम्बन्ध कैसे बनते–बिगड़ते हैं, उसकी चालें–कुचालें, भेद–भाव, मानवीयता–अमानवीयता, समता–विषमता, प्रवृत्तियाँ–चरित्र

क्या–क्या रूप ग्रहण करते हैं, उसी को कहानी का विषय बनाया गया है। मनुष्य की अजेय शक्ति एक तरफ है, तो उसकी कमजोरियाँ और बुराइयाँ दूसरी तरफ। एक तरफ राजनीति की पड़ताल है तो दूसरी तरफ सामाजिक विषमता की पहचान।

"लहरों को ऊँचा करो! मैं मनुष्य को देखूँगी – बेचारे मनुष्य को!"

"मैं केवल मनुष्य के बारे में सुनना चाहती हूँ। वह क्या कर रहा है, उसका तन्त्र क्या सोच रहा है?"

प्रलय के समय मनुष्य की परख, उसकी अजेयता, उसकी ममता, उसकी बुद्धि, उसके साहस और पौरुष की परख।

"हम परिस्थितिवश बिखर जाते हैं! अपने ही गुणों को नहीं पहचान पाते। भटकते हैं, ठोकरें खाते हैं, भले दिनों में स्वार्थ से अंधे हो जाते हैं, तन्त्र को धोखा देते हैं, जनता का गला काटते हैं।" यह एक इन्जीनियर का कथन है जिसने निर्माण कार्य में धोखाधड़ी की थी। इसी तरह एक सदस्य है असेम्बली का जिसने कई संस्थाओं पर कब्जा जमा लिया था। और अब उसने बाढ़–पीड़ित–संघ बना लिया था। रघुवीर सहाय की कविता 'पटकथा' याद आती है। जहाँ राजनीति की इन्हीं अमानवीयताओं को उजागर किया गया है।

और फिर धार ने सामाजिक विषमता को देखा जहाँ मल्लाह, राजभर नामक जातियाँ हैं। 'इनके पास अधिक भूमि नहीं है। बस अपने–अपने घर और चार–छै कट्ठे भूमि हर एक के पास है........उसमें साग–सब्जी उगाते हैं। सब श्रमिक हैं.........मजदूरी करके, नावें चलाकर.......इनका पेट भरता है।' यह सब कुछ उन्होंने प्रकृति से लम्बे संघर्ष के बाद प्राप्त किया है। इनकी दुर्जेयता, हार न मानने की जिद तथा जीने की ललक, जिजीविषा ने उजड़ने के बाद भी खुद को बसाया......'पर इन्होंने धरती को आज तक नहीं छोड़ा।'

मार्कण्डेय ने सर्वहारा की उस सम्भावना की ओर भी संकेत किया है जिसमें लड़ने की अटूट क्षमता होती है बशर्ते कि वह अपने सामूहिक हितों को पहचानता हो।

'......पर यह वसंता का हुक्म है, धार से लड़ना ही होगा।'

कहाँ बसंता राऊत की यह दुर्जेय ललकार और वहीं ऊँची जातियों की दुर्नीतियाँ;

"बड़ा गड़बड़ सुन रही हूँ, जानकी! गाँव के बड़े पंडित मलहटोली की कंकड़ वाली छत पर फावड़ा चलवाना चाहते हैं।"

"फावड़ा?"

"हाँ, बसंत को किसी उपाय से हटाकर वहाँ से धार को सीधा रास्ता दिलवा देना चाहते हैं......"

गाँवों में अक्सर बाढ़ के समय जातियाँ आमने–सामने आ जाती हैं। मार्कण्डेय ने उसे भी लक्ष्य किया है। इस तरह 'प्रलय और मनुष्य' कथ्य की दृष्टि से अपने विम्बों की केन्द्रीयता के चलते हिन्दी कहानी में एक अनूठा और उम्दा प्रयोग है। यही उसकी पहचान भी है। अगर हम बाइबिल की कथाओं, वैदिक कथाओं में मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया को समझते हैं तो 'प्रलय और मनुष्य' कहानी से जुड़ना सरल हो जाता है। वसन्ता राउत में आदिम संघर्ष की वही चेतना है।

4.8 (ii) सवरइया

कृषक संस्कृति में पशु–धन का एक खास महत्व तो होता ही है लेकिन उनके बीच का मानवीय रिश्ता ज्यादे महत्वपूर्ण होता है। एक किसान की जिन्दगी में पशुओं का सम्बन्ध उत्पादन के अलावा भावना से भी जुड़ा होता है। यह और किसानों का सच भले न हो, भारतीय किसानों का सच होता है। प्रेमचन्द की कहानी 'दो बैलों की कथा' में यही सच था लेकिन उसके साथ ही वह एक रूपक कथा भी थी जिसमें उनके बीच के वार्तालाप से राष्ट्रीय मुक्ति–संघर्ष की कहानी भी जुड़ी है। 'सवरइया' में वार्तालाप नहीं है पशुओं के बीच इसलिए वह रूपक कथा न होकर विम्ब–कथा ही ज्यादा ठहरती है जिसमें 'सवरइया' के माध्यम से तत्कालीन भूमि से जुड़े बदलावों के बीच प्रभावित होते वंशगत अधिकारों तथा सम्बन्धों की पड़ताल हुई है।

4.8 (iii) घुन

'कफन' की अमानवीयता का ही एक रूप है घुन। हाशिए पर पड़े–पड़े जहाँ घीसू–माधव नियतिवादी हो निकम्मेपन और जाहिली में जीने लगते हैं तथा अमानवीय हो जाते हैं। नाथू की कहानी भी उसी परम्परा में पड़ती है जिसे बेटे की मृत्यु ने अमानवीय बना दिया है, सिर्फ यही सच नहीं है बल्कि व्यवस्था ने भी इसमें कम

भूमिका नहीं अदा की है। यही कारण है कि बगल में महाजन बेहोश है और वह खर्राटे लेकर सो रहा है।

4.9 अन्य कहानियाँ

शिव प्रसाद सिंह ने गप्प शैली में कुछ अच्छी हल्की–फुल्की कहानियाँ लिखी हैं जो सपाटपन के बावजूद हास्य–व्यंग्य लिए रोचक बनी हैं। इन कहानियों में 'तो...', 'तकावी', 'भेड़िए', 'शाखामृग' आदि आती हैं। इन कहानियों में आजादी के बाद सुविधा भोगी वर्ग की काहिली को ठेठ गँवई अन्दाज में बयान किया गया है। नामवर सिंह ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की जिस गप्प शैली को रेखांकित किया है, उसका प्रभाव शिव प्रसाद सिंह में भी झलकता है। यद्यपि, कि जितना प्रभाव उनके भाषा–सौन्दर्य का है उतना उनकी अन्वेषणवृत्ति का नहीं, फिर भी गप्प का निर्वाह उन्होंने अच्छे ढंग से किया है। जिन प्रवृत्तियों को लेकर शिव प्रसाद सिंह ने कहानियों का निर्माण किया है वह पूर्वांचल की खास विशेषता रही है।

जमीन्दारी टूटने के बाद अनुत्पादक वर्ग को उत्पादन में लगाना पड़ा। जो वर्ग अभी तक दूसरों के उत्पादन पर जीता आया था, वह सुविधा रातों–रात छिन गयी लेकिन जीने का ढर्रा वहीं बना रहा। नतीजा रहा कि उसने अपनी काहिली को न्यायोचित, तर्कपूर्ण बनाने की कवायद शुरु की। वह कलह का कारण बनने लगा। (खैरा पीपल.....)। वह जिन्दगी के शार्ट कट तरीके ढूढ़ने लगा। उसने एक ऐसी अव्यवस्था को जन्म दिया जहाँ अपराध पलने लगा। शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में उसे अच्छे ढंग से पेश करने की कोशिश की गयी है और वे उन प्रवृत्तियों को उभारने में सफल रहे हैं। शिव प्रसाद सिंह ने अगर उपेक्षितों को सहानुभूति देने की बजाय इसी पतनशील प्रवृत्तियों का कहानी में विकास किया होता तो उनके खाते में कुछ बेहतरीन कहानियाँ होतीं जैसा कि मार्कण्डेय ने अपनी कहानी 'उत्तराधिकार' में दिखाने की कोशिश की है। फिर भी, शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ, 'तो', 'तकावी', 'भेड़िए' को मिला दिया जाय तो मार्कण्डेय की 'उत्तराधिकार' पर वे भारी पड़ेंगी। शिव प्रसाद सिंह की दृष्टि भी यहाँ बर्हिमुखी हुई जैसा कि उनकी कहानियों में अन्तर्मुखता, आत्मरति एक दोष के रूप में उपस्थित रहती है वैसा इन कहानियों के साथ नहीं हुआ है।

शिव प्रसाद सिंह की एक और कहानी है, 'धूल और हँसी' जिसकी चर्चा इसलिए महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि वह युद्ध की आशंकाओं के बीच व्यक्ति की मनोदशा को बखूबी सामने रखने में सफल रही है। कथा–नायक तृतीय विश्वयुद्ध पुस्तक पढ़ रहा होता है कि तभी वहाँ एक तश्तरीनुमा चीज आकर गिरती है और उसके दिमाग में एक आशंका जन्म ले लेती है। और उसका खुलासा होता है तो एक फिरहरी सामने आती है। आत्मगत शैली में लिखी गयी कहानियों में यह सर्वश्रेष्ठ कहानी है। यह पाश्चात्य ढंग की कहानियों में आती है। ये कहानियाँ विशुद्ध मनोरंजनपूर्ण होती हैं। सपाट, सरल, सीधी, रोचक कहानियाँ शिव प्रसाद सिंह की उन कहानियों से अच्छी कही जा सकती हैं जो दुःख और वेदना को महिमामंडित करने के लिए लिखी गयी हैं। असंतुष्टि और अनास्था की कहानियों के बीच ऐसी कहानियाँ सुखद अहसास कराती हैं।

4.9 (i) प्रेमपरक कहानियाँ एवं नन्हों

शिव प्रसाद सिंह के लिए प्रेम खुद में घुटने के लिए, वेदना ओढ़ने के लिए बिलकुल निजी चीज है। उस प्रेम की कोई सामाजिक भूमिका नहीं है। दो लोगों ने प्रेम किया। आह–कराह–पीड़ा को लेकर जिया। दुनिया बेखबर रही सिवाय लेखक को छोड़कर। शायद इसीलिए सामाजिक सन्दर्भ गायब रहते हैं। नन्हों कहानी अपने अन्त में करुणा उपजाने में तो सफल होती है लेकिन समाज से उसका कोई ताल्लुक नहीं। आर्थिक संकोच नाटकीय ढंग से आता है और उसी ढंग से लुप्त भी हो जाता है। प्रेम नामक स्थाई भाव बड़ा गुप्त रहता है। वह खुद में बनता–बिगड़ता रहता है। ऐसे प्रेम को कहाँ रखा जाय? उस पीड़ा को क्या कहा जाय जो 'दुख हमें माजता है' जैसे दर्शन से उपजा होता है। जैनेन्द्र और अज्ञेय के यहाँ यह दर्शन खूब फला–फूला है जहाँ दुख और वेदना इनके दिमाग से पैदा होती है, सच्चाई आत्मगत होती है। यह खाली घर बैठे का प्रेम है।

मार्कण्डेय की कहानी 'सात बच्चों की माँ' इसी कथ्य को लेकर बुनी गयी है अर्थात बेमेल शादी लेकिन उसकी दृष्टि वस्तुगत है जो एक सामाजिक सच्चाई के रूप में सामने आती है। मार्कण्डेय की इस कहानी में सेक्स शरीर की मूल भूत आवश्यकता

के रूप में सामने आती है लेकिन शिव प्रसाद सिंह के यहाँ वह नैतिक होता है तथा व्यक्ति के दिमाग से चलता है न कि शरीर की स्वाभाविक माँग के रूप में।

4.9 (ii) नीतिपरक कहानियाँ तथा सहज और शुभ

मूल्य और नैतिकता गढ़े नहीं जाते बल्कि वे समय और समाज सापेक्ष होते हैं। समय और समाज की जरूरतों के हिसाब से उनमें परिवर्तन होता रहता है। एक ही देश–काल की नैतिकता दूसरे देश–काल की नैतिकता से भिन्न हो सकती है। एक समाज के मूल्य, आदर्श या सामाजिक मानदण्ड किसी अन्य समाज के लिए उचित नहीं भी हो सकते। अर्थात जैसा समाज, वैसी नैतिकता। सामन्ती समाज है तो शाश्वत नैतिकता और आध्यात्मिक मूल्य होंगे। परम्परा वहाँ प्रतिक्रियावाद का पर्याय हो जाता है। उनके आदर्श यथास्थिति को बनाये रखने के होंगे, उनकी नैतिकता हर परिवर्तन का विरोध करती है। वे अक्सर अमूर्तन की कन्दरा में जाकर कुछ अलौकिक मूल्य गढ़ते रहते हैं।

अगर समाज पूँजीवादी है, तो उसकी नैतिकता बुर्जुआई होगी। वहाँ उपयोगिता मूल्य गढ़ता है बाजार उसे चलाता है। जो बिकाऊ है वही अच्छा है। आवश्यकता आदमी तय नहीं करता, बाजार तय करता है। कोई प्रेमचन्द को पसन्द करता है पढ़ना, लेकिन मार्केट में वह 'कौन बनेगा करोड़पति' ढूंढेगा।

अगर समाज समाजवादी है, तो उसकी नैतिकता परिवर्तनशील होगी, समाज सापेक्ष होगी, स्वाभाविक होगी, सहज होगी क्योंकि वह जीने के साथ–साथ विकसित होता चलता है और यहीं शुभ होता है, कल्याणकारी होता है। यह सब कुछ हमें प्रारम्भिक समाजों में भी मिलता है लेकिन सभ्यता के विकास ने उसे हाशिए पर ठेल दिया। 'सहज और शुभ' उसी नैतिकता का पक्ष लेकर आयी कहानी है।

'मतलब यह कि हम लोग ऐसे लोगों के बीच में रहते थे, जिन्हें वे बातें भूल चुकी थीं, जो हम चाहते थे। कोई हमें गोद में लेकर चिड़ियों के रंग और बोलियों की बात कभी नहीं कर सका था। ऐसा नहीं कि हम अपने घर वालों को प्यारे नहीं थे, बल्कि उनकी नस में उपयोगिता और संसारी संस्कार का खून बहता था।'

'.......जितना सुना, उतना ही जानना और उस पर आचरण करना इन्हें मालूम है. ......इसलिए जो इनका काम है, वह भी इनका नहीं है, इनके पूर्वजों का था......'

(सहज और शुभ)

अस्तित्ववादी नैतिकता भी सहजता और स्वाभाविकता के ही ऊपर बल देती है लेकिन सच तो यह है, कि अस्तित्ववाद कोई व्यवस्था नहीं है बल्कि एक दर्शन है जिसका समाधान समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। सार्त्र ने अस्तित्ववादी बेचैनी का हल मार्क्सवाद में ही प्राप्त किया। वस्तुतः अस्तित्ववाद जहाँ आकर रुक जाता है, कि इसके आगे राह नहीं और अन्ततोगत्वा वह न चाहते हुए भी अलौकिकता, सुप्रीम पावर, अद्वैत के खड्ढ में गिर पड़ता है लेकिन सार्त्र ने उसके आगे की राह ढूंढी जो मार्क्सवाद से होकर जाती थी। हमारे साहित्य में भी ऐसा एक व्यक्तित्व है मुक्तिबोध। कहानीकार के रूप में मार्कण्डेय भी उससे जूझते हैं। 'सहज और शुभ' ऐसी ही नैतिकता का निर्माण करती कहानी है।

शिव प्रसाद सिंह की एक कहानी है 'धतूरे का फूल' यह एक ऐसी नीतिपरक कहानी है जिसमें व्यक्ति एक वहम पाल लेता है कि नैतिकता का ज्ञान तो उसकी जेब में रहता है जिसे वह जब चाहे तब बाहर निकालकर किसी को भी समाज का पाठ पढ़ा सकता है। शिव प्रसाद सिंह यह भूल जाते हैं कि शरीर की कुछ ऐसी आवश्कताएँ होती हैं जो स्वाभाविक तौर पर ज्ञानरूप बन जाती हैं वे सिखायी नहीं जाती लेकिन शिव प्रसाद सिंह एक खुशफहमी में जीते हैं कि दुनिया वैसी ही है जैसा उनका दिमाग सोचता है। वे ऐसी कल्पनाएँ करते हैं जिसका वस्तुता से कोई लेना–देना नहीं होता। वे सत्य के विस्फोट में विश्वास करते हैं, सहजता में नहीं।

4.9 (iii) वीर चौरे की परम्परा

मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह दोनों ने इस परम्परा की कहानियाँ लिखी हैं। मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा' तथा शिव प्रसाद सिंह की 'देऊ दादा' इसी परम्परा की कहानियाँ हैं जिसका आधार मिथक, किंवदन्तियाँ तथा परम्परा से चली आती वीर चौरे की लोक कथाएँ हैं जो लगभग प्रत्येक गाँवों में स्थानीयकरण के साथ प्रचलित हैं। वस्तुतः इस परम्परा की जड़ इन्द्र के पराक्रम की वैदिक कथाओं में ही देखी जा सकती है, बाद में जिसका विकास महावीर या बजरंगबली के रूप में हुआ। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि हनुमान चौरे के 12 पीठ स्थापित हैं। लोक कथाओं की इस परम्परा की चर्चा प्रथम अध्याय में हो आयी है।

4.9 (iv) चरित्र प्रधान कहानियाँ

चरित्र प्रधान कहानियाँ मार्कण्डेय की अपेक्षा शिव प्रसाद सिंह के यहाँ कुछ अधिक मिलती हैं, जैसा कि पीछे चर्चा हो आयी है, शिव प्रसाद सिंह के यहाँ विशिष्टता की तलाश मुख्य है। यह व्यक्तिवाद, कलावाद तथा आत्मनिष्ठ, आत्मगत शैली का ही एक खास हिस्सा है। इनको सामान्य चरित्र नहीं लुभाते, सामाजिक चरित्र नहीं लुभाते। इन्हें नदी के द्वीप ही पसन्द हैं। यही कारण है कि शिव प्रसाद सिंह के यहाँ विशिष्ट चरित्रों की भरमार है। व्यक्तिगत नायकत्व की पुकार है, क्योंकि हम तृतीय अध्याय में देख आए हैं कि वे समाज की अपेक्षा मनुष्य इकाई को महत्वपूर्ण मानते है। समाज बुरा है, वह मनुष्य के विकास में बाधक होता है, शिव प्रसाद सिंह की यह खामखयाली एक प्रेत की तरह उनकी कहानियों में उड़ती है जो उन्हें 'मुरदासरायों' तक की यात्रा करा देती है। दुनिया को आत्मगत ढंग से देखने वालों का यही हश्र होता है। वे सत्य को मुरदासरायों, मसानों में ढूंढते हैं और अन्त में अमूर्तन की कन्दरा में चले जाते हैं। शिव प्रसाद सिंह की 'अमृता' संग्रह की कहानियाँ आत्ममोही, प्रचंड व्यक्तिवाद की दुर्दशा को दिखाती हैं जहाँ वह कहानियाँ लिखता नहीं बड़बडाता है। आत्ममोही चरित्रों का भेड़ियाधसान देखना हो तो शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ सुलभ हैं।

मार्कण्डेय की 'मुंशी जी', 'रामलाल', चरित्र प्रधान कहानियाँ होते हुए भी पतनशील वर्गगत सामान्य प्रवृत्तियों को ही उभारती हैं, न कि विशिष्टता को वहीं 'सूर्या', 'प्रियासैनी', जैसी कहानियाँ परिवर्तनशील प्रवृतियों को उभारती हैं, सम्भावना की तलाश करती हैं। शिव प्रसाद सिंह का सारा जोर विशिष्टता को उभारने में होता है। उनकी ऐसी कहानियों में 'हीरो की खोज', 'बहाववृत्ति', 'शाखामृग', 'अँधेरा हँसता है' आदि कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। लेकिन इस प्रयास में उनकी सबसे अच्छी कहानी 'विन्दा महराज' है जिसमें एक हिजड़े की व्यथा–कथा को शिव प्रसाद सिंह ने अपना पूरा भावावेग दिया है।

4.9 (v) समस्यापरक कहानियाँ

इस ढंग की कहानियों में मार्कण्डेय की 'साबुन', 'आँखें', 'आवाज' विशेष उल्लेखनीय हैं। शिव प्रसाद सिंह की 'एक यात्रा सतह के नीचे' में बेरोजगारी तथा

सेक्स सम्बन्धी रुढ़ियों, मान्यताओं पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रयास में शिव प्रसाद सिंह सफल रहे हैं। शिव प्रसाद सिंह ने ऊँची जातियों में पाये जाने वाले सेक्स सम्बन्धी बन्धनों को बखूबी उभारा है। यही कारण है कि 'एक यात्रा सतह के नीचे' उनकी पाँच–छः अच्छी कहानियों में से एक है।

4.9 (vi) व्यंग्य परक कहानियाँ

यूँ तो सरकारी महकमों में व्याप्त भ्रष्टाचार, भाई–भतीजावाद पर व्यंग्य परक कहानियाँ लिखने में हरिशंकर परसाई का कोई जोड़ नहीं लेकिन मार्कण्डेय की कहानी 'आदर्श कुक्कुट गृह' अकेली होते हुए भी व्यंग्य क्षमता का वही प्रदर्शन करती है जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'अन्धेर नगरी' में दिखता है। इस एक मात्र कहानी के बल पर उनकी व्यंग्य क्षमता हरिशंकर परसाई तथा मनोहर श्याम जोशी जैसे व्यंग्यकारों की श्रेणी में रखने की हकदार हो जाती है।

4.10 कहानियों का अन्तर

मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का जो मूल अन्तर है, वह है दृष्टियों का अन्तर। मार्कण्डेय चीजों को वस्तुगत ढंग से देखते हैं, शिव प्रसाद सिंह का आग्रह, अनजाने ही सही रूपवादी है जबकि मार्कण्डेय का आग्रह वस्तुवादी है।

मार्कण्डेय वर्गीय चेतना के लेखक हैं, जबकि शिव प्रसाद सिंह व्यक्तिगत चेतना के लेखक हैं। उनकी खोज विशिष्टता की है। वे व्यक्ति की विशिष्टता तलाशते हैं। मार्कण्डेय सामान्य प्रवृत्तियों को उभारते हैं, परिवर्तनशील शक्तियों को उद्घाटित करते हैं। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है कि शिव प्रसाद सिंह जहाँ कहानी लिखते हैं 'हीरो की खोज' वहीं मार्कण्डेय की कहानी है, 'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए'।

मार्कण्डेय समाज की बुनावट पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, वे समाज की नियामक शक्तियों की बुनियाद पर चोट करते हैं तथा परिवर्तनशील शक्तियों को उभारते हैं। वे व्यक्ति को महत्ता प्रदान नहीं करते जबकि शिव प्रसाद सिंह के लिए व्यक्ति महत्वपूर्ण है। उनका आग्रह व्यक्ति की समस्याओं को अपने ढंग से देखने का है। व्यक्ति के विकास में वे समाज को बाधक मानते हैं। वे समाज को ही बुरा मान बैठते हैं, जो

अराजकतावाद की तरफ ले जाती है। समाज को देखने का शिव प्रसाद सिंह का तरीका ही गलत है जिसके चलते उनकी कहानियाँ सामाजिकता को उभारने में असफल हैं।

मार्कण्डेय समाज के बुनियादी परिवर्तन पर जोर देते हैं, सामाजिक रूपान्तरण की कवायद करते हैं, वे नैतिकता, मूल्य, मानवता आदि को उसी के साथ जोड़कर देखते हैं। वे समाज की आर्थिक शक्तियों को रेखांकित करते हैं जो सामाजिक नियमन में आधार भूमिका अदा करते हैं। उसमें परिवर्तन से समाज के नियमों, नैतिकता और मूल्यों में परिवर्तन होता है। यही कारण है कि मार्कण्डेय के यहाँ भूमि समस्या से जुड़ी सबसे अधिक कहानियाँ हैं जो उन्हें ग्राम चेतना का सबसे सजग कथाकार सिद्ध करती है। कहना न होगा कि प्रेमचन्द ने उसे जहाँ छोड़ा था, मार्कण्डेय ने वहीं से उसे उठाया है। शिव प्रसाद सिंह नैतिकता, मूल्य, मानवता को जादू की छड़ी से स्थापित करना चाहते हैं और प्रकारान्तर से प्रभुपरक नैतिकता की ही वकालत कर बैठते हैं।

मार्कण्डेय की कहानियाँ, राजनीतिक चेतना से युक्त कहानियाँ हैं। वे कहानियों के नागार्जुन हैं। उनकी राजनीतिक चेतना से युक्त कहानियाँ मुक्तिबोध तथा रघुवीर सहाय की कविताओं का भाष्य प्रस्तुत करती हैं। शिव प्रसाद सिंह राजनीति से तौबा करके चलते हैं, जिसके चलते उनकी कहानियाँ दिशा हीन हो बेतरतीब घूमती रहती हैं। एक बेचैन भटकती आत्मा की तरह वे ग्राम कहानियों के निर्मल वर्मा हैं। निर्मल वर्मा की कहानियों में भाषा उड़ती है, शब्द तैरते हैं, अचानक कोई चरित्र हवा की सरसराहट सा आता है और शब्दों को निगलता गुम हो जाता है। वे परिवेश में जाती ही नहीं। विचारों के स्तर पर वे सिर्फ वर्मा के दिमाग में चलती हैं और यही बात शिव प्रसाद सिंह के साथ है, वे कहानियाँ लिखते नहीं सोचते हैं या बड़बड़ाते हैं। वे मूर्तभाषा के निर्मल वर्मा हैं जिसकी झलक हमें शिल्पखण्ड और भाषाखण्ड में देखने को मिलेगी।

टिप्पणी

1. 'उपन्यास के पक्ष'– ई.एम.फॉर्स्टर, पृ0 18
2. वही, पृ0 61
3. वही, पृ0 28
4. एस. अन्तनोफ, 'कहानी के बारे में' – उत्तर प्रदेश, अक्टूबर, 1998.
5. 'साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद' – कुँवर पाल सिंह (सं0), पृ0 152
6. वही, पृ0 149
7. 'सृजन प्रक्रिया और शिल्प के बारे में' – मक्सिम गोर्की, पृ0 138
8. वही, पृ0 137
9. 'उपन्यास–लेखन शिल्प' – ए0एस0 ब्यूरैक(सं0) पृ0 87
10. वही, पृ0 106
11. 'मार्कण्डेय की कहानियाँ(सम्पूर्ण) – मार्कण्डेय (भूमिका से)
12. 'द सेकेंड सेक्स'–सीमोनदबोउवा, हिन्दी में प्रस्तुति 'स्त्री उपेक्षिता' – प्रभा खेतान, पृ0 165
13. (पूँजीवादी समाज में कलाकार का काम'–कार्लमार्क्स)– 'साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद'–कुँवरपाल सिंह (सं0), पृ0 57
14. 'स्त्री : उपेक्षिता' ('द सेकेंड सेक्स'–सीमोनदबोउवा) – प्रभा खेतान (अ.), पृ0 47
15. वही
16. वही
17. वही, पृ0 205
18. वही, पृ0 213
19. वही,पृ0 204
20. वही, पृ0 202
21. वही पृ0 203
22. 'यथा समय' (कालम) – नामवर सिंह, 'सहारा समय', 12 जुलाई, 2003.
23. 'स्त्री : उपेक्षिता' ('द सेकेंड सेक्स'–सीमोनदबोउवा)–प्रभा खेतान (अ.),पृ0 206
24. शाप

25. 'उद्‌भावना', अंक 63, पृ0 45
26. 'कृषिक्षेत्र में उतरते औद्योगिक घरानें– सरोजनी बिष्ट(नि.), राष्ट्रीय सहारा (मुद्दाकालम), 8 अप्रैल, 2003
27. 'स्थापितों के लिए कानून'– श्रीरंग कुमार झा (नि.), वही, 16 मार्च, 2003
28. 'वन से उजड़ते आदिवासी' – पंकज चतुर्वेदी (नि.), वही 7 अप्रैल, 2003
29. 'बंजर भूमि का बढ़ताजंजाल', वही, 7 फरवरी, 2003
30. माँ – मक्सिम गोर्की
31. 'सृजन प्रक्रिया और शिल्प के बारे में' – मक्सिम गोर्की, पृ0 142
32. 'मार्कण्डेय की कहानियाँ(सम्पूर्ण) – मार्कण्डेय (हंसा जाई अकेला' की भूमिका)
33. वही, 'सहज और शुभ' की भूमिका।
34. वही, 'हंसा जाई अकेला' की भूमिका।
35. 'आधुनिक भारत' – सुमित सरकार, पृ0 369
36. वही, पृ0 201–2
37. 'किसान जीवन का चित्रण और भावुकता', भूदान संग्रह पर राम विलास शर्मा का लेख (कथा–विवेचना और गद्यशिल्प – राम विलास शर्मा)

अध्याय - 5
शिल्प का
तुलनात्मक मूल्यांकन

शिल्प का तुलनात्मक मूल्यांकन

कथ्य अगर कहानी की आत्मा मानी जाय तो इसमें कोई दो राय नहीं, कि उसका शरीर, शिल्प होगा। शिल्प यानि, बुनावट–सजावट जो कथ्य को पेश करता है, सामने लाता है। इसलिए कहानी में शिल्प की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि कथ्य।

कहानी हो या उपन्यास विषय का चुनाव महत्वूपर्ण होता है, जिसे एक विचारधारा और उद्देश्य के तहत विस्तार देना पड़ता है, जिससे कथानक का निर्माण होता है। अर्थात Theme and Plot जिसका अध्ययन पिछले अध्याय के अन्तर्गत हो आया है। इस अध्याय में चरित्र–योजना, संवाद–योजना, परिवेश–विधान तथा प्रस्तुतीकरण का अध्ययन किया जाएगा जिसके आलोक में मार्कण्डेय तथा शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के शिल्प का तुलनात्मक मूल्यांकन सम्भव हो सकेगा।

5.1 प्रस्तुतीकरण

प्रस्तुतीकरण अर्थात कहानी कहने का ढंग, शैली। हमारे देश की जो परम्परा रही है उसमें कथा–शैली वस्तुगत ही रही है अर्थात लेखक कथा का भोक्ता नहीं होता। यहाँ तक कि वह कहानी में अगर एक भोक्ता पात्र है तो भी उससे वह तटस्थ ही रहता है। कथा के बाहर ही रहता है। रामायण की कथाएँ इसका प्रमाण हैं जहाँ वाल्मिक एक भोक्तापात्र होते हुए भी कथा से बाहर रहते हैं। वेद व्यास के महाभारत के साथ भी यही है। वैदिक कथाओं में 'लोगों ऐसा वह इन्द्र है' के ढंग से ही कथा कही गयी है। अर्थात, कथा–वाचक लोगों के लिए कथा कह रहा है। वह जानता है कि कथा में स्वयं होने पर, कथा–नायक के माध्यम से कथा कहने में क्या बाधाएँ हैं? जिस कथा को वह लोगों के सामने रख रहा है, उसमें खुद के होने से कथा को ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न हो सकती है। कहानी सुनने वाला या पढ़ने वाला उसी से प्रभावित हो जाता है तथा कथा या कहानी का मूल स्वर वह आत्मसात नहीं कर पाता या कहानी के मूल स्वर का साधारणीकरण नहीं हो पाता बल्कि कहानी प्रस्तुत करने वाले भोक्ता पात्र का साधारणीकरण हो जाता है और मूल स्वर हाशिए पर चला जाता

है। तो, हमारे देश में कथा की वस्तुगत शैली ही लोकप्रिय है। संवाद–शैली भी उसी का रूप है अर्थात दो लोगों के संवाद के रूप में कथा प्रस्तुत करना। काग भुसुण्डी, शुक–शुकी संवाद हमारे यहाँ प्रसिद्ध है। यह शैली वस्तुतः लोक कथाओं से ग्रहण की गयी है। लोककथाओं में अगर कोई आपबीती को कथा–रूप बना रहा है तो उसकी कोशिश यही रहती है कि वह कथा का द्रष्टा ही रहे, भोक्ता पक्ष उसका दबा रहता है। इसकी लोकप्रियता के पीछे कारण भी यही है।

आत्मगत शैली में कथा प्रस्तुत करने की परम्परा संस्कृत आख्यानों में बाण ने अवश्य शुरू की लेकिन विकास नहीं हो पाया। आधुनिक कहानियों में यह परम्परा पश्चिम से आकर खूब फली–फूली लेकिन उसे लोकप्रियता कभी नहीं मिली। प्रसाद की कहानियाँ हों या प्रेमचन्द की, गुलेरी की कहानियाँ हों या कौशिक की उनकी लोकप्रियता यह सिद्ध करती है कि हमारे यहाँ जातीय कथा–शैलियाँ ही सफल हुई हैं और वे हमारी लोक अभिरूचियों के अनुकूल भी पड़ती हैं। नई कहानी में अमरकान्त, भीष्म साहनी, मार्कण्डेय तथा उधर रेणु की कहानियों की लोकप्रियता के पीछे भी यही कारण है जिन्होंने उस परम्परा को आगे बढ़ाया।

5.1.1 शैली

मार्कण्डेय की शैली मुख्यतया वस्तुगत ही है जिसमें विवरण की प्रधानता है। शिव प्रसाद सिंह ने भी इस शैली की कहानियाँ लिखीं हैं। उनकी ' आर–पार की माला', 'नन्हों', 'मुर्गे ने बॉग दी', 'माटी की औलाद', 'कर्मनाशा की हार', 'तो...', 'तकावी', 'भेड़िये', 'कलंकी अवतार' आदि इसी शैली की कहानियाँ हैं और इन्हीं कहानियों ने उन्हें पहचान भी दी। लेकिन शिव प्रसाद सिंह के अन्दर व्यक्तिवादी आग्रह अधिक है जिसके चलते उनकी अधिकाँश कहानियाँ आत्मगत शैली में लिखी गयी हैं। वे स्मृति–मोही लेखक हैं जिसकी वजह से उनकी कहानियाँ रेखाचित और संस्मरण शैली में अधिक हैं। कहना न होगा कि यह उनकी कहानियों में दोष बनकर उभरा है। क्योंकि कथा–नायक कहानी का वाचक तो है ही, वह द्रष्टा की बजाय भोक्ता अधिक हो जाता है और कहानी का मूल स्वर दब जाता है कथा–नायक के गुणों की प्रधानता हो जाती है। 'इन्हें भी इन्तजार है', 'धारा', 'रेती', 'किसकी पाँखे–, 'हत्या और आत्महत्या के बीच', 'बहाव वृत्ति', 'आँखें', 'अँधेरा हँसता है', 'महुवे के फूल',

ऐसी ही कहानियाँ हैं। इसमें मूल विषय–वस्तु का स्वाभाविक विकास न होकर उसके बारे में सूचनाएँ दी गयी हैं, परिचय कराया जाता है। कहानी का भोक्ता पात्र किनारे हो जाता है, वह कथा–नायक/वाचक की दया पर निर्भर हो जाता है, उसका स्वतन्त्र विकास नहीं हो पाता। कहानी का मूल कथ्य दब जाता है। शिव प्रसाद सिंह कहानीकार की अपेक्षा निबन्धकार अधिक लगते हैं। कहानियों की अपेक्षा अगर उन्होंने ललित निबन्ध लिखे होते तो हजारी प्रसाद द्विवेदी, कुबेर नाथ राय तथा विद्यानिवास मिश्र की परम्परा में चार चाँद लग जाते। कहानियों में वे बेवजह कूद गये, अच्छा होता कि संस्मरण और ललित निबन्ध लिखकर प्रभुता के सौन्दर्य शास्त्र में वृद्धि करते।

आत्मगत शैली में मार्कण्डेय ने भी कहानियाँ लिखी हैं, 'दूध और दवा', 'प्रिया सैनी', 'सहज और शुभ', ऐसी कहानियाँ हैं जो आत्मगत शैली में होने के बावजूद वस्तुगत शैली का आभास देती हैं क्योंकि कथा–वाचक, भोक्ता कम, द्रष्टा अधिक है। इसलिए वह कहानी में होकर भी किनारे पर खड़ा रहता है जिससे कहानी अपनी गति से चलती है। कहीं भी नहीं लगता कि कहानी का सूत्रधार लेखक से जुड़ा है क्योंकि एक तो वह शिव प्रसाद सिंह के सूत्रधार की तरह आत्ममोही नहीं है, दूसरे वह कहानी का एक मामूली पात्र है न कि मुख्य भोक्ता। दूसरे, उसकी संश्लिष्टता भी मार्कण्डेय की आत्मगत शैली में लिखी कहानियों को शिव प्रसाद सिंह से अलग कर देती है, जहाँ वे संस्मरण और रेखाचित्र न होकर कहानी की माँग को पूरा करते हैं। यही कारण है कि मार्कण्डेय की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में उनकी गिनती होती है।

5.1.2 संस्मरण एवं रेखाचित्र शैली

प्रेमचन्द अपने ' कहानी–कला' निबन्ध में लिखते हैं, "योरोप वालों की देखादेखी पत्रों द्वारा, डायरी या टिप्पड़ियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर रचना की है, पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है।"

('कुछ विचार' – प्रेमचन्द, पृ0 29)

और जब उसका कोई एक उद्देश्य न हो, स्वतन्त्र चरित्र न हो, उसका विकास न हो, तो वह एक रिपोर्ट भर होकर रह जाती है। टी.वी. पर प्रसारित कोई वृत्तचित्र। उसमें कहानी के तत्व गायब हो जाते हैं। जिसे नामवर सिंह 'कहानी : नई कहानी' में कहानीपन कहते हैं, वह तो बिलकुल ही गायब हो जाता है। यह दोष आत्मकथात्मक

एवं रिपोर्ताज शैली पर भी लागू होता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कहानी मनुष्य के विकास के प्रारम्भ से उसके जीवन का हिस्सा रही है। इसलिए आधुनिकता के नाम पर इतना प्रयोग भी न हो, कि कहानी का अलग अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाय। जिस प्रकार किसी संस्कृति को बचाने के लिए उसकी विविधता और बहुलता को बचाना जरूरी होता है। राष्ट्रीय संस्कृति के लिए प्रादेशिक संस्कृति को बचाना जरूरी होता है उसी प्रकार साहित्य को बचाने के लिए कहानी को भी प्रयोगों से बचाना जरूरी हो जाता है। प्रयोग हों लेकिन इतना भी न हो कि वह कहानी ही न रहे। मनुष्य होने के लिए मनुष्यता अगर पहली शर्त है, तो कहानी होने के लिए कहानीपन उसकी पहली शर्त है। कहानीपन क्या होता है, इसको जानना मुश्किल नहीं। हमारी प्राचीन कथा–आख्याइकाओं की परम्परा उसी का प्रदर्शन करती है।

प्रेमचन्द इसे कथा–वैचित्र्य कहते है। एक उद्देश्य, एक भाव, एक घटना, एक चरित्र और फिर उसका विकास जिसमें जिज्ञासा हो, आशंका हो, आहट हो, संघर्ष हो, गति हो, हानि हो, लाभ हो, जय–पराजय हो, द्वन्द्व हो, विरोध हो, विश्वास हो, हताशा हो, मनुष्य हो मनुष्यता का कोई पहलू हो। हमारी जातक कथाएँ हों या रामायण–महाभारत की कथाएँ अगर वे आज भी लोकप्रिय हैं, तो अपने इसी गुण के कारण।

कहानी में प्रयोग तब होता है जब लेखक के अन्दर चीजों की पड़ताल खत्म हो जाती है, समय से मुठभेड़ का ज़ज्बा कुन्द हो जाता है, अनुभूति की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया बन्द हो जाती है। हमारे हिन्दी साहित्य में दो ही कहानीकार हुए जिनका रचनात्मक व्यक्तित्व निरन्तर इससे जूझता रहा। प्रेमचन्द्र और जयशंकर प्रसाद। यही कारण है कि दोनों ने अपनी कालजयी कथा–कृतियाँ मृत्यु से कुछ ही पहले दीं, जैसे वे इसी के लिए जीते रहे हों। वे तब तक जीने की जिद किये रहे जब तक कि मरे नहीं। हिन्दी साहित्य चाहे, तो कई युगों तक उनके नाम की रोटी खा सकता है। तो हमारी जो शैली है वह वस्तुगत एवं लोककथात्मक शैली है और यह हमारी रूचियों के अनुकूल भी पड़ता है। प्रयोग एवं आधुनिकता के नाम पर इसे ताक पर नहीं रखा जा सकता। अगर कहानी संस्मरण, रेखाचित्र, आत्मकथा, रिपोर्ताज शैली में है तो ध्यान रखना चाहिए कि उसका चरित्र बर्हिमुखी हो। मार्कण्डेय की इस शैली की बहुत थोड़ी

सी कहानियाँ है लेकिन वे कुछ हद तक सुपाच्य हो जाती हैं तो अपनी बर्हिमुखता के चलते। ध्यान देने योग्य तथ्य है, कि मार्कण्डेय की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता उसकी बर्हिमुखता है।

शिव प्रसाद सिंह के साथ ऐसा नहीं है। उन्होंने एक तो संस्मरण, रेखाचित्र, आत्मकथा एवं पत्र शैली में ढेरो कहानियाँ लिखी हैं दूसरे, उनका चरित्र भी अन्तर्मुखी एवं मोहग्रस्त है। उनकी कुछ ही कहानियाँ इससे बच पायी हैं और जो बच गयी हैं, वह अच्छी हैं। जहाँ उन्होंने वस्तुगत, लोककथा एवं गप्प शैली में कहानियाँ लिखी हैं, वहाँ उनका कहानीकार व्यक्तित्व उभरता है लेकिन ऐसा बहुत कम हुआ है। उनकी संस्मरण शैली की कहानियों की एक लम्बी फेहरिस्त है। जिसमें 'रेती', 'धूल और हँसी', 'आँखें', 'दादी माँ', 'बरगद का पेड़', 'कबूतरों का अड्डा', 'महुवे का फूल', 'नई–पुरानी तश्वीरें', 'वशीकरण', 'शहीद–दिवस', 'केवड़े का फूल', 'धतूरे का फूल', 'किसकी पाँखे', 'खैरा पीपल....' आदि कई अन्य कहानियों का नाम लिया जा सकता है। इसमें 'धूल और हंसी', 'आँखें', 'दादी माँ', 'किसकी पाँखे', 'खैरा पीपल......' ही महत्वपूर्ण हैं।

मार्कण्डेय की इस शैली की कहानियों में 'सात बच्चों की माँ' 'एक दिन की डायरी', 'नौ सौ रूपये और एक ऊँट दाना', 'हरामी के बच्चे', 'अगली कहानी' आदि हैं लेकिन इसका आग्रह वस्तुगत एवं चरित्र बर्हिमुखी है तथा पात्रों का स्वतंत्र विकास भी है। ये कहानियाँ लेखक के दिमाग में नहीं चलतीं। सबसे बड़ी बात कि इनमें कहानीपन है जिससे ये शिव प्रसाद सिंह की इस शैली की कहानियों से अलग हो जाती हैं।

रेखाचित्र शैली एवं संस्मरण शैली में अन्तर मामूली होता है फिर भी मार्कण्डेय की 'रेखाएँ' तथा 'मिस शान्ता' को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। वहीं शिव प्रसाद सिंह पुनः बड़ी मात्रा में उपस्थित हैं। उनकी इस शैली की कहानियों में 'इन्हें भी इन्तजार है', 'धारा', 'अँधेरा हँसता है, 'बहाव–वृत्ति', 'हीरो की खोज', 'मास्टर सुखलाल' आदि को रखा जा सकता है। इन कहानियों का सबसे बड़ा दोष है चरित्रों का स्वतन्त्र विकास न होना। कहानी कहीं भी स्वाभाविक गति नहीं पकड़ पाती। वह कथानायक(नरेटर) की करूणामूलक दयादृष्टि की मोहताज रहती है। दो समानान्तर कथाओं में जोड़ने वाला सूत्र कहीं–कहीं अमूर्त हो जाता है। शिव प्रसाद सिंह की

विशेषता है, कि कहानियाँ अक्सर उनके दिमाग में ही घूमती हैं। वे कहानी कहते नहीं सोचते हैं।

उनके इस गुण का प्रभाव उनकी कहानियों में दोष बनकर आता है, जहाँ कथा–नायक के दिमाग से कोई भी चरित्र मुक्त नहीं। वहाँ सिर्फ एक ही चरित्र विकासवान होता है जो स्मृति–मोह, आत्म–मोह से ग्रस्त कथानायक होता है। 'इन्हें भी इन्तजार है' इसका प्रमाण है। कबरी कथा–नायक के दिमाग से, स्मृतियों से निकलकर खुद की जिन्दगी जी ही नहीं पायी। लिहाजा, वह कथा–नायक के चरित्र का दयामूलक (नैतिक) गुण सिद्ध होकर रह जाती है। यह एक विडम्बना ही है कि जहाँ वास्तविक जिन्दगी में कबरी जैसे लोगों का जीवन प्रभुजातियों की कृपा से निर्धारित होता है, वहीं कहानी में आकर भी वह इससे मुक्त अपनी जिन्दगी नही जी पाती और कथा–नायक की भलमनसाहत पर निर्भर होकर रह जाती है।

कबरी न ही जीवन्त हो पाती है और न ही मुक्त जिसके चलते कहानी कबरी की न होकर कथानायक की होकर रह जाती है। जिसमें, कोई चरित्र उभरता है तो कथा–नायक का। ऐसी कहानियाँ आत्ममोही एवं व्यक्तिवादी भ्रमों के कुहासों से बाहर नहीं निकल पातीं। हाँ, इससे मुक्त होने का प्रयास 'आँखें' में दिखता है लेकिन वहाँ कथा–नायक ही भाग खड़ा होता है। आदर्शवादी नैतिकता का सामना जब व्यवहारवादी नैतिकता से होता है, तो वह टिक नहीं पाता।

और यह जो सारे दोष उभरते हैं वे बहुत हद तक शैलीगत हैं यद्यपि कि उसमें बहुत बड़ा हाथ व्यक्तिवादी आग्रहों का होता है। फिर भी कहानी, कहानी होती है, संस्मरण, रेखाचित्र और निबन्ध नहीं। कहानी का अपना मिजाज होता है, अपना ढर्रा, अपना ढंग, अपना गठन, अपनी माँग होती है, जिससे छूट लेकर कहानी नहीं लिखी जा सकती। जिस जातीयता की वकालत शिव प्रसाद सिंह करते हैं उसका सबसे ज्यादे अभाव उनकी खुद की कहानियों में है।

5.1.3 आत्मकथा एवं पत्र शैली

मार्कण्डेय ने जहाँ 'वासवी की माँ', 'साबुन', 'आदमी की दुम', इस शैली में लिखी है वहीं शिव प्रसाद सिंह ने 'धरातल', 'हाथ का दाग', 'अन्धकूप' एवं 'मुरदासराय' कहानियाँ लिखी हैं। 'हाथ का दाग' एवं 'अन्धकूप' पत्र शैली की

कहानियाँ हैं। मार्कण्डेय की कहानियों में जहाँ राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं गरीबी, बेरोजगारी जैसी समस्याओं को उभारने की कोशिश हुई है वहीं शिव प्रसाद सिंह नैतिकता की कवायद एवं विकृतियों के संधान में तल्लीन दिखाई देते हैं।

5.1.4 गप्प शैली

मार्कण्डेय की 'बातचीत' एवं 'सतह की बातें' इस ढंग की कहानियाँ हैं लेकिन शिव प्रसाद सिंह ने इसका बढ़िया प्रयोग किया है। 'तो....' 'तकावी' 'भेड़िए' इस ढंग की बेहतरीन कहानियाँ हैं। यह शायद हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रभाव है। यह प्रभाव भाषा के लालित्य पर भी है।

5.1.5 लोक कथा–शैली

हमारी कहानी परम्परा लोक कथाओं की ऋणी है। इसलिए आधुनिक कहानियों में हिन्दी–कहानी ने शैली के रूप में उसे अपनाया, तो ऋण ही चुकाया। लेकिन, प्रेमचन्द के बाद एक बड़ा अन्तराल आ जाता है, जिसमें हमारी लोक कथा रूपों की परम्परा एक सिरे से गायब सी दिखने लगती है। नई कहानी आन्दोलन की भूमिका इसलिए भी हिन्दी कहानियों के विकास में महत्वपूर्ण हो जाती है, कि उसने उस परम्परा को पुनः जीवित किया जो प्रेमचन्द के बाद दब सी गयी थी।

मार्कण्डेय इसके प्रति अधिक सचेष्ट दिखते हैं और उनके यहाँ इस ढंग की कहानियों की बहुतायत है। यह कहना कहीं से भी अनुचित नहीं है कि उन्होंने पश्चिम से आयी 'फिक्सन' की कला को यथेष्ट सम्मान देते हुए लोककथा–रूपों को ही विकसित किया। उन्होंने फिक्सन से प्रभाव जरूर ग्रहण किया लेकिन उनकी आत्मा लोककथाओं की ही बनी रही। इस तथ्य से सभी परिचित होंगे कि लोककथा–रूपों की परम्परा वस्तुवादी–रूपों का ही प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ नई होकर भी हमारी आदिम रूचियों के प्रति भी सचेष्ट हैं।

मार्कण्डेय की इस ढंग की कहानियों में भूमि सम्बन्धी उनकी सभी कहानियाँ आती हैं, जिसमें 'कल्यानमन', 'महुए का पेड़', 'बीच के लोग', 'मधुपुर के सीवान का एक कोना' आदि हैं। इसके अतिरिक्त मुख्यरूप से .लोककथा शैली का पूरा पालन 'नीम की टहनी', 'पान–फूल' कहानियों में हुआ है। 'पान–फूल' कहानी उनकी श्रेष्ठ

कहानियों में है जो कथ्य की बजाय अपने शिल्प के लिए जानी जाती है। यद्यपि कि कथ्य के रूप में वह एक परिवर्तन वादी दृष्टि की ही हिमायत करती है जहाँ वह गुड्डे–गुड्डी के रूप में उभरता है। 'घूरा', 'गुलरा के बाबा', 'रामलाल' उनकी इस ढंग की अन्य कहानियाँ हैं।

शिवप्रसाद सिंह ने भी इस ढंग की कहानियाँ लिखी हैं लेकिन उसमें संयोजन और संगठन का अभाव दिखता है। एक विखराव एवं भटकाव सर्वत्र झलकता है। फिर भी 'देऊ दादा' एवं 'कर्मनाशा की हार' तथा 'आर–पार की माला' में उन्होंने इसे कुछ–कुछ साधने की कोशिश की है।

5.2 चरित्र–योजना

"We are able to know what the human spirit is only throught history...... this historical self-conciousness allows us to formulate a systematic theory of man."

- The German Thinker wilhelm Dilthey

मानव चरित्र को उसके स्वभाव एवं उसकी प्रवृत्ति को हम ऐतिहासिक सन्दर्भों में रखकर ही समझ सकते हैं। इसके लिए जरूरी है ऐतिहासिक चेतना का होना। यह ऐतिहासिक चेतना ही किसी मानव चरित्र को स्वाभाविक एवं सिस्टमैटिक ढंग से प्रस्तुत करने में सहायक होती है। यह चेतना ही हमें बताती है, कि मानव एक सामाजिक एवं नैतिक प्राणी के रूप में ही विचारणीय है जिसकी अभिव्यक्ति कहानी या उपन्यास में होती है।

"Man was concieved as evolving socially and morally in time and thus fiction mirrored man."

- Max F. Schulz

इसी आलोक में लेखक का यह दाइत्व बनता है कि वह सामान्य चरित्रों की खोज करे, टाइप की रचना करे जो कि समय और समाज की सामूहिक प्रवृत्तियों एवं नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता हो। इसके लिए एक सामाजिक प्राणी के रूप में मानव का विकास हमारी नजर में होना चाहिए। तभी हम मानव की पूरी व्याख्या कर सकते

है, जहाँ वह कोई देवदूत नहीं होता, बल्कि जीवन के लिए जोड़–तोड़ करने वाला, रोजमर्रा की जिन्दगी के लिए संघर्ष करने वाला, मिल–जुलकर सामूहिकता का निर्माण करने वाला सामान्य आदमी होता है। जहाँ विजय भी है, हताशा भी है, सुख भी है दुःख भी है लेकिन जीने की ललक सदैव बनी रही, जीवन की गति कभी नहीं रूकी। और इसी में, हमें पहचान करनी होती है उन तत्वों की जो जीवन की इस गति में खलल पैदा करते हैं, सामान्य जिन्दगी में हस्तक्षेप करते हैं अर्थात मुनष्य विरोधी प्रवृत्तियों की खोज भी इसी क्रम में होती चलती है। .

जब लेखक किसी व्यक्ति का चित्रण करता है तो उसे अपनी रचना के ताने–बाने में उसी व्यक्ति के वर्ग की अच्छी और बुरी लाक्षणिक विशेषताओं को बुनने, अगर वह उसकी खंडित मनोदशा दिखाना चाहता है, तो दोनों को मिलाकर पेश करने का ढंग आना चाहिए। संस्कृति का तथ्यगत इतिहास– वर्गों, वर्गीय अंतर्विरोधों और वर्ग–संघर्ष के विकास का इतिहास जानना बहुत जरूरी है। सच्चाई और बुद्धिमत्ता नीचे से, जनता से उत्पन्न होती है। कहने का मतलब यह कि जब तक लेखक इन सब चीजों का विकास नहीं कर लेता, अपनी चेतना प्रक्रिया का अंग नहीं बना लेता वह स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकता। मानव–स्वभाव, प्रवृत्ति तथा वर्तमान दशा को प्रस्तुत करते समय एक लेखक के लिए यह जरूरी हो जाता है, कि वह जाने कि मनुष्य ने अतीत से क्या अर्जित किया है। आज मनुष्यता जिस मुकाम पर है, तथा जिस मनुष्यता के लिए वह रचनात्मक संघर्ष करता है, वह किन शक्तियों एवं प्रवृत्तियों से संघर्ष कर इस स्थिति तक पहुँची है, तथा वर्तमान में उसके सामने संकट और चुनौतियाँ कौन सी हैं। यह सब कुछ जानकर ही एक लेखक कालजयी मनुष्य को तथा उसकी गरिमा को उभार सकता है।

एक लेखक के लिए यह जानना जरूरी हो जाता है, कि उसके आस–पास के जीवन के जो चरित्र उसे आकर्षित करते हैं, जिसे वह कहानी के लिए चुनता है, मानव स्वभाव एवं उसकी सामान्य प्रवृत्तियों का कितना प्रतिनिधित्व करता है। उसकी सामाजिकता और नैतिकता का स्वरूप क्या है। क्या वह एक टाइप बन सकता है। क्या वह उस प्रकार के सभी लोगों के सुखों–दुखों एवं अन्य भाव–दशाओं का प्रतिनिधि बन सकता है। उसकी वर्तमान स्थिति किसी भावी गरिमा का निर्माण कर

सकती है! अगर ऐसा नहीं है, तो एक लेखक को उसे, ऐसा बनाना चाहिए। क्यूँकि, लेखक द्रष्टा ही नहीं स्रष्टा भी होता है। वह वर्तमान के बीच से भावी जगत के सपने भी देखता है। अगर उसके पास भावी जगत की कोई रूपरेखा नहीं है, तो वह वर्तमान का फोटोचित्र होकर रह जाएगा। उसके पात्र मानव प्रतिनिधि नहीं बन सकते। वे मानवीय गरिमा और गौरव को प्रस्तुत नहीं कर सकते। वे खाने–पीने और बच्चे पैदा करने में मस्त लिजलिजे प्राणी भर होकर रह जाएँगे।

एक लेखक अगर ऐतिहासिक चेतना से युक्त है तो वह अपने पात्रों को उस चेतना के भवितव्य के रूप में प्रस्तुत करेगा। भावी चेतना का निर्माण करेगा या उसकी तरफ संकेत करेगा। उसके पात्र गति एवं परिवर्तन से परिचालित होंगे। जिन्दगी की बेहतरी के लिए प्रयत्नशील रहेंगे, क्योंकि वर्तमान दशा से असन्तुष्ट रहना मानव स्वभाव है। एक लेखक को इससे परिचित होना चाहिए तभी वह टाइपों की रचना कर सकता है।

ई0एम0 फॉर्स्टर चरित्रों को स्थिर (Flat) और गतिशील (Round) में विभाजित करके देखते हैं। स्थिर चित्रों को यदा–कदा 'प्रारूप (Types)' और यदा–कदा 'विरूप–चित्र (Caricatures) भी कहा गया है। विशुद्ध रूप में उनकी रचना एक ही भाव अथवा गुण पर आधारित होती है। जब उनमें एक से अधिक तत्त्व होता है तब गतिशील पात्रों की ओर झुकाव प्रारम्भ हो जाता है। वे कभी पलायन नहीं करते, उनको विकसित होते देखने की आवश्यकता नहीं होती और वे अपना वातावरण स्वयं उत्पन्न करते हैं।

(उपन्यास के पक्ष, पृ0 47–48)

गतिशील चरित्र की कसौटी यह है कि क्या वह विश्वसनीय ढंग से विस्मित करने में सक्षम है। यदि वह कभी विस्मित नही करता वह स्थिर है, यदि एसमें विश्वसनीयता नहीं है तो वह गतिशील होने का पाखण्ड रचता है।

(वही पृ0 55)

गतिशील चरित्र सदैव विकास और परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ते हैं। कहानियों में किसी भी चरित्र को विषय बनाया जा सकता है या किसी घटना में किसी एक चरित्र का उद्घाटन किया जा सकता है यथार्थ का उद्घाटन, दोनों ही चरित्रों

द्वारा होता है। कहानी, चूँकि एक भाव, एक घटना, एक चरित्र, एक गुण का आख्यान होती है तथा उसमें प्रमुखता से वहीं उभारा जाता है इसलिए, कहानी में अक्सर स्थिर चरित्रों को ही रखा जा सकता है लेकिन अगर लेखक सधा हुआ है, वह उसके लिए समर्पण के साथ अभ्यास के साथ कहानी में उतरता है, तो वह गतिशील चरित्रों को विषय बना सकता है। क्योंकि गति एवं परिवर्तन मानवीय स्वभाव है। मानव एक भौतिक इकाई है अतः जरूरतों एवं परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन भी स्वाभाविक होते हैं। उम्र के हर पड़ाव पर व्यक्ति बिलकुल वहीं नहीं रह जाता जो, कि वह यात्रा के समय होता है। लेकिन, ऐसे चरित्रों के लिए विस्तृत फलक की आवश्यकता होती है। उपन्यासों के लिए यह अधिक अनुकूल पड़ता है। फिर भी गतिशील चरित्रों को लेकर लिखी कहानियों की परम्परा कम समृद्ध नहीं है। रूसी साहित्य ऐसे चरित्रों से भरा पड़ा है। जो पुश्किन से शुरू होकर, चेखव, गोर्की तक आता है। पुश्किन की "पिस्तौल का निशाना" चेखव की 'वार्ड नम्बर 6' तथा गोर्की की लगभग अधिकांश कहानियाँ गतिशील चरित्रों को बखूबी उभारती हुई चलती हैं।

ऐसे चरित्रों को विकसित करने के लिए उसके अन्तर्विरोधों एवं अन्तर्द्वन्द्वों से परिचित होना बहुत जरूरी होता है, क्यूँकि मानव सिर्फ गुणों को ही धारण नहीं करता, दुर्गुणों को भी धारण करता है। वह अगर अच्छाइयों का भण्डार है तो बुराइयों का भी भण्डार है। एक लेखक अगर इससे परिचित है, तो वह सजीव तथा जीवन्त चरित्रों की सृष्टि बखूबी कर सकता है। पात्र की प्रथम परिचयात्मक रूपरेखा प्रस्तुत करने के पश्चात उसके चरित्र का विकास उसके गुणों के परिवर्तन अथवा चरित्र के नये पहलुओं के उद्घाटन के माध्यम से करना चाहिए। आरम्भ में ही एक बार उसकी आकृति एवं रूप का वर्णन कर देना यथेष्ट नहीं। कहानी के विकास के साथ–साथ उसकी आकृति एवं रूप संबन्धी यह धारणा क्रमशः अधिक स्पष्ट और पुष्ट होनी चाहिए। नई कहानियाँ इसे ही लेकर उठी थीं। ऐसे में मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह इससे अछूते नहीं रह सकते थे।

चरित्रों को जीवन्त और सजीव बनाने के लिए एक अन्य सहायक उपादान है, आत्म–विश्लेषण की क्षमता। एक लेखक स्वयं भी एक सामाजिक प्राणी होता है। संघर्ष की उसी अवस्था से वह भी विकास प्राप्त करता है जिससे कि अन्य। अतः खुद भी

वह अध्ययन की सामग्री होता है। जब तक कोई अपने ही व्यक्तित्व का अध्ययन नहीं कर लेता, मनोवैज्ञानिक आत्म–विश्लेषण के द्वारा मूल प्रवृत्तियों, संवेगों और भावनाओं की प्रकृति तथा वृत्तियों का समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं करता, तब तक वह किसी भी चरित्र का चित्रण करने की स्थिति में पूरी तरह से नहीं होता। इतना ही नहीं, उसे खुद के और समाज के बीच के अन्तर्सम्बन्धों की भी पड़ताल करनी चाहिए, तभी वह किसी चरित्र की सामाजिकता तथा नैतिकता को समझ सकता है। और तभी वह चरित्र अपने पाठकों के साथ अपनापन का रिश्ता बना पाता है।

किसी भी चरित्र का मनोविज्ञान जानने के लिए खुद को उसकी जगह रखकर देखना, सबसे उपयुक्त तरीका होता है। इसके जरिये किसी भी चरित्र के व्यक्तित्व के भीतर प्रवेश करना आसान हो जाता है तथा एक लेखक अपनी चेतना का स्थानान्तरण कर उसे जीवन्त बना सकता है। उसे सजीवता प्रदान कर सकता है लेकिन इसके लिए जरूरी होता है कि वह खुद के अहं से, वैयक्तिक चेतना से मुक्त रहे वह व्यक्तिगत इयत्ता की ग्रन्थि से पीड़ित न हो। ऐसे में चरित्रों के आत्ममोही, एकान्तिक होने का खतरा रहता है। असामाजिक चरित्रों के निर्माण का बराबर का खतरा भी बरकारा रहता है।

एक लेखक को सभी पात्रों के रूप में कथा में भाग लेना होता है। चाहे, वह केन्द्रीय हो या उपान्तिक। अपने स्वयं के व्यक्तित्व से विरत होकर विभिन्न पात्रों के स्वतन्त्र व्यक्तित्वों में प्रवेश करना होता है, और अपनी सम्पूर्ण चेतना और संवेदना का स्थानान्तरण क्रमशः सभी पात्रों में करना होता है जिससे वे सभी जीवित और व्यक्तित्व सम्पन्न हो सकें। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि वह कल्पना की आँखों से पूरी स्थिति का अवलोकरन कर सके और अपने द्वारा लिखित सामग्री को पढ़ते समय उसे पाठक के दृष्टिकोण से भी देख सके।

एक लेखक के लिए उसके सभी पात्र प्रिय होते हैं। अतः उसके चरित्र का उद्‌घाटन करते समय व्यक्तिगत अरूचियों, पूर्वाग्रहों और मानवीय कमजोरियों एवं दुर्गुणों के प्रति असहिष्णुता की भावना को इसमें कोई स्थान नहीं देना चाहिए। अर्थात पात्र अगर गुणों का खजाना है तो भी, दुगुर्णों का भण्डार है तो भी, लेखक की सम्पूर्ण सहानुभूति पाने का अधिकारी होता है। क्योंकि जब तक किसी पात्र को लेखक की

सम्पूर्ण ऊर्जा नहीं मिलती वह कमजोर एवं बीमार बना रहता है तथा कहानी को भी रोगी बना देता है।

जिस प्रकार अपवादों से सामान्य नियम नहीं बनते उसी प्रकार कोई विशिष्ट मानव–गुण या दोष कहानी का विषय नहीं बनता अर्थात किसी ऐसे चरित्र को कहानी में उभारने का प्रयास नहीं होना चाहिए जो किसी विशिष्टता को धारण करता हो। ऐसे चरित्रों का साधारणीकरण नहीं हो पाता। उनसे तादात्म्य स्थापित करने में दिक्कत होती है क्योंकि वे किसी बड़े समूह या व्यापक गुणों का प्रदर्शन न कर अतिरिक्त गुणों का विस्फोट भर होते हैं।

इस क्रम में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है, कि चरित्रों का आत्ममोही होना, एकान्तिक होना तथा आत्मालाप करना कहानी की विशेषताओं में नही आता। यह एक दोष होता है तथा कहानी को रूग्ण बनाता है। यह उपन्यासों में तो छिप सकता है लेकिन कहानी में यह आर्सेनिक तत्व का काम करता है। (आर्सेनिक ऐसा रासायनिक तत्व है, जो किसी भी रासायनिक अभिक्रिया को बन्द कर देता है, अवरूद्ध कर देता है)

5.2.1 शिव प्रसाद की कहानियों के चरित्र

शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का मुख्य पात्र उसका नरेटर है, जो उनकी अधिकांश कहानियों में भोक्ता के तौर पर आता है। वह कहानी में रहकर समानान्तर चरित्रों को देखता है। इसलिए ऐसी कहानियों में समानान्तर चरित्रों का विकास नहीं हो पाया है। वे न तो स्वतन्त्र हैं और न ही, जीवित। वे नरेटर की दया–करूणा की दृष्टि और दिमाग से निकलकर अपना जीवन जी ही नहीं पाते। वे न तो जीवन्त हो पाते हैं, न सजीव। उनकी जिजीविषा, उनका संघर्ष, उनके सुख–दुःख, सब कुछ नरेटर का प्रेत चाट जाता है। बचता है तो कृशकाय आदमी और उसकी दारूण कथा। सर्वत्र दुःख ही दुःख। यह धरती फट क्यूं नहीं जाती! शिव प्रसाद सिंह जैसे यही दिखाना चाहते हैं। जबकि, यह दुःख वास्तविकता में कम, उनके दिमाग की उपज ज्यादा है।

शिव प्रसाद सिंह की ऐसी कहानियों में महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है, 'एक यात्रा सतह के नीचे' तथा 'धारा' जहाँ 'कबरी' एवं 'तिउरा' का चरित्र नरेटर की प्रेत छाया

की भेंट चढ़ जाता है। उनकी सामाजिक दासता, सामाजिक स्थिति तो दूर की कौड़ी हो जाती है, ऊपर से नरेटरी दासता चढ़ बैठती है। सामाजिक दासता से मुक्ति के लिए सामाजिक परिवर्तन की माँग होती है लेकिन इस नरेटरी दासता से मुक्ति कैसे सम्भव हो! शिव प्रसाद सिंह के चरित्रों की यहीं विडम्बना है, यहीं त्रासदी!

5.2.1 (i) नरेटर

शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का नरेटर आत्ममोही, व्यक्तिवादी, एकान्तिक एवं आत्मनिष्ठ ढंग से सोचने वाला है :

"इस आवाज से चौंककर हम खड़े हो जाते और साँप की तरह बंकिम, गिरते–उठते, ऊँचे–नीचे कगारों पर हमारी दृष्टि दौड़ जाती है। कहीं न कहीं किसी तरफ कबरी होगी, उलझे हुए बाल हवा की लहर पर उसके धूल–माटी से गन्दे गालों से टकरा रहे होंगे......."

(इन्हें भी...)

जैसा, कि जाहिर है वस्तुनिष्ठता एवं ऐतिहासिकता से उसका कोई मतलब नहीं होना है। वास्तव में कबरी की जिन्दगी कैसी है, यह महत्वपूर्ण नहीं, महत्वपूर्ण है, कि नरेटर की नजर में, उसके अनुमानों में कबरी की जिन्दगी कैसी है? और ऐसे ही कबरी का चरित्र अनुमानों के सहारे आगे बढ़ता है :

"लोगों के जूठे पत्तलों का खाना बटोर–बटोरकर जाने कैसे जीती रही माँ बेटी! पर वे जीती रहीं, और एक दिन, जब मैंने कबरी को तीन–चार बरस के बाद बड़े भाई की शादी में देखा, तो मुझे एकदम यकीन न आया कि लोगों का बचा–खुचा जूठा खाकर कबरी इतनी अच्छी लगती है!"

(वही)

इन अनुमानों की दृष्टि इसी तरह मूल समस्याओं से न टकराकर अतिरिक्त जगहों पर अड़ती है और अगर मूल समस्याओं को देखना भी हुआ तो कनखी से:

"मैं कनखी से देख लेता हूँ। कबरी वैसे ही घुटने पर मुँह टिकाए एक टक लाइन की समानान्तर पटरियों को देख रही है...."

(वही)

नरेटर की दृष्टि वस्तु की अपेक्षा रूप पक्ष पर ज्यादे टिकती है:

" .... गोल वर्तुल, स्याह–चक्राकार पहियों के सहारे रेंगती, साँप की तरह बल खाती चली गयी है....."

(वही)

इसे प्रतीक, बिम्ब, रूपक वगैरह कहना हेठी और जिद के सिवाय कुछ नहीं होगा।

शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का नरेटर समृतिमोही एवं यादों की कन्दरा में जीने वाला प्राणी है जिसके चलते वह कहानी कहता नहीं सोचता है। वह एक ऐसा प्रेत है जिसकी छाया पड़ने से कई चरित्र असमय रूग्ण एवं पीले पड़ गये हैं।

5.2.1 (ii) पतनशील चरित्र बनाम कैरा

कैरा, शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का शायद सबसे जीवन्त पात्र है। वह उनकी कहानी 'खैरा पीपल कभी न डोले' का एक पात्र है। वह टाइप चरित्र है, पतनशील प्रवृत्तियों का। जमीन्दारी टूटने के बाद, इस वर्ग में संक्रमण का दौर चला, जिसमें कुछ ने परिवर्तनों को पचाने की कोशिश की तो कुछ ने प्रतिक्रियात्मक रूख अपनाया। लेकिन इस वर्ग का युवा नई परिस्थितियों में अपनी भूमिका तय नहीं कर पा रहा था। कुछ ने शिक्षा का दामन पकड़ा और गाँवों से पलायन कर शहरी मध्यवर्ग में शामिल हो गये लेकिन अधिकांश काहिली और नकारेपन की तरफ मुड़ गये। इन्हीं प्रवृत्तियों ने एक नये तरह के अपराध को जन्म दिया। यह उस अपराध से भिन्न था जो सामाजिक–आर्थिक विषमता से उत्पन्न होता था, जो व्यवस्थागत होता था। जो अधिकारों की हिस्सेदारी में बाहर धकेल दिये गये, हाशिए पर के लोगों का होता था। यह नया अपराध परोपजीविता एवं अनुत्पादक उत्तर जीविता के विकल्प के रूप में उत्पन्न हुआ था। इसने मूल समस्याओं एवं वास्तविक लड़ाई की दिशा को भी कहीं न कहीं से प्रभावित किया। इस वर्ग से कोई उम्मीद नहीं की जा सकती थी। यह पतनोन्मुख वर्ग था। इनमें जीवनगत संघर्षों से भागने की प्रवृत्ति थी सामाजिकता का अभाव था।

विश्व के कथा साहित्य में गोर्की ही ऐसा कहानीकार है जिसने ऐस चरित्रों को कहानी में प्रस्तुत किया एवं उन प्रवृत्तियों को उभारा। 'सफर का साथी' तथा 'चेल्कास' इस ढंग की कहानियाँ हैं। हिन्दी कहानियों में ऐसा प्रयास नहीं दिखता। 'कैरा' एक ऐसा ही पात्र है लेकिन जैसा कि तय है, कि शिव प्रसाद सिंह की दृष्टि न तो साफ

थी और न ही ऐतिहासिक जिसके चलते वे 'कैरा' के चरित्र को मामूली सा बनाकर रख देते हैं। ऐसे ही 'तो...' कहानी के इसी प्रकार के चरित्र 'उदय' को गप्प की चीज बनाकर छोड़ देते हैं। जबकि, ऐसे चरित्रों का विकास हुआ होता तो हिन्दी कथा–साहित्य शिव प्रसाद सिंह का ऋणी होता।

5.2.1 (iii) गतिशील चरित्र बनाम खुनखुन

गतिशील चरित्रों को Round भी कहा जाता है, अर्थात ऐसे चरित्र जिनका विकास कथानक के विकास के साथ साथ होता है। कहानी के अन्त में ही जाकर पता चलता है कि अमुक पात्र की निम्न प्रकृति और निम्न स्वभाव है। 'खुनखुन' शिव प्रसाद सिंह की कहानी 'मरहला' का ऐसा ही पात्र है। यूँ तो उनकी कहानियों में गतिशील एवं जीवन्त चरित्र ढूढ़ने से ही मिलते हैं, स्वाभाविक रूप से नहीं, फिर भी, ऐसे चरित्रों में प्रतिनिधि चरित्र के रूप में 'खुनखुन' का ही स्वाभाविक विकास हुआ है। वह एक जीवन्त एवं सजीव पात्र है। वह मानवीय गुण–दोषों को धारण करता है।वह कटु है , तो उदार भी है। वह एकान्तिक भी है, सामाजिक भी। वह निर्दयी भी है, त्यागी भी। आस–पास के लोग उसकी जिन्दगी के खास हिस्से हैं।

'मरहला' शिव प्रसाद सिंह की एक मात्र ऐसी कहानी है जिसमें वस्तुनिष्ठ दृष्टि का शुरू से अन्त तक पूरा का पूरा पालन हुआ है। इसीलिए 'खुनखुन', उनकी समूची कहानियों का एक मात्र याद करने लायक पात्र है।

"गाड़ी चली गयी, तो खुनखुन ने राहत की साँस ली और गर्द और धुएँ से भरी हुई अपनी आँखों को पोंछा। फाटकों के ताले खोलकर जंजीरें अलग कीं, छोकरों को उनकी शैतानी के लिए एक बार फिर कोसा और मवेशियों के फाटक में घुसने के पहले ही वह अपनी गुमटी में घुस गया।" (मरहला)

खुनखुन की जिन्दगी में कुछ भी निजी नहीं है सिवाय उसकी 'पहली औरत' के और वह भी जब गूंजा ने लोगों को सुना–सुना के कहा, "पहली औरत को खा गया, मुझे भी खा जाएगा।"

'खुनखुन को बड़ा दुःख लगा। इसलिए नहीं कि गूंजा चली गयी बल्कि इसलिए कि उसने पहली औरत को नाहक इसमें खींचा।'

(वही)

'खुनखुन' केवल इसलिए नहीं कहानी का विषय बन गया है, कि वह मरहलादार है बल्कि, वह मनुष्यता में विश्वास जगाता, उच्चतर मानवीय मूल्यों में विश्वास जगाता एक मरहलादार है। वह कुछ–कुछ गोर्की की कहानी 'वान्का माजिन' के वान्का की तरह है। वह शिव प्रसाद सिंह के चरित्रों की एक मात्र उपलब्धि है।

5.2.1. (iv) विशिष्ट चरित्र बनाम बिहारी

विशिष्ट चरित्र वे होते हैं जो खास गुणों को धारण करते हैं अर्थात सामान्येतर गुणों को। कभी–कभी यह चौंकाने वाला गुण भी हो सकता है। शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ ऐसे ही चरित्रों को ढूढ़ती फिरती हैं लेकिन अफसोस कि वे किसी टाइप की रचना नहीं कर पाती और विशिष्टता महज तमाशा बनकर रह जाती है। 'बिहारी' (बहाव–वृत्ति), 'लक्खीलाल' (शाखामृग), 'अर्जुन पाण्डे' (अंधेरा हंसता है), 'बोधन तिवारी' (हीरो की खोज) जैसे चरित्र इसी क्रम में आते हैं।

'बिहारी' लोकनर्तक है और उसी परिवेश से सम्बन्ध रखता है, जिससे कि भिखारी ठाकुर। सामाजिक विषमता एवं भेद–भाव के बीच अपनी रचनात्मकता के साथ संघर्ष करता भिखारी ठाकुर। भिखारी ठाकुर भी लोकनर्तक है लेकिन अपनी चेतना में वह कबीर की परम्परा से जुड़ जाता है। वह समाज की मूल संरचना की कमियों पर चोट करती परम्परा से जुड़ जाता है। लेकिन शिव प्रसाद सिंह ने बिहारी को कहीं और उलझा दिया है, जहाँ वह हँसी का पात्र बन जाता है। और पाता भी है, तो लेखक की करूणामयी कमण्डल से छिरका हुआ थोड़ा सा जल। वह कहीं भी उस संरचना पर सवाल नहीं उठा पाते जिसमें कि बिहारी जैसा चरित्र सर्वाइव करता है। बिहारी के चरित्र में सामाजिक विभेदों को उद्घाटित करती कोई भी संवेदना और भावना नहीं प्रकट होती। वह किसी वृहत्तर सामाजिक उद्देश्यों से परिचालित कड़ी नहीं बन पाता। इन सब चीजों के अभाव में, ऐसे चरित्रों को रचने का औचित्य शिव प्रसाद सिंह ही समझ सकते हैं।

हमारे समाज की प्रभु–नैतिकता ऐसे चरित्रों को तमाशा ही समझती है शिव प्रसाद सिंह उसी नैतिकता का पालन करते हैं और बिहारी जैसे चरित्र को तमाशा ही बनाकर छोड़ते हैं। जैसा, कि उनकी कहानियों से स्पष्ट है, समाज की मूल संरचना में घुसने की वे कोशिश ही नहीं करते जिसका नतीजा यह होता है कि यथातथ्यता को वे

यथार्थ मानने की भूल कर बैठते हैं। इसका प्रभाव चरित्रों पर तो पड़ना ही था। 'लक्खीलाल' 'अर्जुन पाण्डे' 'बोधन तिवारी' जैसे चरित्र भी उसी के शिकार होते हैं तथा किसी भी प्रकार के सामाजिक उद्दश्यों को उभारने में असफल हैं।

5.2.1 (v) चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व बनाम नन्हों

प्रेम निजी चीज नहीं होती। वह कहीं न कहीं समाज की संरचना, व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की परिधि तथा सामाजिक संस्कारों और मान्यताओं से जुड़ी होती है। प्रेम की निजता पुरूष प्रधान समाज या प्रभु मानसिकता की बनायी बात है। प्रेम वरतुतः शरीर की स्वाभाविक माँग पर नैतिकता की लगाम है। प्रेम का कारण अगर दमन है, तो विद्रोह उसका परिणाम अर्थात, जब नैतिकता एवं संस्कारों के दबाव में शरीर की सेक्स सम्बन्धी मूल इच्छाओं का दमन होता है, तो उसके विकल्प के रूप में प्रेम पैदा होता है और यहीं प्रेम आगे चलकर उन्हीं नैतिकताओं एवं संस्कारों के विरूद्ध खड़ा हो जाता है। इसलिए प्रेम निजी चीज हो ही नहीं सकती। उसे निजी बनाया जाता है। समाज की नीति निर्धारक शक्तियाँ ऐसा करती हैं, ताकि सामाजिक विद्रोहों के प्रति एक तरंग रोध पैदा किया जा सके। यह कुछ वैसा ही खेल है, जैसा कि पूँजीवाद द्वारा वैयक्तिक चेतना को प्रश्रय।

शिव प्रसाद सिंह ने भी प्रेम की निजता को बनाये रखने के षडयन्त्रों में अपना योग दिया है, 'नन्हों' कहानी की मुख्य पात्र नन्हों द्वारा। नन्हों वैयक्तिक अहं और प्रेम की निजता के बीच फँसी है। लेकिन न तो अहं का ही कोई आधार दिखता है और न ही निजता का। नन्हों का चरित्र वस्तुगत स्थितियों से रगड़ खाकर उतना नहीं विकसित हुआ है, जितना कि लेखक द्वारा पैदा की गयी आत्मगत स्थितियों से । नन्हों द्वारा रामसुभग को स्वीकारने और न स्वीकार पाने के बीच जो द्वन्द्व है, वह वस्तुगत स्थितियों से कम उत्पन्न है लेखक के दिमाग से ज्यादे। लेखक ने नन्हों के अन्तर्द्वन्द्वों को तो दिखाया लेकिन उसके पीछे न तो कोई ठोस कारण नजर आया और न ही उद्देश्य। एक वायवीय और अमूर्त आदर्श उसके चरित्र पर प्रेत की तरह मंडराता रहता है। जीवन्तता और सजीवता की जो कमी शिव प्रसाद सिंह के अनेक चरित्रों की विशेषता है, उससे मुक्ति यहाँ भी नहीं मिली है।

चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व वहाँ उभरता है, जहाँ मनुष्यता की स्वाभाविक गति उसे दूसरी ओर चलाती है लेकिन सामाजिक शक्तियाँ उसे दूसरी ओर ठेलती हैं। जहाँ मानवीय मूल्यों एवं मान्यताओं की राह में अमानवीय 'मूल्य और मान्यताएँ बाधा बनती हैं। शिव प्रसाद सिंह ने ऐसे किसी चरित्र को मुख्य रूप से नहीं उभारा है, फिर भी फुटकल रूप में 'मटरू नट' (आर–पार की माला) तथा 'टीमल कुम्हार' (माटी की औलाद) को ऐसे चरित्रों के रूप में याद किया जा सकता है। 'अवधू' (एक यात्रा सतह की नीचे) जरूर इस रूप में शिव प्रसाद सिंह की उपलब्धि कही जा सकती है। जहाँ, बेरोजगारी तथा सेक्स सम्बन्धी प्रभु मान्यताओं की सलीब पर टँगा अवधू का चरित्र पूरी जीवन्तता से उभरा है।

5.2.2 मार्कण्डेय की कहानियों के चरित्र

मार्कण्डेय कहते हैं, 'हालाँकि काल्पनिकता मेरी कहानियों में बहुत कम है लेकिन चरित्रों को संयोजित तो करना ही पड़ता है। गाँव के एकदम वातावरण से उठाकर, लेकर चरित्रों को नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। संयोजन तो करना ही पड़ेगा। आखिर, चरित्र बनाने के लिए एक लेखक को अपना तथा अपने व्यक्तित्व का समवाय उसे देना पड़ता है, उसको बनाना पड़ता है, उसको गढ़ना पड़ता है, ताकि व्यक्तित्व से जोड़ बैठाया जा सके। जिस तरह कुम्हार मिट्टी से बर्तन गढ़ता है उसी प्रकार यथार्थ की मिट्टी से चरित्रों को गढ़ना पड़ता है। कुछ चरित्र तो लेखक को अलग से गढ़ना पड़ता है जो कि हकीकत में नहीं होते लेकिन उनकी रचना समय एवं समाज के किसी दूसरी तरह के चरित्र से मेल खाती है। उन सच्चाइयों को चित्रित करने के लिए गढ़ी जाती हैं, जो उस समय मौजूद नहीं होती लेकिन किसी दूसरे समाजगत सच्चाई से जुड़ी होती है।'

(व्यक्तिगत बातचीत)

अर्थात, चरित्रों को ऐतिहासिक विकास क्रम में रखकर विकसित करना तथा उसे एक विचारधारा से अनुप्राणित करना, ताकि वह यथार्थ के किसी न किसी पहलू को उद्घाटित कर सके, किसी न किसी पक्ष को उभार सके। जरूरी नहीं है कि वह लेखक के परिवेश से जुड़ा या उसका देखा हुआ कोई चरित्र हो। जरूरी यह होता है कि वह चरित्र समाज की वस्तुगत सच्चाईयों से रूबरू होता हुआ कितना वास्तविक

बन पाता है। तथा उस चरित्र के सुख–दुःख, हँसी–खुशी, उसकी भावना–संवेदना से पाठक खुद को, कितना अधिक जोड़ पाता है। पाठक के सामने एक अपरिचय से शुरू हुई किसी पात्र की कहानी अन्त तक जाते–जाते कितनी परिचित होती जाती है।

मार्कण्डेय ने इस क्रम में हिन्दी कहानी को कुछ ऐसे चरित्र दिये हैं जो अविस्मरणीय बन गये हैं। 'मंगी' (कल्यानमन), 'दुखना' (महुए का पेड़), 'नरेश', 'बचन', 'हीरा' (मधुपुर के सीवान का एक कोना), 'बुझावन', 'फउदी दादा', 'मनरा', 'रग्घूसिंह' (बीच के लोग), 'प्रिया'(प्रिया सैनी), 'सूर्या'(सूर्या), 'हंसा' (हंसा जाई अकेला), 'बसंत राउत' (प्रलय और मनुष्य), 'नाथू' (घुन), 'घूरे बाबा', 'सुखी', 'घेंचू'(शव–साधना), 'रमजान'(आदर्श कुक्कुट गृह) ऐसे ही चरित्र हैं, जिस पर हिन्दी कहानी की वस्तुवादी परम्परा फक्र कर सकती है।

5.2.2. (i) प्रतिरोध की आदिम चेतना तथा मंगी और दुखना

सभ्यता के विकास में अनुत्पादक तथा परोपजीवी वर्ग निरन्तर उत्पादन के साधनों पर कब्जा बनाता हुआ जहाँ केन्द्र में स्थापित हो गया वहीं श्रमिक एवं उत्पादक वर्ग निरन्तर केन्द्र से दूर परिधि की ओर धकेल दिया गया। वह हाशिए पर जीने लगा और साथ ही उसकी परम्परा, उसकी संस्कृति भी। लेकिन साहित्य ने इसे जिन्दा रखा क्योंकि, साहित्य ने सदैव लोक से ही रस ग्रहण किया है और लोक–अभिरूचियों तथा प्रवृत्तियों ने साहित्य को सदैव प्राणवान किया है। जीवन का उनका नजरिया, जीने का उनका ढंग, जीवन से लड़ने का उनका तरीका, उनकी जिजीविषा, जीवन में उनका अटूट विश्वास, उनकी गतिशीलता ने रचनात्मक जगत को हमेशा से आकर्षित किया है। लेकिन इसमें भी जो खास आकर्षण रहा है वह है अपने अधिकारों और हितों को पहचानती इस वर्ग की सजग, सचेत स्त्रियाँ तथा उनका स्वाभिमान और इसका कारण है, कि वे श्रम एवं उत्पादन में बराबर की हिस्सेदार होती हैं। वे पराश्रित नहीं बल्कि समान सहभागिता के साथ निर्णायक भूमिका में होती हैं। रामायण–महाभारत की कथाओं में ऐसे चरित्र तो मिलते ही हैं आगे चलकर अपभ्रंस साहित्य में भी उनका दर्शन होता है। सूर की गोपियाँ तो मील की पत्थर है।

आधुनिक साहित्य में यह परम्परा प्रेमचन्द, हजारी प्रसाद द्विवेदी, वृन्दावन लाल वर्मा, रांगेव राघव के कथा–साहित्य में जीवन्त होती है। 'धनिया'(गोदान) एवं 'कजरी'

(कब तक पुकारूं) की ही परम्परा की अगली कड़ी 'मंगी' और 'दुखना' के रूप में सामने आती है। विशेष उल्लेखनीय है कि मंगी और दुखना उसी पीढ़ी से ताल्लुक रखती हैं जिससे धनिया एवं कजरी। धनिया एवं कजरी की अवस्था बीस वर्ष और चढ़ गयी है। मंगी और दुखना के रूप में वे अपने अन्तिमपन में हैं लेकिन अपने अधिकारों के प्रति, हितों के प्रति सजगता की वहीं चेतना है। वे भूमि सम्बन्धों में आये नये बदलावों के प्रति सचेत हैं। भले ही, यह चेतना वर्गीय न हो लेकिन उसकी आधारपीठिका तो तैयार करती ही है।

जैसा कि, हम दूसरे अध्याय में देख आए हैं, कि स्वतन्त्रता के बाद आर्थिक निर्माण में सबसे पहले भूमि–सुधारों पर ध्यान दिया गया क्योंकि किसान–मजदूर आन्दोलनों का दबाव स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान काम तो कर ही रहा था, आजादी के बाद कम्यूनिस्ट आन्दोलन इसे जारी रखे हुए था। काँग्रेस सरकार ने भूमि–सुधारों को लागू किया लेकिन उसकी व्यावहारिक सीमाएं जल्द ही सामने आ गयीं क्योंकि कांग्रेस में अब वहीं तत्व निर्णायक भूमिका में आ ये थे जिनके विरूद्ध स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान लड़ाई लड़ी गयी थी। सरकार ने भूमि–सुधार तो लागू कर दिये लेकिन उसके क्रियान्वयन को स्वयं के भाग्य पर छोड़ दिया नतीजा यह हुआ कि भूमिपतियों के हाथ से निकली जमीनें डरा–धमकाकर पुनः वापस ले लीं गयीं। क्योंकि वहाँ सुरक्षा की कोई जिम्मेदारी सरकार द्वारा नहीं ली गयी। इन्हीं परिस्थितियों में प्रतिरोध की चिनगारी के साथ मंगी अकेली खड़ी है।

'किसका बच रहा है। जगई खाली डराने–धमकाने से स्टीपा देकर भाग गया और मुसई ने सौ रूपये लेकर माँ–बाप की धरती पर से पाँव उठा लिया। बस वही तो एक बच रही है.....'। (कल्यानमन)

और वह अपनी जमीन के लिए लड़ती है, अपने पूरे जोर के साथ लड़ती है, तब तक लड़ती है जब तक कि पूरी तहर से हार नहीं जाती।

मंगी मुँहफट भी है क्योंकि वह अपने श्रम का मूल्य जानती है–

"कोई सेंत का खाती हूँ जो लात–गारी सहूँ। रात–दिन छाती पर बज्जर जैसा गगरा–बाल्टी ढोती हूँ। बन्न कर दूँ तो सरने लगें रानी लोग। का हमरी देहियाँ माटी

की है! का हमके देखे वाले की अंखिया घुमची की हैं। हमहूँ हाथ–पाँव में मेंहदी रचाय के बैठ सकती है।"
(कल्यानमन)

मंगी मुँहजोरी में यह कह तो जाती है लेकिन उसकी जिन्दगी इसको अनुमति नहीं देती क्योंकि उसका श्रम स्वतन्त्र नहीं ऊपर से पति शराबी। याद करिये गोर्की के पात्र पाब्लोव को (माँ) तथा प्रेमचन्द के पात्र घीसू को (कफन)!

"उन्होंने आँचल के खूट से दो अठन्नियाँ छोड़कर, छन्न से उसके आगे फेंक दीं। मंगी पैसा उठा ही रही थी कि बड़की बहू कँहरकर बोलीं, 'बीस आना हो जाएगा अगिले माघ में, चेत रखना!' मंगी की जिन्दगी घिरी हुई है फिर भी वह अपने खेतों को बेदखल नहीं होने देती क्योंकि वह अपने अधिकारों को पहचानती है:'खेती चमरू करेगा, परताल ठाकुर के नाम से होगी'
(कल्यानमन)

मंगी उस श्रम संस्कृति से ताल्लुक रखती है जहाँ स्त्री की समान हिस्सेदारी होती है, वह पति के ऊपर आश्रित नहीं, शारीरिक जरूरतों के बल पर गुलाम नहीं :
'उसने झटके से दरवाजा बन्द कर दिया और भूखी सियारिन की तरह तिलमिला कर *बच्चे की तरह झपटी–क्यों न दबा दूँ इसका गरदन और इस नसेड़ी को लात मारकर* कल दूसरे घर बैठ जाऊँ। देखूँ यह दाढ़ीजार किस बूते पर सराब पीता है।'
(कल्यानमन)

मंगी चारों तरफ से घिर जाती है, ठाकुर उसके लड़के को उसके ही विरूद्ध भड़का देता है, जिसके लिए वह संघर्ष करती रही वहीं नकारा निकल गया। वह पहली बार पराजित महसूस करती है :

"ठाकुर हमारा घर नास रह रहे हो।" इस छोटे से वाक्य में उसकी सारी बेबसी, निरीहता, अवशता, वेदना उभर आती है।

चरित्रों के निर्माण के लिए मार्कण्डेय ने पहले परिस्थितियों का निर्माण किया है और यह एक कहानीकार की साफ दृष्टि को दिखाती है। मंगी के चरित्र को उभारने के लिए भिन्न परिस्थिति है, तो दुखना के लिए अलग। मंगी हारती है लेकिन वह जीवन से निराश नहीं होती क्योंकि मंगी का चरित्र उसकी अनुमति नहीं देता। मंगी ऐसी पात्र है जिसके सामने लेखक भी स्वच्छन्द नही हो सकता। मंगी, दुखना की तरह तीरथ–बरत को नहीं जा सकती और न ही लेखक उसे भेजने की हिम्मत ही कर

सकता था। मार्कण्डेय को इसीलिए एक दूसरा चरित्र रचना पड़ा जहाँ दुखना पराजित होकर धरम–करम की शरण में चली जाती है। यह लेखक की उस ऐतिहासिक दृष्टि का परिणाम है जिसमें, कि मनुष्य धर्म की शरण में जाने के लिए विवश हुआ।

5.2.2 (ii) वर्गीय चेतना तथा मनरा

मार्कण्डेय के चरित्रों में लक्षित करने वाली जो बात मुख्य है, वह है, हो रहे परिवर्तनों पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि और इसके चलते उनके चरित्र प्रामाणिक हो सके हैं। मंगी (कल्यानमन), बुझावन(बीच के लोग), चैतू(गुलरा के बाबा) उस पीढ़ी के सर्वहारा हैं जो भूमिपतियों के पितृवत सम्बन्ध से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। वे संक्रमण के चरण में हैं जहाँ वह सम्बन्ध टूट रहा है :

''..... पहले यही घर थे कि काम करने पर खेत मिलते थे, आम के पेड मिलते थे, शादी–व्याह पर लकड़ी–फाटा, गहना–कपड़ा मिलता था, हरजी–गरजी अनाज–पानी मिलता था। मालिक लोग तनी–तनी बात पर मुँह जोहते थे..''

(कल्यानमन)

लेकिन 'बीच के लोग' तक पहुँचते–पहुँचते यह सम्बन्ध पूरी तरह से टूट जाता है। अब मनरा अपने वर्गीय अधिकारों की लड़ाई लड़ता है। वह *'बकायदे लाल झण्डा–पाल्टी का मिम्बर है।'*

मार्कण्डेय की जो सबसे बड़ी खासियत है वह है समय के साथ चरित्रों में हो रहे परिवर्तनों को पकड़ना। पुराने ठाकुर से नया ठाकुर कहाँ भिन्न हैं, आदिम चेतना, वर्गीय चेतना में कहाँ परिवर्तित होती है। इसलिए उनके चरित्र पाठकों से अपना आत्मीय सम्बन्ध जोड़ने में सफल हैं। वे स्वाभाविक बन पड़े हैं। वे सजीव हैं क्योंकि वे सामान्य प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि बनकर आते हैं, सामान्य सुखों–दुःखों से परिचालित होते हैं। वे सुख–दुःख भौतिक घटनाओं से उत्पन्न होते हैं। मूर्त होते हैं। वे वायवीमता की पीड़ा को धारण नहीं करते। वे दुःखों को लादकर नहीं चलते। उनके दुःख *'मुरदासरायों'* तथा *'परकटी तितलियों'* की रचना नहीं क़रते। वे किसी अमूर्त प्रक्रिया से परिचालित नहीं होते। भौतिक घटनाएँ ही उन चरित्रों का विकास करती हैं। और यह मार्कण्डेय की सारी कहानियों पर लागू होती है जो उनकी यथार्थपरक, वस्तुवादी दृष्टिकोण की ही परिचायक है।

5.2.2 (iii) पुराने भूमिपति बनाम दादा-बाबा

पुराने भूमिपतियों के चरित्र, शेष समाज से उनके दया और दण्डनीति के सम्बन्धों पर टिके हैं अर्थात पितृवत सम्बन्ध। उनका प्रतिनिधित्व मार्कण्डेय की कहानियों में आए दादा–बाबा करते हैं। इनमें मुख्य रूप से 'गुलरा के बाबा', 'हंसा जाई अकेला' तथा 'बीच के लोग' महत्वपूर्ण कहानियाँ है।

'गुलरा के बाबा', सामन्तवादी चरित्रों की अन्तिम गौरवपूर्ण स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके अन्दर बाप–दादा से मिली परम्पराएँ जीवित हैं। वहीं मूल्य, वहीं नैतिकता, वहीं दया–धरम की बात। 'हंसा जाई अकेला' के बाबा गाँवों में प्रतिक्रियावादी ताकतों के विरूद्ध लड़ रही ताकतों के संरक्षक हैं। वे कांग्रेस के प्रगतिशील खेमे से ताल्लुक रखते हैं लेकिन अब सामने मूल परिवर्तनवाद है। नक्सलाबाड़ी आन्दोलन की धमक है। ऐसे में फौदीदादा शान्ति और सुरक्षा के नाम पर यथास्थितिवाद की वकालत करते हैं।

'ठाकुर की ही तो वह जमीन है, बुझावन! यह बात ठीक नहीं? फउदी दादा जैसे न्यायालय की कुर्सी से बोले। 'भाई जो बात लग आयी है, उसे न छोड़ो। अगर किसी का लेते हो तो मूल–सूत समेत दो। न देना हो तो कोई तुम्हें जबरदस्ती करजा–कुआम तो देता नहीं। समाज चलेगा नहीं...'

(बीच के लोग)

लेकिन फौदीदादा उन परिवर्तनों को भी देख रहे हैं जो उनके सामने घटित हो रही हैं और खुद महसूस भी करते हैं :

.... मैं ढूह हो रहा हूँ और इधर–उधर छलककर बहता पानी अब धारा बन गया है और हरदम मुझे काट रहा है, कमजोर कर रहा है। कई बार सोचा कि अपने को वहाँ से हटा लूँ, नहीं तो मझधार में अकेला ही किसी दिन भस जाऊँगा...।

(बीच के लोग)

धारा के एक तरफ अगर प्रतिक्रियावादी ताकतें, राजनीतिक भ्रष्ट एवं बेइमान शक्तियाँ हैं, तो वहीं दूसरी तरफ मूल परिवर्तनवाद है जो सदियों से खारिज अपने अधिकारों को पाने के लिए कमर कस रहा है।

5.2.2 (iv) नये भूमिपति

स्वतान्त्रता के बाद जो भूमि सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं तथा उधर राजनीति में नये सामन्तों तथा बुर्जुआ का गठजोड़ होता है उसका प्रभाव नये भूमिपतियों के चरित्र पर भी पड़ता है। अब पितृवत सम्बन्ध टूट चुके हैं। दया धरम की बातें पुरानी पड़ चुकी हैं। अब समाज सीधे–सीधे दो वर्गों मे बँट चुका है। एक तरफ पूँजीवाद समर्थित नया भूधर वर्ग है तो दूसरी तरफ भूमिहीन सर्वहारा। मार्कण्डेय की कहानियाँ इन परिवर्तनों को बखूबी लक्षित करती हैं। राम हरख, हरिदयाल (बीच के लोग) देवी सिंह (गुलरा के बाबा), ठाकुर के लड़के (महुए का पेड़, कल्यानमन, मधुपुर के सीवान का एक कोना) आदि चरित्रों में यह परिवर्तन देखा जा सकता है।

5.2.2. (v) नरेटर

मार्कण्डेय की कहानियों का नरेटर सामाजिक एवं बर्हिमुखी व्यक्तित्व रखता है। वह न तो एकान्तिक है और न ही आत्ममोही, आत्मालापी।

....वैसे मुझे काम करना, करते रहना और करते–करते उसी में खो जाना प्रिय है। इस की बात भी मैं लोगों से करता हूँ और दूसरों से यही चाहता भी हूँ, पर यह सब तभी होता है, जब मेरे चारो ओर लोग होते हैं। ऐसा नहीं कि लोगों में मेरे बीबी–बच्चे शामिल नहीं हैं।...

(दूध और दवा)

नरेटर अपने पाठकों से सीधे संवाद करता दिखता है। वह आप बीती भी सुनाता है, जगबीती भी सुनाता है। लेकिन, दोनों जगह जिन्दगी की छोटी–छोटी समस्याएँ रहती हैं, दुःखड़े रहते हैं, खुशियाँ रहती हैं, जिसका पाला सभी से पड़ता है। इस तरह नरेटर सबकी कहानी कहता है। उसमें रोजमर्रा की जिन्दगी से, आम समस्याओं से जूझते, संघर्ष करते लोग हैं, छोटी–छोटी खुशियों को संजोते लोग हैं।

.... मुन्नी की दवा और दूध.... चुपके से मन में कुछ काँपता है – मैं ऐसी ही नन्हीं–नन्हीं बातों को लेकर परेशान होता हूँ।

......

रूको तो! अरे यह तो वही तिल है!" अँगुलियाँ काँप जाती हैं। चेहरे पर चुनचुनाहट की तरह कुछ बहुत नन्हा–नन्हा उग आता है, एक अजीब सी खुशी की लहर –

(दूध और दवा)

मार्कण्डेय की कहानियों का नरेटर वस्तुवादी ढंग से सोचता है। वह अपने सामने घट रही घटनाओं से बातें निकालता, उसकी बात करता है, उनका वर्णन करता है। वह चीजों को सामने रख देता है उनके गुण भी, उनके दोष भी उनकी नैतिकता, उनके मूल्य तथा समय से उनका टकराव भी। 'सात ब़च्चों की माँ', 'नौ सौ रूपये और एक ऊँट दाना', 'प्रियासैनी' में उसी ढंग का विकास हुआ है।

मार्कण्डेय की कहानी का नरेटर रचनात्मक संघर्ष भी करता है। वह सामाजिक संन्दर्भों को उभारता है, संघर्षशील तत्त्वों की पहचान करता है तथा प्रगतिशील एवं परिवर्तनकारी तत्वों के लिए पृष्ठभूमि की तलास करता है। वह ऐतिहासिक दृष्टि सम्पन्न है। तभी, वह देखा पाता है, कि स्त्रियाँ अगर अपनी शरीरी इच्छाओं के चलते गुलाम हैं तो मजदूर अपने श्रम के चलते। 'दूध और दवा' तथा 'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए', 'सहज और शुभ' में नरेटर का यह व्यक्तित्व उभरता है। जो कहानी में किनारे–किनारे चलता है।

5.2.2. (vi) स्त्री-मुक्ति बनाम प्रिया सैनी

मार्कण्डेय की कहानियों के मुख्य आकर्षण उनके स्त्री चरित्र ही हैं। उनकी कहानियों में स्त्री पात्र, सामन्तवादी एवं बुर्जुआ नैतिकता तथा मूल्यों से संघर्ष करती अपने वजूद के लिए अकेली खड़ी हैं। उनकी कहानियों की स्त्री पात्र अपनी चेतना में आज के ज्यादे करीब हैं। वे स्त्री–मुक्ति के लिए एक विमर्श पैदा करती हैं। यह मुक्ति, मातृत्व और नारीत्व से नहीं बल्कि उसी के बल पर गुलाम बनाए जाने की प्रवृत्ति तथा उसकी नैतिकता से है। साथ ही वह बाजारवादी मूल्यों के विरूद्ध भी खड़ी है जहाँ स्त्री एक उपभोक्ता वस्तु है।

प्रिया सैनी के रूप में मार्कण्डेय ने ऐसी ही स्त्री का चरित्र रचने की कोशिश की है। प्रिया सैनी स्त्रियोचित कमजोरियों को भी धारण करती है। वह सेक्स सम्बन्धी आवेगों को भी धारण करती है इसीलिए वह सजीव भी हो सकी है। फिर भी वह पुरूष अहं के आगे बिलकुल घुटने नहीं टेक देती। वह अपने सामन्ती नैतिकता को ढोते

शक्की प्रेमी से अलग होकर अविवाहित मातृत्व के साथ जीने का निर्णय लेती है। इसी तरह सूर्या भी है जो अपने प्रेमी को इसलिए छोड़ देती है क्योंकि वह उसके माँ और चाचा के बीच के पूर्व सम्बन्धों के चलते उसे शक की नजरों से देखता है।

पुरूष प्रधान समाज की सामन्ती एवं बुर्जुआ नैतिकता की मार, चूँकि स्त्री–समाज को ही सबसे अधिक, खानी पड़ती है इसलिए उस नैतिकता के विरूद्ध खुलकर खड़ी होना उनके लिए स्वाभाविक भी है। प्रिया सैनी तथा सूर्या दोनों ही पुरुषवादी अहं पर चोट करती हैं। मार्कण्डेय की स्त्री पात्र उतनी ही वास्तविक हैं जितनी कि उनकी देह–धर्म।

5.3 संवाद–योजना

कोई चरित्र चुप रहकर वास्तविक नहीं हो सकता। संवादों के द्वारा ही वह सजीव होता है, प्रत्यक्ष होता है। किसी चरित्र को जानने के लिए संवाद ही वास्तविक जानकारी देते हैं। संवाद चरित्रों को सामने लाते हैं, उभारते हैं। उनके गुण–दोष संवादों के द्वारा पाठक के सामने उपस्थित हो जाते हैं। एक लेखक की क्षमता की पहचान उसके पात्रों द्वारा प्रयुक्त संवादों से ही होती है। कहानी में लेखक अगर अपनी कोई बात या विचार सीधे व्यक्त करता है, तो यह बाधा उत्पन्न करता है। अतः एक कुशल कहानीकार अपने विचारों के लिए कल्पित पात्रों की रचना करता है तथा संवादों में उसे प्रस्तुत कर सजीव बनाता है।

5.3.1 मार्कण्डेय की कहानियों में संवाद

मार्कण्डेय ऐसे कहानीकार हैं जो संवादों की स्थिति उत्पन्न कर ही लेते हैं क्योंकि एक सचेत कहानीकार जानता है, कि संवाद किसी पात्र की भाव–संवेदनाओं को सीधे पाठक की भाव–संवेदनाओं से जोड़ देते हैं। नाटक में जिसे रस–दशा कहा गया है। यहीं साधारणीकरण है। मार्कण्डेय के पास यह कला खूब निखरे रूप में है। संवादों के लिए जरूरी होता है किसी भी समाज में मानव की सही–सही स्थिति का ज्ञान। यह अनुभव–सम्पन्नता के अतिरिक्त ऐतिहासिक ज्ञान की भी अपेक्षा रखता है। अर्थात मनुष्य का स्वाभाविक गुण–दोष। मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिक्रिया, मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा–आकांक्षा आदि। मार्कण्डेय, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, एक

वस्तुवादी एवं ऐतिहासिक दृष्टि–सम्पन्न लेखक हैं। उनके संवादों में यह प्रभाव झलकता है।

"यह का अनरथ करती हो, भगेलू की माँ? अगर कोई अड़ोस–पड़ोस का देख लेगा तो आग लग जाएगी सारे गाँव में! एक तो वैसे ही गाँव में रहना मुहाल है, दूसरे लोग यही कहेंगे कि चमार–सियार की जात भले घर के लड़कों को अपनी रोटी खिलाकर भंडासराध कर रहा है!"

(घुन)

एक पुरूष जितना सामाजिक आचार–विचार के प्रति सचेत रहता है, उतनी एक स्त्री मातृत्व–भावों एवं विचारों से लेकिन वही पुरूष अगर समाज–व्यवस्था से खारिज वर्ग से है तो सामाजिक प्रतिबन्धों का दबाव उसके लिए दोहरा हो जाता है। नाथू के संवाद यहीं दिखाते हैं। भगेलू की माँ मातृत्व के कोमल भावों से चालित है अतः वह इन प्रतिबन्धों से छूट ले लेती है :

"बड़े कसाई हो जी, बच्ची के हाथ से रोटी छीनकर फेंक दी! तुम्हार करेज है कि पत्थर?"

(घुन)

नाथू दाना–पानी करता है। जी शान्त होता है तो उसे अपनी बात पर पश्चाताप होता है। बच्चों के लिए किसका दिल पत्थर का होगा? नाथू कुछ इस ढंग से प्रायश्चित करता है :

"क्या लड़की रोटी माँगने आयी थी?"

घरेलू स्त्री की चतुरता देखिए :

"और नहीं तो क्या मैं उसे नेवता देने गयी थी?..."

(घुन)

और फिर उसे तो मिल गया मौका, लेकर बैठ गयी पुरान, जोखू महाजन का, उसकी बीवी का, बच्चों का। सामान्य ढंग से चलती बात पुनः टेढ़ी हो जाती है :

"तभी तो यह हालत है! पुन्य चारों ओर झूल रहा है! न लड़िका, न बच्चा!....'

"और जोखू महाजन तो माल–पुए उड़ाता है, क्यों?" (घुन)

एक पुरूष दया–करूणा प्रदर्शित करने के मामले में हिसाबी होता है लेकिन स्त्री के लिए हिसाब–किताब जरूरी नहीं है। सामने वाला चाहे जिस प्रवृत्ति का हो अगर वह संकट में है तो वह द्रवित हो ही जाता है। घुन में अपनी संवाद–योजना के द्वारा मार्कण्डेय ने प्रत्येक सामान्य गृहस्थ का चित्र प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इतना ही नहीं संवादों से महाजन–वृत्ति को भी वे उभार देते हैं।

"जीव–परान की बात न करो नाथू।" फिर कान के पास मुँह ले जाकर कहने लगा, "एक बात कहूँ, तुमसे।"

"कहो–कहो महाजन।"

"नहीं– नहीं, अभी रहने दो, फिर बताऊँगा।" (घुन)

एक बनिया हमेशा सशंकित रहता है। इन संवादों में उसका यह चरित्र बखूबी उभरता है। और यही एक लेखक की सफलता भी है।

मार्कण्डेय की कहानियों के संवादों की एक और खासियत है कि उससे वर्गीय चरित्रों का उद्‌घाटन होता है। उनकी बहुत सी कहानियाँ इस ढंग की हैं। 'मधुपुर के सीवान का एक कोना', 'दाना–भूसा', 'दौने की पत्तियाँ, 'बादलों का टुकड़ा' आदि में इस कला का परिचय मिलता है।

मार्कण्डेय सुखद पहलू का कोई भी कतरा उठाने से नहीं चूकते और बात स्त्री–पुरूष सम्बन्धों के बीच की हो तो ढूढ़ना पड़ता है उन क्षणों को। लेकिन मार्कण्डेय ढूढ़ लेते हैं रिश्तों की गर्माहट को, जो जीने का राग उत्पन्न करती है। उनके संवाद इन क्षणों को जीवन्त कर देते हैं।

".......अरे रूको, देखो, वह क्या है?"

"कहां?"

"रूको तो! अरे, यह तो वही तिल है!"

"हटो भी, खिड़की खुली है!" (दूध और दवा)

रिश्तों की यह गर्मी सिर्फ यहीं नहीं है बल्कि वह अन्यत्र भी है, बच्चों के पास!

"पापा! उतालो इछे! देखो यह छत चुला लही है मेला गुब्बाला, तुम्हीं ने छिखाया है!"

"मैं कैसे पहुँचूँ इतनी ऊचाई तक?"

"अच्छा, मुझे कंधे पल उठाओ!" (दूध और दवा)

इस पर रघुवीर सहाय की एक कविता याद आती है:

आज एक छोटी सी बच्ची आयी, किलक मेरे कंधे चढ़ी
आज मैंने आदि से अंत तक एक पूरा गान किया
आज फिर जीवन शुरू हुआ।

मार्कण्डेय ने अपने लेखकीय विचारों को संवादों के माध्यम से प्रस्तुत करने की कला का निखरा हुआ रूप 'बीच के लोग' कहानी में प्रयुक्त किया है। जो परिस्थितियों और कथानक में घुल–मिलकर स्वाभाविक एवं वास्तविक हो गया है।

'आय नहीं गवा, ले आया गया। मनरा बकायदे लाल झण्डा–पाल्टी का मिम्बर है। तुम कहाँ हो फउदी दादा।'

'तो इमसें कौन बुराई है, भाई, जो तुम इतना पिड़ पिड़ाय रहे हो।'

(बीच के लोग)

फउदी दादा एक मंजे हुए खिलाड़ी हैं, वैसे ही नहीं गाँव के सर्वमान्य बुजुर्ग बने हैं। उनके चरित्र को यह संवाद और स्पष्ट कर देता है।

'.....जब बुझावन वोट लड़िके देश के परधान मंत्री बन सकते हैं तो इतनी बहस काहे की। बेफजूल मुँह दुखौवल करने का फायदा। चाहे वह लाल झंडा हो, चाहे पीला झण्डा, सबके चुनाव लड़े का अधिकार है। हम तो इतना जानते हैं कि कानून के माफिक सब चलैं–अपने देश के कानून के माफिक'

इसी तरह मनरा का चरित्र:

'मैं अपनी जमीन पर हल चला रहा हूँ मनरा किंचित गंभीर किन्तु उद्दण्ड होकर बोला। उधर से हरिदयाल ने ललकारा, 'अभी बिनास हो जाएगा बुझावन, मैं सबकी लाश उठवा दूँगा, टड़िया से।'

(बीच के लोग)

इस संवाद में हरिदयाल के बात–वीर होन का भाव छिपा है। मनरा के चरित्र का अन्तिम सोपान इस संवाद से होता है–

......दुनिया को जस–का–तस बनाये रहने वाले लोग अगर हमारा साथ नहीं दे सकते तो बीच से हट जाएँ,... (बीच के लोग)

इस तरह संवादों के द्वारा लेखकीय मन्तव्यों की भी अभिव्यक्ति मार्कण्डेय की कहानियों में स्वाभाविक रूप में हुई है।

5.3.2 शिव प्रसाद की कहानियों में संवाद

शिव प्रसाद सिंह के यहाँ संवाद–शैली का कोई मँजा हुआ रूप उभर कर सामने नहीं आ पाया है। बहुत जगहों पर कृत्रिमता की झलक मिलती है, तो कुछ जगह संवाद ड्रामाई हो गये हैं:

"क्यों धर्मू भाई आपकी क्या राय है?"

"आप बोलते क्यों नहीं, क्या ज्ञानू पण्डित की राय से आपको इत्तफाक है?" (किसकी पाँखें)

कहीं–कहीं चमत्कार उत्पन्न करने की कोशिश भी संवादों को फालतू बना देती है।

"क्या हुआ?" उन्होंने इशारे से पूछा।

"ठेस लग गयी," मैंने धीरे से कह दिया। फिर कोई कुछ न बोला।

(किसकी पाँखें)

लेकिन जहाँ–जहाँ शिव प्रसाद सिंह ने चरित्रों में रमने की कोशिश की है, वहाँ संवाद सहज भी बने हैं, स्वाभाविक भी तथा चरित्रों को उभारने में भी सफल हैं :

"हूँ" टेंगरी सिंह चौचक उठकर खड़े हो गये–"आव रे दिनवा। चलो जी मनकू–" और उन्होंने मुड़कर यह भी नहीं देखा कि जुलूस उनके पीछे आ रहा है या नहीं। कुछ दूर गली में जाकर वे रूक गये। दिनवा ढुलकते हुए आकर उनके साथ हो लिया।

"डाकिया ठीक कहता था," टेंगरी सिंह दिनवा की आँखों में झाँकते हुए बोले–" बिलकुल डौन है चेहरा। लड़ाई है, कोई खेल नहीं। कितने लोगों की नानी मरने लगती हैं।"

(एक वापसी और)

लेकिन इसका पालन सर्वत्र नहीं हो पाया है। इसका कारण है कि वे सभी चरित्रों को समान रूप से अपनी संवेदनाएँ नहीं दे पाते जिससे उनके संवाद प्रभावशाली नहीं हो पाते फिर संवाद–शैली का सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग नन्हों कहानी में हुआ है।

"अपने की चिट्ठी कहाँ से आएगी मुंशी जी, पता–ठिकाना ठीक से उचार लो, भूल चूक हो गयी होयगी!"

"नहीं जी, कलकत्ते से किसी रामसुभग साहू ने भेजी है, पता ठीकाना में कोई गलती नहीं"

"रामसु"........ .... "अपने की ही है मुंशी जी......" (नन्हों)

इस कहानी के संवाद चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्वों को भी बखूबी सामने रखते हैं:

"क्यों बाबू, मन नहीं लग रहा है?"

"मन तो लग रहा है .....पर......."

"अच्छा ठीक है।"

जब प्रेम में पड़े दो चरित्र आमने–सामने हों और दोनों के अन्दर एक नैतिकता की दीवार हो, एक संकोच हो, अनिश्चितता हो तो स्वाभाविक रूप से एक गम्भीर परिवेश निर्मित हो जाता है और बात अगर वयस्क प्रेम की हो.... ऐसे में छोटे–छोटे संवादों की योजना किसी भी कहानी को यथार्थ के करीब पहुँचाती है।

प्रेम के मामले में शिव प्रसाद सिंह की संवाद शैली अपनी क्षमता का परिचय देती है। 'कर्मनाशा की हार' में भी उसका प्रभाव दिखा है। उसके भावों–अनुभावों की अभिव्यक्ति इन संवादों में होती है।

"मुखिया जी की महफिल में पतुरिया ने जो गीत गाया, कितना सही था!"

"कौन सा गीत?"

"ये दोनों नैना बड़े बेदरदी..."

"धत!" (कर्मनाशा की हार)

"क्यों नीरू, यहाँ अकेले तुम्हें बुरा नहीं लगता?"

"बुरा क्यों लगे, हम कोई बेघर–बार के थोड़े हैं।"

पर जानती हो, अब्बा कहते हैं, घर बनाना, कंजड़ के लिए मौत से भी बुरा है।"

"होगा, पर मैं तो जंगल–जंगल घूमने से रही।"

"अच्छा, यह तो कहो, कब तक चलने का इरादा है?"

"मैं बोलू," नीरू मुस्करायी, "बाबा से पूछो!"

प्रेम में संकोच, हया, लाज–शरम जैसे अनुभावों को संवादों के द्वारा उभारना अनुभूति की प्रमाणिकता के साथ–साथ अभ्यास की माँग करता है। इस क्षेत्र में शिव प्रसाद सिंह खूब रमें हैं और यह उनकी अन्तुर्मुखता को ही पुष्ट करता है। ऐसी दक्षता वे

अन्यत्र नहीं दिखा पाए हैं। जीवन में प्रेम के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ होता है और अन्तर्मुखता उससे बचती है। यहीं कारण है कि प्रेम के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों को, जीवन की बहुरंगता को, जटिलता को उभारने में उनके संवाद असफल हैं। वे कृत्रिम तथा ड्रामाई हो गये हैं। जीवन का सौन्दर्य उभारने का प्रयास उनमें नहीं है। मुरदासरायों में सौन्दर्य ढूढ़ने वालों से इसकी आशा भी नहीं की जा सकती।

5.4 परिवेश–विधान

कथानक एवं चरित्रों को सजीवता प्रदान करने में परिवेश की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। परिवेश ही पाठक को आभास दिलाता है कि कहानी में जो कुछ घट रहा है, उसके आस–पास का ही घटा हुआ है। आदमी अकेले इस सृष्टि में नही आया बल्कि उसके साथ वन–उपवन, जंगल–खेत, नदी–पर्वत, पशु–पक्षी भी आए और आदमी ने इन सबसे अपना रिश्ता जोड़ा। यह रिश्ता ही मिलकर व्यापक परिवेश का निर्माण करता है। एक लेखक की गहरी दिलचस्पी इसमें होनी चाहिए तभी वह अधिक यथार्थ रचनाएँ कर सकता है।

5.4.1 मार्कण्डेय

कृषि संस्कृति में फसलें तो महत्वपूर्ण हैं ही लेकिन उसके साथ–साथ पक्षी, जानवर आदि भी इस संस्कृति की पहचान हैं। आदमी के साथ–साथ उनका भी गहरा रिश्ता इस संस्कृति से होता है। मार्कण्डेय ने इसका बहुत ख्याल रखा है। कहानी, आदमी के जीवन–संघर्षों से जुड़ी होती है, उसकी संवेदनाओं से जुड़ी होती है अतः आदमी से जुड़ी हर चीज मिलकर उस कहानी को आगे बढ़ाते हैं, एक यथार्थ परिवेश के निर्माण में योग देते हैं।

'उस दिन दालान में कोई नहीं था। शाम का वक्त था। बाबा की चारपाई के पास बोरसी में गोहरी सुलग रही थी। जानवर मन मारे अपनी नाँदों में मुँह गाड़े थे। रिम–झिम पानी बरस रहा था। कलुआ पाँवों से पोली जमीन खोदकर, मुकुड़ी मारे पड़ा था। बीच–बीच में जब कुटकियाँ काटतीं, तो वह कूँ..कूँ...ऽ करके, पाँवों से गर्दन खुजाने लगता।

(हंसा जाई अकेला)

'फउदी ने कउड़े के पास एक मोड़े पर बैठते–बैठते उस कुत्ते को एक लात मारी जो जाडे से सिकुड़ा हुआ वहीं बैठा था। कुत्ता पेंअ्–पेंअ्अ् करता भागा।'

(बीच के लोग)

घेंचू कंडे की आग को अभी मुँह से धधका ही रहा था कि बाबा जोर से खाँस कर चिल्ला पड़े "बम बोले!" आवाज दूर–दूर तक आसमान को छूकर झर पड़ी। पास की बस्ती में कुत्ते झाँव–झाँव आँवऽ.. करके एक स्वर से रोने लगे और चिक–चिच किर्र्र... .. की आवाज करता हुआ चिड़ियों का एक झुण्ड झरबेरी में हुर्र्र से उड़ा और फिर लौटकर वहीं आ बैठा।

(शव–साधना)

मार्कण्डेय की दृष्टि साफ है। वे कहानी कला की बारीकियों से भी परिचित हैं। 'शव–साधना'कहानी में झबरा बिना किसी भूमिका के भी कहानी का अभिन्नहिस्सा बन जाता है तो इसी क्षमता के चलते।

'घेंचू जैसे मिनका ही नहीं और झबरा आँखें मुलमुलाकर रह गया। बाबा ने चिमटे को ऊपर ताना और कसकर झबरा की पीठ पर मारा। उधर कुत्ता पेंऽ...पेंऽ करता भागा और इधर बाबा पद्मासन लगाकर अकड़ गये।'

(शव–साधना)

'प्रायः ऐसा ही होता है। बाबा बोलते–बोलते चुप हो जाते हैं। और धीरे–धीरे झरबेरी का वह अद्भुत निकुंज सूना हो जाता है। बस, सड़सी के दाग से पीठ पर लाल–लाल, लम्बी पट्टी की तरह का घाव लिए झबरा और हाथों में साधू की धूनी का प्रसाद संभाले घेंचू....'

(शव–साधना)

'सूरज की रोशनी झरबेरी की छत पर पसरी हुई थी और कहीं–कहीं सूरज की किरणें निकुंज्ज को बेध रही थीं। झबरा अपनी दोनों टांगों पर गरदन फैलाए बाबा का मुँह ताक रहा था। घेंचू की दृष्टि रह–रहकर उसकी पीठ के उचरे हुए चमड़े पर टिक जाती थी ...'

(शव–साधना)

कहानी के परिवेश के प्रति इस तरह की सजगता उन्हें कहानी साहित्य के समूचे इतिहास के कुशल कहानीकारों की अगली जमात में बैठा देती है। कुत्ते ही नहीं बिल्लियाँ भी कृषि संस्कृति की अभिन्न अंग होती हैं। मार्कण्डेय की नजर से उनकी कोई भी गतिविधि बच जाय, सम्भव नहीं। इतना ही नहीं कौवे भी इसमें शामिल हैं, लोमड़ी, गौरैया, बकरी, घरेलू मक्खियाँ सभी मिलकर मार्कण्डेय की कहानियों का "आस–पास" निर्मित करते हैं।

'बीरू बिना बोले एकाएक उठा तो सामने की खुरदरी मुडेर पर सोन्हाने के लिए रखी खाभी हाथ से टकराकर फर्श पर गिरी और पक्क से फूट गयी। छाजन पर आँख गड़ाए बैठा कौआ काँव–काँव करके उड़ा और चारपाई के नीचे गुड़मुड़ाई बिल्ली उठ खड़ी हुई। फिर आगे पीछे के पाँव को फैलाकर देह तोड़ती हुई धीरे–धीरे दूध के घर की ओर जाने लगी। बीरू ने जीने के पास ठिठककर उसकी ओर देखा और वहीं से कड़क कर बोला, "कहाँ?" बिल्ली को जैसे बिजली की करेण्ट छू गयी हो। जान लेकर छत की ओर भागी.... ' (माई)

'भूरी बिल्ली उसी खटोले के नीचे सिकुड़ी बैठी है और कौवा बार–बार खपरैल के कलश पर अपनी चोंच पैनीकर रहा है।' (माई)

मार्कण्डेय ऐसा कर सके हैं, तो उसके पीछे उनकी बर्हिमुखता तथा वस्तुनिष्ठता है। उनकी परिवेश के प्रति सजगता और सर्तकता है। 'जाने कैसे राम जतन इतना सब एक साँस में कह गया पर उसी समय एक लोमड़ी खुर–खुर कर सत्ती चौरे से निकली और पल भर को उसके मुँह की ओर देखकर बायें से रास्ता काटती हुई निकल गयी...' (भूदान)

वे अकाल के समय भी इन परिस्थितियों को नजर में रखते हैं, उनमें बदलाव को पकड़ते हैं।

'बूढ़ी बिल्ली जिसके पेट–पीठ सटकर एक हो रहे हैं, पूँछ नीचे किए इधर–उधर रोते हुए घूम रही थी। गौरेयों का झुंड.... जाने किस देश चला गया। दो दिन से एक नन्हीं–सी गौरैया का बच्चा आँगन में उतर चूँ–चूँ करता और उड़ जाता था, पर आज वह भी कहीं दिखाई नहीं पड़ता। कहीं–कहीं मक्खियाँ दिखाई पड़ती थीं, फिर उड़कर ऐसा लोप हो जाती थीं जैसे उनके बैठने लायक यहाँ कुछ है ही नहीं और बखरी के

कोने में बँधी बकरी आम की कई दिनों की बासी कउचियों को कूचने का प्रयास करके थक जाने पर मेंऽऽ करके एक अजीब स्वर में मिमियाती और फिर चुप होकर टहनियों के टुनगों के मुरझाए छिलके को कूँचने लगती।' (दाना–भूसा)

'बंसन धू–धू कर जलते हुए सिवान को एक नजर देख कर अपनी नन्हीं चौपाल की ओर मुड़ गया, जिसमें एक ओर उसका बूढ़ा बैल और दूसरी ओर दान में पायी हुई बछिया बँधी हाँफ रही थी।' (दाना–भूसा)

कृषि–संस्कृति में पशु–पक्षी भी उतने ही मानवीय हिस्से होते हैं एवं रिश्तों से जुड़े होते हैं जितने की मनुष्य–मनुष्य के बीच के रिश्ते। गाँवों पर लिखने वाला कोई भी कहानीकार इसको अनदेखा करके नहीं चल सकता। मार्कण्डेय सच्चे अर्थो में ग्राम–कथाकारों में प्रेमचन्द्र की परम्परा का बढ़ाव प्रस्तुत करते कहानीकार हैं।

मार्कण्डेय राजनीतिक चेतना से युक्त कहानीकार है। 'हंसा जाई अकेला,' 'दूध और दवा', 'आदर्श कुक्कुट गृह', 'बीच के लोग', 'आदमी की दुम', 'नौ सौ रूपये और एक ऊँट दाना' तथा भूमि सम्बन्धी कहानियाँ उनकी इसी चेतना को दिखाती हैं। अतः कहानियों की पृष्ठभूमि में रह कर राजनीतिक घटनाएँ जिस परिवेश का निर्माण करती हैं, उसी को लेकर मार्कण्डेय आगे बढ़ते हैं।

'कँगरेस तुम्हारे राज के लिए लड़ती है। बेदखली बंद होगी, छूआ–छूत बंद होगा। जनता का राज होगा।...'

(हंसा जाई अकेला)

"भाइयो! राम राजा था। देखो, छोटी जात का कोई भी राम नहीं बनने पाता है। राक्षस सब बनते हैं।...." (हंसा जाई अकेला)

इस वाक्य को लिखने के लिए ऐतिहासिक दृष्टि का साफ होना पहली और अनिवार्य शर्त है, जो कि मार्कण्डेय के यहाँ मिलता है। रामायण–पुराण कथाओं की पूरी परम्परा तथा स्वतंन्त्रता के समय का पूरा राजनीतिक परिदृश्य मिलकर इस कहानी का परिवेश निर्मित करते हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि सम्पन्न राजनीतिक चेतना से ही सम्पन्न हो सकता था। मार्कण्डेय ने इसे साधकर हमारी यथार्थवादी परम्परा को और अधिक पुष्ट किया है। उसे मजबूत बनाया है।

'.....मियायिन भी कहती थीं कि जमाना फेर खाय गया है। जब हम सबकी पूँछ–पछोर होने लगी, तो जानो कुछ होकर ही रहेगा।'' (आदर्श कुक्कुटगृह)

'इधर प्रथम पंचवर्षीय योजना का समय समाप्त हो रहा है। दस लाख रूपये का काम बाकी रह गया है। काम नहीं हुआ तो रूपये डूब जाएँगे। योजना तो जनता के हित के लिए बनायी गयी है न!' (दौने की पत्तियाँ)

''.....ले लो मजा इस साल और, मालिक कह रहे थे, माइनर के लिए आज ही दरखास भिजवाता हूँ। रोज–रोज का यह झगड़ा कौन सहेगा। अब मधुपुर में भी नहर आ जाएगी, बचन भइया!''

(मधुपुर के सीवान का एक कोना)

'महीने भर से गाँव की सीमा में से नहर बन रही थी, पर जब तिवारी जी के बारह बिगहवा चक के ठीक कोने पर फीता गिर गया, तब सारा काम जहाँ–का–तहाँ धरा रह गया.!.....

(दौने की पत्तियाँ)

'जब बुझावन वोट लड़िके देश के परधान मंत्री बन सकते हैं तो इतनी बहस काहे की।...

(बीच के लोग)

राजनीतिक चेतना के साथ–साथ लेखक की सामाजिक चेतना भी उसी से जुड़ी हुई चलती है।

'..... किसी बंगले के फटे, पुराने पर्दे... मुल्क में बदअमनी और भूख.... वे मित्र जिन्हें नौकरी के लिए पत्र लिखे हैं। ...' (दूध और दवा)

'मैं खुद अपने आगे खड़ा हूँ, मान्यताओं की सलीब पर टंगा हुआ, लहूलुहान!...पत्थर का एक बहुत बड़ा ढेर है और लोग आँखें मूंद कर पत्थर मारते हैं..... लोग फूल चढ़ा रहे हैं मान्यताओं पर...' (दूध और दवा)

'मैं धीरे–धीरे चल रहा हूँ। चारों ओर कब्रिस्तान है। सड़क के नीचे, और ऊपर की हवा तक में बातों के टूटे–फूटे अस्थि–पंजर उभर आए हैं।' (दूध और दवा)

इस मुल्क में आजादी के बाद के राजनीतिक नारों, आशाओं, आशंकाओं के बीच मध्यवर्ग अपनी पूरी विडम्बनाओं और विसंगतियों के साथ कहानी का परिवेश निर्मित

करता है। 'दूध और दवा' अपनी इन्हीं विशेषताओं के साथ नई कहानी को पहचान दिलाती तथा उसे मजबूत बनाती, सम्पन्न करती कहानी है।

5.4.2. शिव प्रसाद

शिव प्रसाद सिंह के कहानियों की प्रकृति अन्तर्मुखी अधिक है जिसका प्रभाव उनकी कहानियों के परिवेश पर भी पड़ता है। मार्कण्डेय जैसी वस्तुनिष्ठता तथा ऐतिहासिक दृष्टि–सम्पन्नता उनके पास नहीं और, न ही परिवेश को लेकर मार्कण्डेय जैसी सजगता और सतर्कता। शिव प्रसाद सिंह राजनीतिक सच्चाइयों से आँख चुराते कहानीकार हैं और इसीलिए उनकी कोई भी कहानी सामाजिक उद्देश्यों के तहत व्यापक परिवेश निर्मित करने में असफल है। क्योंकि, राजनीतिक, आर्थिक–सामाजिक शक्तियों को प्रतिविम्बित करती है और उससे बचकर चलने वाला लेखक परिवेश के रूप में अन्धेकुओं, कन्दराओं, टूटी–फूटी तश्वीरों और मुरदासरायों के अतिरिक्त कुछ नहीं रच सकता।

शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में परिवेश फुटकल रूप में मिलता है। बिखरा हुआ अर्थात वह कथानक के विकास में योग न देकर कटा हुआ चलता है। कथानक का हिस्सा न होकर स्वतन्त्र रूप से आता है। और इसका सबसे बड़ा कारण है कहानियों का अन्तर्मुखी चरित्र। कृषि संस्कृति की जो खासियत होती है अर्थात प्रकृति के साथ मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध, उसका कोई वस्तुनिष्ठ रूप परिवेश के अन्तर्गत नहीं उभरता। कृषि संस्कृति में पशु भी परानी के अन्तर्गत आते हैं, उन्हें परिवार का हिस्सा माना जाता है। मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध उनसे जुड़ा रहता है। ग्रामीण संस्कृति में मनुष्य की हर गतिविधि से वे जुड़े होते हैं। शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में उसका जो रूप कुछ हद तक 'आर–पार की माला' में उभरता है, उसका विकास अन्य कहानियों में नहीं हुआ है। सामाजिक परिवेश भी जो, उनकी कहानियों में उभरता है, वह आत्मगत अधिक है।'हत्या और आत्महत्या के बीच', 'अन्धकूप', 'केवड़े का फूल', 'अरुन्धती', 'संपेरा', 'पापजीवी', जैसी कई कहानियों में परिवेश स्वाभाविक न होकर बनावटी हो गया है। वह मूल कथ्य से अलग–थलग पड़ जाता है।

5.5. शिल्प का अन्तर

जैसा कि हम देख आए हैं, शिव प्रसाद सिंह और मार्कण्डेय के बीच दृष्टियों का अन्तर है। यह अन्तर कहानी में भी होना स्वाभाविक है। कहानी की शैली जहाँ शिव प्रसाद सिंह के यहाँ रेखाचित्रात्मक, संस्मरणात्मक, रिपोर्ताज शैली में अधिक है वहीं मार्कण्डेय के यहाँ लोककथात्मक शैली का अधिक पालन हुआ है। मार्कण्डेय की कहानियाँ कहने–सुनने की हमारी जातीय परम्परा में पड़ती है, जबकि जातीयता का नारा बुलन्द करने वाले शिवप्रसाद सिंह उससे कोसों दूर रहते हैं। वे कहानियाँ सोचते हैं।

मार्कण्डेय की कहानियाँ वस्तुगत रूप शैली में पड़ती हैं तो शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ आत्मगत रूप शैली में। मार्कण्डेय की कहानियाँ प्रकृति में बर्हिमुखी है। शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ प्रकृति में अन्तर्मुखी हैं। अर्थात, कहानियों का नेचर, स्वभाव मार्कण्डेय के यहाँ बर्हिमुखी है जबकि शिव प्रसाद सिंह के यहाँ अन्तुर्मुखी।

मार्कण्डेय की कहानियों के चरित्र संवादों के माध्यम से अधिक उभरते हैं। उनके कुछ पात्र तो अपने संवाद के चलते अविस्मरणीय हो गये हैं। "कवन हैरे सरपत काट रहा" (गुलरा के बाबा) तथा मंगी का संवाद "ठाकुर मेरा घर नाश कर रहे हो" (कल्यानमन) एक कहानीकार की क्षमता को दिखाता है। उसकी गहराई को दिखाता है यहीं नहीं बातचीत की जो शैली 'बीच के लोग', 'हंसा जाई अकेला', 'आदर्श कुक्कुट गृह', 'मधुपुर के सीवान का एक कोना', में उभरी है वह शिव प्रसाद सिंह के यहाँ बिलकुल नदारद है। वह स्वाभाविकता, वह सहजता शिव प्रसाद सिंह के यहाँ नहीं मिलती है।

इस अध्याय के सम्पन्न होने में सहायक

पुस्तकें

1. 'उपन्यास के पक्ष' (Aspects of novel)– ई. एम. फॉर्स्टर, अनुवाद–श्रीमती राजुल भार्गव
2. 'उपन्यास–लेखन शिल्प' (The crapt of novel writing)–ए.एस. ब्युरैक(सं.) अनुवाद– राममित्र चतुर्वेदी, रमेश चन्द्र शुक्ल
3. `The theory of the novel' new essays-edited by John Halperin
4. `Modern fiction studies` (volume 5) special number on D.H. Lawrance
5. `The rhetoric of fiction` by Wayne C. Booth
6. `Speech in the English Novel`-Norman Page
7. 'सृजन प्रक्रिया और शिल्प के बारे में'–मक्सिम गोर्की
8. 'चुनी हुई कहानियाँ'–मक्सिम गोर्की, खण्ड–एक
9. 'चुनी हुई कहानियाँ'–मक्सिम गोर्की, खण्ड–दो
10. 'चुनी हुई कहानियाँ'–अन्तोन चेखव, खण्ड–एक
11. 'पांच कहानियाँ'–अलेक्सान्द्र पुश्किन
12. 'कुछ विचार'–प्रेम चन्द
13. 'कहानीः नई कहानी'–नामवर सिंह
14. 'शिव प्रसाद सिंह का कथा–साहित्य'–डा0 सत्यदेव त्रिपाठी
15. 'साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद'– कुँवरपाल सिंह (सं.)
16. 'कहानी की वर्णमाला'– राजेन्द्र अरूण (सं.)
17. 'शिव प्रसाद सिंह की सम्पूर्ण कहानियाँ'–1 (अन्धकूप)
18. 'शिव प्रसाद सिंह की सम्पूण कहानियाँ'–2 (एक यात्रा सतह के नीचे)
19. 'शिव प्रसाद सिंह की सम्पूर्ण कहानियाँ–3 (अमृता)
20. 'मार्कण्डेय की कहानियाँ' (सम्पूर्ण खण्ड में)

21. 'कहानी की बात'—मार्कण्डेय

22. 'कथा विवेचना और गद्यशिल्प'—राम विलास शर्मा

23. 'नई कहानीः सन्दर्भ और प्रकृति'—डा० देवीशंकर अवस्थी (सं.)

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख

1. 'कहानी के बारे में'—एस. अन्तनोफ (उत्तर प्रदेश)
2. 'मेरे पात्र' (श्रृँखला)—राष्ट्रीय सहारा (मन्थन)

1. अखिलेश
2. रामधारी सिंह दिवाकर
3. नमिता सिंह
4. नासिरा शर्मा
5. सूरज प्रकाश
6. कमेन्दु शिशिर
7. गिरिराज किशोर
8. धीरेन्द्र अस्थाना

कहानीकारों से बातचीत

1. अमरकान्त
2. मार्कण्डेय
3. काशी नाथ सिंह

❑ ❑ ❑

अध्याय - 6
भाषा

भाषा

किसी भी सभ्यता की पहचान उसकी भाषा से होती है। कोई भी सभ्यता, कोई भी परम्परा, कोई भी कला नष्ट होने के पश्चात भाषा में ही सुरक्षित रहती है और अपनी कहानी कहती है। इसीलिए भाषा मात्र लिपि नहीं, चिन्ह नहीं, बल्कि किसी भी संस्कृति की समूची अभिव्यक्ति होती है। भाषा भौतिक परिवर्तनों की सूचक भी होती है। मौजूदा समय में भाषा संक्रमण के दौर में है। हाइटेक जीवन, आर्थिक उदारीकरण का दौर, भूमण्डलीकरण का माहौल भाषा को सूचनात्मक बना रहा है और संवेदना उससे बाहर होती जा रही है। ऐसे में साहित्य ही ऐसी जगह है जहाँ भाषा की उस संवेदना को बचाने का संघर्ष चलता है। और, कथा–साहित्य इसमें सबसे आगे रहता है।

1950 के बाद कथा–साहित्य में कहानियों के साथ बेतहासा प्रयोग हुए, नतीजा यह रहा कि कहानी, कहानीपन से दूर होती गयी। उसका लोक कथात्मक रूप पीछे पड़ता गया। संस्मरण शैली, आत्मकथा शैली, रिपोर्ताज शैली जैसे प्रयोगों ने कहानी की संवाद शैली को प्रभावित किया। इससे भाषा का संवेदनात्मक स्वरूप भी प्रभावित हुआ क्योंकि संवादों में मनुष्य अपनी पूरी विशेषता के साथ उतरता है। अपनी भावसम्पदा के साथ उतरता है। भाषा का निजी स्वरूप इसी से उभरता है।

मार्कण्डेय की कहानियों में भाषा का सांस्कृतिक रूप अधिक सुरक्षित है जो एक सुखद अनुभूति की तरह आता है। मार्कण्डेय के संवादों की भाषा आम बोलचाल के शब्दों को लेकर आगे बढ़ती है फिर भी आंचलिकता का आग्रह उसमें नहीं रहता। वह बड़ी सहजता के साथ कहानी के चरित्रों एवं उनके परिवेश को उभारकर सामने रख देती है। जबकि, शिव प्रसाद सिंह भाषा के साथ प्रयोग करते दिखते हैं तथा संस्मरण एवं आत्मकथा तथा रिपोर्ताज शैली जैसे प्रयोगों के कारण उनकी कहानियों में संवादों का वह रूप नहीं आ पाया है जो कि भाषा का निजी रूप, सांस्कृतिक रूप प्रस्तुत कर पाता। भाषा को लेकर उनके यहाँ सहजता और स्वाभाविकता कम मात्रा में हैं। भाषा की संवेदना को लेकर सतर्कता उनमें कम है।

6.1. संवादों की भाषा

जैसा कि, नार्मन पेज संवादों के बारे में लिखता है, It can serve to further plot, to develop character, to describe setting or atmosphere, to present a moral argument or a discussion on cabbages or kings, or to perform any combination of these purposes.[1]

(speech in the English Novel, page 51)

जाहिर है, संवादों की इन विशेषताओं को सामने लाने में भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण है।

दोनों कहानीकारों में भाषा का कौन सा मिजाज, कौन सा ढंग संवादों में उभरता है उसे कुछ उदाहरणों से सामने रखने में सहूलियत होगी।

चैतू बाबा को देखकर रुक गया।

"सलाम ठाकुर!"

"खुश रहो चैतू; लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो?"

"सरपत काट रहे हैं ठाकुर !"

"अच्छा कल से मत काटना !"

"ऐसे ही काटूँगा।" और चैतू लटककर हँसिया चलाने लगा।

"यह बात नहीं चैतू !" बाबा सागर की सी गहराई से कहते गये,

(गुलरा के बाबा)

यद्यपि कि मार्कण्डेय की प्रारम्भिक कहानियों में रूमानी भाषा का आधिक्य है लेकिन वस्तुगत भाषा–रूप उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। इस संवाद में कृषि संस्कृति का संक्रमित स्वरूप उभरता है। स्वतंन्त्रता से पहले ही कृषि–सभ्यता से पितृवत सम्बन्ध कमजोर पड़ने लगे थे तथा उनमें तनावों का सृजन होने लगा था। लेकिन बाबा उसी पितृवत सम्बन्धों पर टिके समाज के प्रतिनिधि हैं इसलिए उनमें जहाँ प्रजा–संरक्षक वाला रूप उभरता है। सलाम का जवाब वे शालीनता से देते हैं लेकिन वहीं उनका आहत सामन्ती अभिमान भी साथ चलता है 'लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो।' आगे 'दया और दण्ड' नीति का स्वरूप उभरता है 'मेरा गट्टा टेढ़ा कर दोगे, तो..... .....' के साथ।

दूसरी तरफ चैतू के संवाद "ऐसे ही काटूँगा" से एक लम्बी चुप्पी का, सहनशीलता का सब्र टूट जाता है। वह सदियों से चली आ रही अपरिवर्तित स्थिति के

प्रति विद्रोह कर उठता है। उसके संवाद में एक क्षोभ, एक गुस्सा तो है ही लेकिन एक जिद उसमें आ गयी है जो, कि यह आभास देता है कि वह परिणामों को लेकर या अपनी स्थिति को लेकर भयभीत भी है। भाषा का ऐसा सतर्क प्रयोग मार्कण्डेय की कहानियों की खास विशेषता है।

"कुआँ और पोखरा बाप–दादों की पुन्य की कमाई से बनते हैं। किसका करम इतना चोख है, भइया?" बचन बैल की पीठ पर नार फेंककर टिकोरी मारते हुए बोला।

बचन ने लौटकर बात का सूत्र फिर जोड़ा, "अब तो टूवबेल, नहर, जाने क्या–क्या बन रहे हैं ! मुदा बरक्कत नहीं किसान के घर। उत्तर के सीवान में नहर आ गयी, उधर जो दौरी–दवन की मजूरी–धतूरी थी, वह भी गयी!"

"तुम्हें तो बस अपना ही दिखायी पड़ता है, बचन भइया ! यह नहीं सोचते कि पानी की कितनी आसानी हो गयी।" नरेश ने दूसरी ओर से अपने बूढ़े बरधे की पीठ पर एक पैना मारते हुए कहा और नार पकड़कर पीछे घूम गया।

"हाँ भाई, ठीक ही तो कहते हो। हम सौ–पचास लोग बेकार हो गये तो का हुआ!" बचन ने नार खींचकर मोट डूबोते हुए कहा !

"अभी हर तो हमीं चलाएँगे, भइया!" नरेश ने बैलों को मोड़ते, घुमाते हुए दूर से उत्तर दिया।

"ठाकुर–बाम्हन, सब तो जोतने लगे। अब तो टक्टर आ रहा है, टक्टर तो चाहे तो एक दिन में सारे गाँव का खेत जोत–बो दे।"

(मधुपुर के सीवान का एक कोना)

कृषि सभ्यता में नई तकनीकों के प्रवेश के बाद की स्थितियों को इन संवादों ने जो भाषाई रूप दिया है उससे पूरा परिवेश ही सजीव एवं वास्तविक हो गया है। भाषा का प्रयोग इतना सधा हुआ है कि पुरानी पड़ती चीजों का नाम नहीं गिनाया गया है बल्कि वे संवादों में आकर उस सभ्यता की अंग बन जाती हैं। नार, मोट, हर, बैल अब भारत की कृषि सभ्यता के मुख्य अंग नहीं लेकिन स्वतन्त्रता के समय हमारी कृषि सभ्यता की अहम हिस्सेदार थीं ये चीजें।

बातचीत की भाषा ऐसी है कि उससे मनुष्य के जीवन की गति झलकती है। उसकी आस्था, उसका विश्वास, मिथकों की रचना, नयी तकनीकों को लेकर उसकी

आशाएँ–आशंकाएँ सभी कुछ प्रकट हो जाती हैं। कुआँ और पोखरा बाप–दादों की पुन्य की कमाई से बनते हैं, यह संस्कार कृषि व्यवस्था ने, उस पर निर्भरता ने पैदा किया है जो सदियों से उसके साथ चला आया है, उसका विश्वास बनकर, उसकी आस्था बनकर।

बचन पुराना है, उसके अन्दर नई चीजों को लेकर आशंकाएँ हैं, नरेश नया है, उसमें स्वीकार है लेकिन दोनों के अन्दर यह भाव भी है कि इन परिवर्तनों का उन पर कुछ खास असर होने वाला नहीं। नई चीजों को लेकर उनमें तरह–तरह की किंवदन्तियां बन जाती हैं उसका भाषाई रूप देखिए "टक्टर तो चाहे तो एक दिन में सारे गाँव का खेत जोत–बो दे।"

मार्कण्डेय के संवादों की भाषा मूर्तता में सौन्दर्य ढूंढ़ती है, वस्तुता में सौन्दर्य ढूंढ़ती है, भौतिकता में सौन्दर्य ढूंढ़ती है। जीवन जीने की गति में सौन्दर्य ढूढ़ती है। उनकी भाषा जीवन जीने की कला निर्मित करती है।

गम्भीर वातावरण में एक बच्ची का यह संवाद,. 'बुझावन बाबा, आलू नहीं लाए! कहा था न कि मेले खेत में पड़ गया है।' एक मीठा अहसास जगा जाता है। और दूसरी तरफ बुझावन को बाबा का सम्बोधन उस मानवीय रिश्ते की एक झलक देती है, जो इस देश की साझी संस्कृतियों ने विकसित किया है। यहाँ ऊँच–नीच का भेद नहीं। यह रिश्ता जीवन की जड़ से पैदा होता है, खुद–ब–खुद। रिश्तों का वह रूप आज लुप्त हो गया है जहाँ आदमी को दादा, बाबा, काका, चाचा, भइया–बाबू जैसे रिश्तों से जाना जाता था उसकी जात से नहीं। यह हमारी सामूहिक संस्कृति की एक दुर्लभ चीज है, जो भाषा के इन्हीं रूपों में सुरक्षित है। वह हमें अमानवीयता की हर जद से लड़ने की उर्जा देता रहेगा।

मार्कण्डेय की संवादों की भाषा, बातचीत के लहजे में प्रस्तुत होती है, उसके मूड्स को दिखाती है

'का–वा कुछ नहीं, ठाकुर! हम हैं बनियाँ, दो पैसे पर हरदम जान अटकी रहती है,..'

'सही बात, सही बात' हुड़गी ने उसे बीच में रोका, 'भासन शुरु न करो, भइया, नहीं तो कोई पाल्टी तुम्हें पकड़ लेगी और फिर बुझावन महतो की तरह तुम्हारे घर में भी गुपुत सभा होने लगेगी।'

'आय नहीं गवा, ले आया गया। मनरा बकायदे लाल झण्डा–पाल्टी का मिम्बर है। तुम कहाँ हो फउदी दादा!'

'तो इसमें कौन बुराई है, भाई, जो तुम इतना पिड़पिड़ाय रहे हो।'

(बीच के लोग)

बात से बात तो निकलती ही है, वहीं मनुष्य का वर्गीय चरित्र भी सामने आता है। भाषा का ऐसा प्रयोग शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में ढूढ़ने से भी नहीं मिलेगी। जहाँ कि बातचीत की विभिन्न मुद्राएँ उभरी हों। इसके अतिरिक्त व्यंग्यमयी भाषा का प्रयोग उल्लेखनीय है :

"कुक्कुर नहीं कुक्कुट.......कुक्कुट! कुक्कुट माने होता है, मुर्गा। यह हमारे देश की नयी भाषा है – हिन्दी, हमारी सबकी राष्ट्र भाषा।"

(आदर्श कुक्कुट–गृह)

यहाँ भी बातचीत में भाषा की क्षमता की पहचान मार्कण्डेय ने की है : 'मियाथिन भी कहती थीं कि जमाना फेर खाय गया है।'

(आदर्श कुक्कुट–गृह)

व्यंग्यमयी भाषा की बानगी इस कहानी की पहचान है।

'रमजान भी अपनी बॉस की छड़ी के सहारे टेघता हुआ आया और वहीं दूर खड़ा होकर इस साज–बाज के बीच अपने मुर्गे देखकर पुलकित होने लगा – चलो, जो साज–बाज जिनगी भर मुझे नहीं मिला, वह मेरे मुर्गों को तो मिल गया।'

(आदर्श कुक्कुट–गृह)

शिव प्रसाद सिंह के संवादों की भाषा सिर्फ प्रेम के मामलों में ही रमती दिखी है, जो हम पिछले अध्याय में देख आए हैं। इसके अलावा शिव प्रसाद सिंह के संवादों की भाषा पत्रकारी, आलोचकीय एवं प्रश्नोत्तरी की हो गयी है। कारण, उनकी कहानियों की प्रकृति का अन्तर्मुखी होना एवं आत्मगत शैली का प्रयोग

"क्यों, क्या बात हुई?"

"हुई क्या, अभी तो हो रही है!" (आँखें)

"सुना, आपने जगह बड़ी जोरदार पसन्द की है!"

"क्यों, मुझे तो कोई खास बात नजर नहीं आयी?" (आँखें)

भाषा में जहाँ चलताऊपन है वहीं वह कृत्रिम भी हो गयी है। शुष्कता एवं भावविहीनता उसकी पहचान बन गयी है।

"कहो, बिहारी, कहाँ रहे अब तक ?" मैंने पूछा। (बहाव–वृत्ति)

और इसके बाद बिहारी एक लम्बा संवाद प्रस्तुत करता है। शिव प्रसाद सिंह प्रश्नोत्तरी माला प्रस्तुत करते हैं इस कहानी में। ऐसे में भाषा किस अंजाम को पहुँच सकती थी?

"क्या हुआ इसे?"

"पागल हो गयी है, बाबू। दो दिन से यही हालत है। इसका लड़का था न, वो कल मर गया निमनिया से।"

(इन्हें भी इन्तजार है)

और शिव प्रसाद सिंह की कहानियों के संवादों की भाषा इसी तरह की ढेरों सूचनाएँ प्राप्त करती रहती है जिसमें 'मृत्यु' एक प्रमुख खबर होती है। उनकी अधिकांश कहानियाँ इससे भरी पड़ी हैं। वे कहानियाँ बहुत कम हैं जिनके संवादों की भाषा आम जिन्दगी की कोई तस्वीर पेश करती हो। 'एक यात्रा सतह के नीचे' उन्हीं में से है जिसकी भाषा सहज एवं स्वाभाविक है :

"अबहीं क्या उसे रोकड़ मिल जाएगा," बगल में बैठी, झोले में सामान ठीक करती हुई अम्मा बोली, "अरे नौकरी मिली भी तो महीना–दिन के बाद न तनख्वाह मिलेगी?"

"हूँ" अजिया गम्भीर हो गयीं। या तो उन्हें अम्मा का बीच में बोलना पसन्द न आया या यह सोचकर वह गुस्सा हो गयीं कि कहीं बहू अपने को उनसे ज्यादा समझदार तो नहीं समझती है।

"मैं तो भई ऐसे ही कह रही थी," वे किंचित लजायी–लजायी सी बोली, "मैं क्या जानती नहीं कि अभी तनख्वाह मिलने में देर लगेगी!"

(एक यात्रा सतह के नीचे)

शिव प्रसाद सिंह जहाँ अपने व्यक्तित्व का समर्पण पात्रों में कर पाए हैं वहाँ उनकी भाषा भी जिन्दगी के करीब, उससे रुबरु होती चली है लेकिन वे ऐसा कर नहीं पाए हैं। 'एक यात्रा सतह के नीचे' जैसी टैक्टिस अन्यत्र नहीं दिखती। 'खैरा पीपल कभी न डोले' में जरूर उसका प्रभाव है लेकिन उसका मूल कथ्य ही, बेचैन आत्मा की तरह भटकता रहता है, ऐसे में भाषा को साधने की बात पीछे छूट जाती है।

शिव प्रसाद सिंह यह भूल जाते हैं कि कहानी में मुख्य होता है, केन्द्रीय विषय या मूल कथ्य। इसके अतिरिक्त कहानी में आने वाली सारी चीजें उसी केन्द्रीय विषय को समर्पित होती हैं। उसका शिल्प उसकी भाषा सभी कुछ। शिल्प और भाषा अलग से साधने वाली चीजें नहीं होतीं बल्कि वे मूल कथ्य को ही उद्घाटित करती, केन्द्रीय उद्देश्य को समर्पित होती है। मार्कण्डेय की कहानियाँ इस हिसाब से शिव प्रसाद सिंह की कहानियों से अधिक संगठित हैं। शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में संगठन का अभाव है। और यह अभाव शिव प्रसाद सिंह के यहाँ कोई अटरण्डम नहीं है बल्कि वह उनके विचारों के चलते उत्पन्न हुआ है। जैसा, कि पहले ही देखा जा चुका है कि शिव प्रसाद सिंह कहानियों में बिना विचारधारा और प्रतिबद्धता के उतरते हैं तथा उसे आस्था एवं आत्म विश्वास जैसी अमूर्त विचारों से जोड़ते हैं। इतना ही नहीं उनके कलात्मक प्रतिमान या सौन्दर्य अभिरुचि शास्त्रीय हैं तथा वह प्रभुपरक नैतिकता से परिचालित होता है। उनकी सौन्दर्याभिरुचि प्रभुतामूलक करूणा एवं दयादृष्टियों से तय होती है। संस्कृत साहित्य उसी से भरा है जिसकी परम्परा में शिव प्रसाद सिंह आते हैं।

मार्कण्डेय लोक अभिरुचियों की परम्परा में आते हैं, साथ ही वे यथार्थवाद की ऐतिहासिक जातीय परम्परा से भी जुड़ते हैं। यहीं कारण है कि उनकी कहानियाँ एक ही अंचल की, एक ही भाषा–समाज की, एक ही परिवेश की होने के बावजूद शिव प्रसाद सिंह की कहानियों से अलग हो जाती हैं। यह अलगाव कहानियों की भाषा में भी दिखता है जहाँ हम देखते हैं कि संवादों की भाषा जहाँ मार्कण्डेय की कहानियों में मूल कथ्य को स्पष्ट करती, उभारती हुई चलती है वहीं शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में बिलकुल अलग–थलग होकर चलती हैं। जैसा, कि कई बार दुहराया जा चुका है कि शिव प्रसाद सिंह के लिए कहानियाँ किसी उद्देश्य को समर्पित न होकर महज

कलम की घिसावट हैं। वे कोई तैयारी करके नहीं उतरते बल्कि मूड से कहानी लिखते हैं, जो कहानियों की भाषा को भी प्रभावित करता है।

6.2. चरित्रों की भाषा

जैसा, कि देखा जा चुका है कि मार्कण्डेय ने परिवर्तन की हर नब्ज पर गहरी नजर रखी है। और, यह उनके पात्रों के भाषा में भी दिखाई देता है। पितृवत सम्बन्धों पर टिके समाज के पात्रों से भिन्न भाषा का प्रयोग उस सम्बन्ध की टूट से जन्म ले रहे नये समाज के पात्रों द्वारा होता है। पहली श्रेणी के पात्रों में गुलरा के बाबा (गुलरा के बाबा), फउदी दादा (बीच के लोग), बाबा (हंसाज़ाई अकेला), मंगी (कल्यानमन), दुखना (महुए का पेड़), चैतू (गुलरा के बाबा), बचन (मधुपुर के सीवान का एक कोना), बुझावन (बीच के लोग) आदि हैं, तो दूसरी श्रेणी में देवी सिंह (गुलरा के बाबा), छोटे ठाकुर (महुए का पेड़, मधुपुर के सीवान का एक कोना), हरदयाल (बीच के लोग), मनरा (बीच के लोग), रग्घू सिंह (बीच के लोग), नरेश (मधुपुर के सीवान का एक कोना), आदि पात्र हैं। मार्कण्डेय ने इनकी भाषा के टोन को इस ढंग से रखा है कि चरित्रों के बीच का अन्तर दो समाजों के बीच के अन्तर को उद्घाटित कर देता है।

पितृवत सम्बन्धों पर टिके समाज में वर्गीय असंतोष के बावजूद एक मानवीय सम्बन्ध भी काम करता है। वह समाज द्वारा मिलजुलकर बनाया गया सम्बन्ध होता है। साझा सम्बन्ध। मंगी और ठाकुर का सम्बन्ध, बुझावन और फउदी दादा का सम्बन्ध। जहाँ वर्गीय हितों के टकराव के बावजूद एक साझी नैतिकता, साझे मूल्य काम करते हैं। जिस चैतू को सरपत काटने के लिए बाबा मना कर देते हैं उसी की टाँग टूटने की खबर से वे भौचक्क भी हो जाते हैं और उसकी छान्ह के लिए खुद सरपत कटवाते हैं :

सुखई ने पूछा "क्या होगी सरपत, बाबा?"

"चैतुआ की छान्ह टूट गयी है रे!" बाबा ने उत्साह से कहा।

(गुलरा के बाबा)

लेकिन अब वह समाज बदल रहा है। पूँजीवादी आँगन में पल रहा नया सामन्तवाद एवं प्रतिक्रियावाद अब उसके स्थान पर आ गया है जो अपने चरित्र में

अधिक शोषक है एवं अमानवीय है "जाके देख क्यों नहीं आते बड़ी मोह है तो, वह तो टूटनी ही थी। आज अखाड़े में टूटी, कल हम लोगों की लाठी से टूटती।......."

(गुलरा के बाबा)

इसकी दूसरी तरफ मनरा जैसा चरित्र है जो समानता और स्वतन्त्रता के लिए शोषण एवं अमानवीयता के विरुद्ध, विभेदकारी शक्तियों के विरुद्ध खड़ा है :

'कानून और न्याय गरीब को खेत देता नहीं, उससे छीनता है। हम ऐसे धोखे में नहीं आयेंगे। हम जमीन को जोतेंगे।' मनरा फिर बोला।

(बीच के लोग)

मार्कण्डेय अगर ऐसा कर सके हैं तो उसके पीछे उनकी ऐतिहासिक चेतना है। मार्कण्डेय बढ़ी हुई चेतना के कहानीकार हैं जिसके चलते उनके चरित्रों की भाषा समाज के अन्तर्विरोधों को, तनावों को उभारने में सफल रही है लेकिन साथ ही मानवीय सम्बन्धों की गर्माहट हाथ से छूटने नहीं पाती। शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का ऐतिहासिकता से कोई लेना–देना नहीं है इसलिए उनमें समाज की संरचना में हो रहे परिवर्तनों को पकड़ने का प्रयास नहीं दिखता।

6.3. लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे

लोकोक्ति एवं मुहावरे सिर्फ भाषा की शक्ति ही नहीं होते बल्कि वे सामाजिक स्थितियों की उपज भी होते हैं अर्थात उनका निर्माण समाज के बनने एवं परिवर्तित होने के साथ–साथ होता रहता है। वे समाज की वर्गीय या नस्लीय दशा को भी दिखाते हैं, उनकी आर्थिक स्थिति को भी दिखाते हैं।

कहानी में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग भाषागत सौन्दर्य को दिखाना नहीं होता। कहानी, ललित निबन्ध नहीं बल्कि वहाँ कथानक एवं चरित्र भाषा के द्वारा जीवित होने का, मानव होने का, भौतिक जीवन का, यथार्थ का आभास देते हैं। अतः लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग निरुद्देश्य न होकर कथानक के मूल मन्तव्य के विकास में योग देने के रूप में होना चाहिए। चरित्रों के विकास में, परिवेश के निर्माण में उसका योग होना चाहिए न कि भाषा के लालित्य–प्रदर्शन में।

शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग लगभग सभी कहानियों में मिल जाता है। उनकी कहानियों की विशेषता यह है कि उन्होंने

लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग अधिकतर स्त्री पात्रों द्वारा कराये हैं। स्त्रियों द्वारा इसका प्रयोग आम तौर पर आज भी ग्रामीण समाज की एक निधि है क्योंकि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि भाषा समाज और संस्कृति का एक दस्तावेज होती है।

लेकिन शिव प्रसाद सिंह की एक सीमा भी है, अन्तर्गठन का अभाव जो अक्सर उनके हाथ से छूटता रहता है। 'कर्मनाशा की हार' में जो भाषा और कथानक का अन्तर्गठन मिलता है वह बाद की कहानियों में बिखरा हुआ दिखता है। भाषा के छोटे–छोटे पद, लोकोक्तियों और मुहावरों का सार्थक प्रयोग, सहजता, सरलता जैसी लोकभाषा की कथा विशेषताओं का जो निर्वाह उन्होंने 'कर्मनाशा की हार' में किया है वह बाद में चलकर कहानियों में अलग संसार की तरह दिखता है। जैसे, वह भाषा का कोई समाज शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत कर रहा हो। इसकी मिसालें 'शाखामृग', 'देऊ दादा', 'बहाव–वृत्ति', 'अँधेरा हँसता है', 'नयी–पुरानी तस्वीरें' जैसी कई कहानियों में देखने को मिलती हैं।

'कर्मनाशा की हार' कहानी का प्रारम्भ ही होता है उससे प्रचलित लोक विश्वास से :

'काले साँप का काटा आदमी बच सकता है, हलहल जहर पीने वाले की मौत रुक सकती है, किन्तु जिस पौधे को एक बार कर्मनाशा का पानी छू ले, वह फिर हरा नहीं हो सकता। कर्मनाशा के बारे में किनारे के लोगों में एक और विश्वास प्रचलित था कि यदि एक बार नदी बढ़ आए तो बिना मानुस की बलि लिए लौटती नहीं।'
(कर्मनाशा की हार)

ये सारे विश्वास कृषि और उससे जुड़े उपादानों के अन्तर्सम्बन्धों से उपजे हैं। नदियों और खेतों की उपज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है लेकिन जब नदियाँ बाढ़ का रूप धर लेती हैं तो किसानों के सपनों को लील जाती हैं। ऐसे में 'चेहरे पर मुर्दनी छाने' जैसे मुहावरे का प्रयोग भाषा की क्षमता को प्रदर्शित करता है साथ ही लेखक की प्रतिभा की भी।

'नई डीह के लोग चूहेदानी में फँसे चूहे की तरह भय से दौड़–धूप कर रहे थे, सबके चेहरे पर मुर्दनी छा गई थी।'

(कर्मनाशा की हार)

स्त्रियों द्वारा इसके प्रयोग का एक अंदाज द्रष्टव्य है :

"......राम रे राम, कुतिया ने पाप किया, गाँव के सिर बीता ! उसकी माई कैसी सतवन्ती बनती थी। आग लाने गई तो घर में जाने नहीं दिया, मैं तो तभी छनगी की हो न हो दाल में कुछ काला है । आग लगे ऐसी कोख में। तीन दिन की बिटिया और पेट में ऐसी घनघोर दाढ़ी !" (कर्मनाशा की हार)

एक ही संवाद में तीन–तीन मुहावरों का प्रयोग चरित्र को बिलकुल अलग शेड दे देता है, उसे जीवन्त बना देता है। और यह निरुद्देश्य नहीं क्योंकि कर्मनाशा के मूल मन्तव्य को यानि, रुढ़ियों पर चोट, को ही स्पष्ट करती है।

लेकिन इसका विकास शिव प्रसाद सिंह अन्य कहानियों में नहीं दिखा पाते। या तो वे पिष्टपेषणता का शिकार हो गयी हैं या फिर कहानी में अलग–थलग पड़ गयी हैं। जैसे, कि आर्थिक स्थिति का संकेत करता मुहावरा 'शाखा मृग' कहानी में एक भाषागत चमत्कार होकर रह जाता है।

'मगर धन्नो चाची भी एक ही थीं। चमाइन से पेट छिप सकता है, पण्डिताइन का लड़का मूर में पड़ जाय, पर धन्नों चाची से कुछ छिप जाना या उन्हें बेवकूफ बनाकर निकल जाना एकदम से मुश्किल है। वे मुँह देखकर भाँप लेतीं कि कुत्ते ने किसकी हाँड़ी में मुँह डाला है।' (शाखा मृग)

इसके बाद कहानी बिलकुल दूसरी पटरी पर चली जाती है तथा जातियों और पेशों का समाज शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने लगती है। इसी तरह 'तो......' कहानी में 'आलस्य हिरन हो जाना', 'पांचों उँगली घी में होना', 'हुक्के का पानी', 'जबान पर पानी उछलना' जैसे मुहावरों को जुटाया भर गया है। वे न तो किसी चरित्र को उभार पाते हैं न ही किसी उद्देश्य को समर्पित होते हैं। इसी प्रकार कहावतों का प्रयोग भी बेमतलब हो जाता है :

"खायेंगे गेहूँ, नहीं रहेंगे एहूँ।...." (तकावी)

मुहावरों का दुहराव जो कहानी में बेतरतीब है। परिवेश से उसकी कोई संगत नहीं बैठ पाती। संवाद में वह अलग–थलग नजर आती है।

"मैं चेहरा देखकर समझ जाती हूँ कि कुत्ते ने किस हाँड़ी में मुँह डाला है।....." (तकावी)

एक बात और जो खास है, वह यह, कि ग्रामीण क्षेत्रों में गामा एक प्रतीक भी हैं और एक मुहावरे के तौर पर भी प्रयुक्त होते हैं और यह प्रयोग शिव प्रसाद सिंह और मार्कण्डेय दोनों में समान रूप से मिलता है।

'—पट्ठ तो इतना रवाँ है कि एक बार गामा को भी उठाकर फेंक दे।'

(गुलरा के बाबा)

'.....बस ऐसे गिरेंगे —ऐसे—बस—गामा पहलवान की तरह, जब मंगलराय ने उसको कलाजंग पर मारा था — सुना आपने।'

(सुबह के बादल)

मार्कण्डेय एक सतर्क, सजग कहानीकार हैं। वे कहानी के सारे इन्स्ट्रूमेन्ट के प्रति सचेत रहते हैं। भाषा भी इससे अछूती नहीं। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग वे तब तक नहीं करते जब तक कि कथानक वैसा न हो। जैसे, 'घूरा' कहानी में कहावत का प्रयोग 'पैसे के नाम पर बनियाँ, और सनेह के नाम पर वेश्या' की यही हालत होती है। इसी तरह 'साँप छूने' जैसे मुहावरे का प्रयोग, 'पानीदार का पानी भगवान रखते हैं' जैसी लोकोक्ति इसी कहानी में देखने को मिल जाएँगे। यह कहानी चूँकि चौपाली ढंग की लोककथा—रूपों वाली कहानी है, जिसके चलते लोकोक्तियों, कहावतों, मुहावरों का प्रयोग सार्थक हो गया है।

6.4. विम्ब और प्रतीक

नई कहानी की भाषा ताजगी लेकर आयी थी इसमें शक नहीं चाहे वह मध्यवर्गीय समस्याओं से जुड़ी कहानियाँ रही हों या फिर ग्राम कहानियाँ। लोक भाषा शैली के साथ—साथ विम्बों—प्रतीकों में भी ताजगी के दर्शन होते हैं। और इसका कारण था कहानियों का जीवन से सीधे जुड़ाव—टकराव जो प्रेमचन्द के बाद एकबारगी थम्ह सा गया था। बनावटी, कृत्रिम भाषा की जो छाया कहानियों को जीवन से दूर कर रही थी उसे नये कहानीकारों ने निश्चित रूप से पुनः अपनी जीवन्त परम्परा से जोड़ा। मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह का योगदान इसमें कम महत्वपूर्ण नहीं। शिव प्रसाद सिंह के कहानियों की विशेषता यदि भाषा में लोकोक्तियों—मुहावरों का प्रयोग है तो मार्कण्डेय के कहानियों की विशेषता उनके विम्ब और प्रतीक हैं।

मार्कण्डेय के यहाँ बड़े–बड़े विम्बों को साधने की वही कोशिश है जो कविता में मुक्तिबोध रघुवीर सहाय, धूमिल के यहाँ है। मार्कण्डेय की कई कहानियाँ जैसे इनकी लम्बी कविताओं का भाष्य हों। इसका कारण है कि मार्कण्डेय अकेले कहानीकार हैं जिनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता मुक्तिबोध की कविता के बरख्स खड़ी होती है तथा उनकी राजनीतिक चेतना रघुवीर सहाय, नागार्जुन की कविता के समानान्तर कहानी में चलती है।

विम्बमयी भाषा के प्रयोग की दृष्टि से उनकी जो कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं उनमें 'हंसा जाई अकेला', 'आदर्श कुक्कुट गृह', 'प्रलय और मनुष्य', 'आदमी की दुम', 'घुन', 'चाँद का टुकड़ा', 'दूध और दवा', 'मधुपुर के सीवान का एक कोना' आदि उल्लेखनीय है।

विम्बों एवं प्रतीकों की योजना की दृष्टि से 'दूध और दवा' विशेष उल्लेखनीय है:

'मेरे घर के सामने एक चौड़ा नाला है और उसके परे कटीली झाड़ी का एक बड़ा सा गुंबद। मैंने कभी इसमें एक खरगोश के जोड़े को घुसते देखा था।........स्कूल से लड़कियों को ढोने वाली गाड़ियाँ बोलती हैं, तीर की तरह सड़क को चीरती हुई चिड़िया उड़ जाती है, पर वह खरगोश का जोड़ा!.........

(दूध और दवा)

कटीली झाड़ी, बड़ा सा गुंबद एक विम्ब है, समाज की संरचना का, उसकी मान्यताओं का, आदर्शों का बड़ा सा गुंबद लेकिन साथ ही वह झाड़ीनुमा भी है जो सम्बन्धों का हिसाब माँगता है, सम्बन्धों को नाम से जानता है। जिसका खुलासा इसी कहानी में होता है :

'मैं खुद अपने आगे खड़ा हूँ, मान्यताओं की सलीब पर टँगा हुआ, लहूलुहान!...... पत्थर का एक बहुत बड़ा ढेर है और लोग आँखें मूँदकर पत्थर मारते हैं.........लोग फूल चढ़ा रहे हैं मान्यताओं पर..........लोग नंगी औरत के कोमल शरीर को खुरदुरे जूट के रस्सों से जकड़कर बाँध रहे हैं...........सिर्फ एक लाचारी का आरोप ....आदमी नहीं, टूटा हुआ, पुराना खंडहर.......'

(दूध और दवा)

यहाँ एक व्यक्ति का समाज के साथ का संघर्ष चलता है साथ ही एक रचनात्मक व्यक्तित्व का संघर्ष सृजन के स्तर पर चलता है। समाज और रचना का संघर्ष, द्वन्द्व भी चलता है। समाज की बुर्जुआ मान्यताओं में दम तोड़ता व्यक्ति साथ ही साहित्य की पूँजीवादी मान्यताओं में दम तोड़ता एक रचनात्मक व्यक्तित्व। आम आदमी की हिमायत करने वाली रचनाधर्मिता तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता दोनों लहूलुहान हैं। दूसरी तरफ उन मान्यताओं में जकड़ी स्त्री। उसके अधिकारों को, हितों को, जकड़ती मान्यता जिसका कारण स्त्री की देह।

ऐसे में लेखक द्वारा खरगोश के जोड़े को याद करना जो स्वतन्त्रता का, मुक्त प्रेम का और साथ ही सहभागिता, सहअस्तित्व, दाइत्व का भी प्रतीक है :

'......ये प्रश्न उसके साथ नहीं उठते, क्या आखिर? क्या उसे बच्चे नहीं हो सकते या वे दूध पीने वाले बच्चे नहीं होंगे?'

(दूध और दवा)

यह प्रश्न मार्कण्डेय की एक और कहानी 'एक दिन की डायरी' को सामने रखने से स्पष्ट हो जाता है :

'..............पर क्या होता है इन किताबों में – कथाओं में? स्त्री का गलत चरित्र है सर्वत्र, मन का छीला हुआ।'

(एक दिन की डायरी)

'.....व्याह हो गया था पद्मा का, पहले भी सुना था, पर देखा, तो फिर सोचने लगा – ब्याही पद्मा और ब्याही सुशीला, फिर सारी ब्याही लड़कियाँ, फिर भाभी की स्नेहार्द आँखें, तेजी से पीछे छूटने वाले गाँव के ऊपर उभर आयी थीं। भाभी भी तो एक व्याही लड़की चाहती हैं।'

(एक दिन की डायरी)

मार्कण्डेय बुर्जुआ संस्थाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं और इसके साथ ही वे पूँजीवादी समय और समाज को भी चुनौती देते हैं :

"मैं खून से लथपथ होना चाहती हूँ, मैं उन सारे दागों को अपने शरीर पर मुखर रखना चाहती हूँ, मैं सारे घावों की मवाद और गंदगी को लोगों को दिखाना चाहती हूँ! देखो सत्य यह है........."

(दूध और दवा)

'मैं धीरे–धीरे चल रहा हूँ। चारों ओर कब्रिस्तान है। सड़क के नीचे, और ऊपर की हवा तक में बातों के टूटे–फूटे अस्थि–पंजर उभर आए हैं। मै सिर्फ चुभन, टीस और प्रतारणा को चुन–चुन कर अपने तरकश में भरता जाता हूँ। एक विकलांग, विक्षिप्त योद्धा की तरह मैं पसीने और गर्द से लथपथ हो रहा हूँ.........।'

(दूध और दवा)

यह पूँजीवादी समय और देश की हालत है जहाँ एक आम जीवन जीने वाला व्यक्ति, उसकी बात करने वाला रचनात्मक व्यक्ति चुभन, टीस, प्रतारणा चुनते हैं।

'.......किसी बंगले के फटे, पुराने पर्दे.......मुल्क में बदअमनी और भूख..........'

(दूध और दवा)

स्मृतियों के बीच सड़क को चीरती हुई चिड़िया उड़ जाती है। चिड़िया यानी, समय का प्रतीक, वर्तमान का अहसास कराती। इस तरह मार्कण्डेय ने 'दूध और दवा' में विम्बों और प्रतीकों की जो योजना की है, वह पूरी हिन्दी कहानी के इतिहास में अपना एक अलग स्थान रखती है।

विम्बों–प्रतीकों को लेकर मार्कण्डेय ने एक स्वतन्त्र कहानी ही लिखी है, 'प्रलय और मनुष्य।' इसमें मनुष्य की जीवन–इच्छा, आकांक्षा, जिजीविषा, ललक तथा उसके विरुद्ध खड़ी असामाजिक, अमानवीय शक्तियों के बीच का संघर्ष है। साथ ही सामाजिक विसंगतियां, राजनीतिक भ्रष्टाचार, प्रशासनिक भ्रष्टाचार भी है। इन्हीं सबों का एक संश्लिष्ट विम्ब उभरता है 'आदर्श कुक्कुट गृह' में जहाँ मियायिन का मैला चश्मा और रमजान का टूटा चश्मा देश और समाज की व्यवस्था की मैल तथा दिशाहीनता को उभारता है। रमजान का टूटा चश्मा आजादी की लड़ाई के दौरान आम आदमी के द्वारा, अन्तिम आदमी के द्वारा देखे गये सपनों का टूटना है।

लेकिन प्रतीकात्मक भाषा की जिस ताकत का अहसास उन्होंने 'हंसा जाई अकेला' मे दिखाया है वह पूरी की पूरी नई कहानी परम्परा में अनूठी मिसाल है। राजनीतिक चेतना से जुड़ी इस कहानी की भाषा समूचे राजनीतिक परिवेश को उभारने में सफल रही है। आजादी के पहले के आदर्श और सपने तथा आजादी के बाद का उनका हस्र एक राजनीतिक पीड़ित के माध्यम से जिस तरह व्यक्त हुआ है, वह अतुलनीय है। गद्य की भाषा का ऐसा मंजा हुआ तथा समय के साक्षात्कार के साथ

उससे मुठभेड़ करता रूप मार्कण्डेय को बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द, एवं गुलेरी की गद्य–परम्परा में रख देता है। यहाँ गद्य का वही रूप मिलता है जिसकी चर्चा राल्फ फॉक्स एवं नामवर सिंह करते हैं। (द्रष्टव्य – प्रथम अध्याय, 'आधुनिक गद्य एवं प्रेमचन्द' शीर्षक)

'वहाँ तक तो सब साथ थे, लेकिन अब कोई भी दो एक साथ नहीं रहा।....'

(हंसा जाई अकेला)

"समझाते–समझाते उमिर बीत गयी, पर यह माटी का माधो ही रह गया।...."

(वही)

".......कितने तो तेल ही लगाकर पहलवान हो गये...."(जेल जाकर सत्याग्रही होना)

वही।

"कुछ कहते, जै और कुछ 'छै'....."

(वही)

'हंसा सँभाल सँभालकर चल रहा था – अन्धेरे की वही धुंध, वही मटमैलापन।' (आजादी की धुंध, मटमैलापन) – वही।

– और पच्चीस–तीस लोग हँसिया लेकर राजा साहब के तम्बू की डोरियों के पास खड़े हो गये। (किसान–मजदूर आन्दोलनों का बढ़ता दबाव) वही।

'अब भी कभी–कभी वह आजादी लेने की कसमें खाता है।'

(वही)

अपने कथ्य के साथ भाषा की प्रतीकात्मकता यहाँ मिलकर एक संश्लिष्ट विम्ब उभारती है और यहीं कहानी पूर्णता प्राप्त करती है।

इसी तरह सामाजिक संरचना को लेकर, जातिगत विभेदों और असमानता को लेकर तथा व्यवस्था द्वारा किनारे पर कर दिये गये लोगों को लेकर 'घुन' में जो विम्ब उभरता है वह उन्हें प्रेमचन्द की बढ़ी हुई भाषा–परम्परा से जोड़ता है। राजनीतिक छल और प्रपंच के साथ सामाजिक छल और प्रपंच को उभारने में मार्कण्डेय के विम्बों और प्रतीकों की भाषा तो सफल है ही, उनकी सजगता उन्हें मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय जैसों

की श्रेणी में खडा कर देती है। कहना न होगा कि इस रूप में वे नये कहानीकारों में अकेले हैं।

6.5. चित्रमयता

चित्र उपस्थित करने में मार्कण्डेय के कहानियों की भाषा शिव प्रसाद सिंह की कहानियों की भाषा से अधिक सजीव तथा जीवन्त है। वस्तुनिष्ठता मार्कण्डेय के भाषा की विशेषता है, तो आत्मनिष्ठता शिव प्रसाद के। यही कारण है कि मार्कण्डेय की भाषा अधिक चित्रमयी है। जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि शिव प्रसाद सिंह ने 'कर्मनाशा की हार' की भाषा का विकास नहीं किया। वे 'मुरदासरायों' की तरफ चले गये। उनकी भाषा की जीवन्तता कहानियों में अलग–थलग द्वीप सी हो गयी। जबकि, मार्कण्डेय की कहानियों में वह निरन्तर विकसित होती चली है। रूमानियत उसमें से हटती चली है। वह अधिक वस्तुनिष्ठ एवं बर्हिमुखी हुई। जैसा कि हम देख आए हैं, कि दोनों कहानीकारों में दृष्टियों का अन्तर है। शिवं प्रसाद सिंह का आग्रह विशिष्ट प्रकार के चरित्रों पर है। वे समाज में व्यक्तियों के द्वीप ढूंढ़ते हैं जिसके चलते उनकी कहानियों में कथ्य का अलग द्वीप, शिल्प का अलग द्वीप, भाषा का अलग द्वीप उग आया है। वहीं मार्कण्डेय का आग्रह विशिष्ट प्रकार के जीवन पर न होकर, जीवन के विशिष्ट प्रकार पर है। ('हंसा जाई अकेला' की भूमिका)[2]

कहानी कल्पना की बुनावट न होकर, जीवन के यथार्थ का अंग बन गयी है। उसके कथानक जीवन की भौतिकताओं की तरह ही कठोर एवं सत्य होने लगे हैं, और उसका शिल्प भी समस्त मानवीय व्यवहार की परम्पराओं का निर्वाह करने लगा है। एक तरह से देखें तो जीवन में जो होता है और अत्यन्त सामान्य रूप में होता है – उसकी खोज हम कहानी में करने लगे हैं। पहले लेखक कल्पना से कहानी गढ़ता था पर अब कल्पना से उसमें रंग भरता है – यथार्थ को और भी चटख और प्रभावशाली बनाता है। ('हंसा जाई अकेला' की भूमिका)[3]

कहना न होगा कि मार्कण्डेय की भाषा इसके प्रति सजग है जिसका बयान उनकी कहानियों की चित्रमयी भाषा खुद करती है जो कहानी की गम्भीरता को बढ़ा देती है, उसके मूल को और स्पष्ट कर देती है। कथानक को गहनता और सघनता प्रदान करती है।

'फउदी दादा ने लड़की को जरा–सा गुदगुदा दिया और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, लगा जैसे कोई खिलवाड़ी बच्चा झुनझुना बजाता हुआ अँधेरे पर दौड़ गया हो। पूरा दृश्य ही बदल गया। हरसू और हुड़दंगी इस परिदृश्य में अपने को उस कुत्ते से भी बदतर पाने लगे जो लड़की की हँसी सुनकर दौड़ा हुआ आ गया था और लड़की दादा के कम्बल से हाथ निकालकर उसके कानों से खेलने लगी थी।'

(बीच के लोग)

"लीती तू फूल यहाँ छे ले ले। देख मैं पान तो ले आयी, अभी जब गुलुई की डाल निकलेगी, तो जलूलत लगेगी न!"

(पान–फूल)

'नीली अभी मोड़ पर नहीं पहुँची थी कि पूसी ने एक गिलहरी का पीछा किया और फुलवाड़ी की बगल वाली पगडंडी से बउली पर हो रही – बिलकुल घाट से सटे अशोक के पेड़ की जड़ के पास, टुकुर–टुकुर देखती–देखती! नीली भी मुड़ी, पूसी ने उसे देखा तो उछल–कूद बंद कर दी। लेकिन बार–बार जमीन को सूँघती रही।'

(पान–फूल)

'पूसी भीट से नीचे उतरी....उसका मन चंचल हो उठा। इधर–उधर चकपका रही थी, तब तक एक कुत्ता निकला, भूँका और दौड़कर उसकी गरदन पकड़कर उठा लिया, फिर जमीन पर पकड़कर दरेरने लगा। केंऽ.....केंऽ पेंऽ........पेंऽ........ की आवाज आयी, नीली दौड़ी तो, उसने देखा, पूसी विपत में फँस गयी है और कुत्ता उसे तेतरह रगड़ता जा रहा है। पहले वह डरी फिर एकाएक दौड़ी और पूसी को उसने अपनी गोद में छिपाना चाहा। कुत्ते के मुँह पर उसने हाथों से मारा। कुत्ते ने बँधी–बँधाई मुट्ठी हाथों में ले ली और कच–से दबा दिया।'

(पान–फूल)

संकट के समय क्रियाएँ जल्दी–जल्दी होती हैं, इसका खयाल किया गया है। इसी तरह 'घूरा' कहानी भी अपनी चित्रमयता के चलते ध्यान आकर्षित करती है :

'ऊपर काले – कजरारे, घनघोर मेघ और नीचे भीगी, हल्की भूरी कीचड़–जिसमें जगह–जगह कूड़ा–करकट, और गोबर के सूखे कंडों के द्वीप और उन द्वीपों के ऊपर रेंगते हुए केंचुए, गोबड़ौरे और मखमली वीर बधूटियाँ।' (घूरा)

'मटरु के बखरी की पिछली दीवार अचानक भहरा पड़ी, खैर हुआ कि कोई दबा नहीं......सीवान में पानी खचा है, उसकी बखरी की नींव तक पानी चपा है, अब नाबदान में से पानी बाहर नहीं हो रहा है।'

(घूरा)

मार्कण्डेय की प्रसिद्ध कहानी 'दूध और दवा' तथा 'हंसा जाई अकेला' में न भूलने वाले चित्रों की योजना में भाषा का मंजापन खास भूमिका निभाता है :

पर मुन्नी का बैलून तो मेरे कमरे की निचली छत ही में अटका रह जाता है। वह पैर पटकने लगती है, "पापा! उतालो इछे ! देखो यह छत चुला लही है मेला गुब्बाला, तुम्हीं ने छिखाया है !"

"मैं कैसे पहुँचूँ इतनी ऊँचाई तक?"

"अच्छा मुझे कंधे पल उठाओ !"

"फिर भी तो नहीं पहुँचोगी।"

"कुल्छी पल खले हो जाओ !" (दूध और दवा)

तमाम विडम्बनाओं, विसंगतियों, विद्रूपताओं के बीच फँसे जीवन में अनुराग भरते ये चित्र मनुष्य को जीने की शक्ति देते हैं, संघर्ष की, जूझने की क्षमता देते हैं जबकि शिव प्रसाद सिंह के यहाँ दुःखों और समस्याओं के इतने चित्र हैं, कि उसमें जीवन कहाँ बचता है, कहना मुश्किल हो जाता है। दृष्टि भी पड़ती है तो 'परकटी तितलियों', 'मुरदासरायों' पर, हड्डी चिचोरते कुत्तों पर :

'कुत्ते एक–दूसरे से वैसे ही गुर्राते हुए जूझ रहे थे, कई एक साथ गुंथ गये थे एक ललछौंही हड्डी के टुकड़े के लिए। अवधू को उस मोटे लाल कुत्ते से सख्त नफरत हुई जो उस काली सी कमीनी कुतिया के साथ ऐन रास्ते पर बैठकर हड्डी चिचोरता रहता है।'

(एक यात्रा सतह के नीचे)

उनकी कई कहानियाँ हैं जो जिन्दगी का आतंक पैदा करती हैं। जीवन जीने के लिए बचता ही नहीं। अपवाद ही उनकी कहानियों के सामान्य कथ्य हैं। अपने अन्दर के डर को, भय को, आतंक को वे वास्तविकता पर आरोपित कर देते हैं। 'मुरदासरायों' तथा 'हत्या और आत्महत्या के बीच' से बच जाते हैं तो ऐसे चित्र प्रस्तुत करते हैं

जिनका कोई भी उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता। 'हीरो की खोज', 'अँधेरा हँसता है', 'बहाव–वृत्ति', 'शाखामृग', 'सुबह के बादल' ऐसी ही कहानियाँ हैं जो फुटकल ग्रामीण शब्द–चित्रों का संयोजन मात्र होकर रह गयी हैं। 'मरहला', 'मिट्टी की औलाद' 'आँखें' जैसी कहानियों का विकास नहीं हो पाता। दृष्टि साफ न होने से 'तो......' 'तकावी', 'भेड़िये' के चित्र बनावटी हो जाते हैं, भाषा लावारिस सी घूमती रहती है।

संश्लिष्ट एवं संयोजित चित्रों की योजना 'कर्मनाशा की हार' एवं 'आर–पार की माला' में ही देखने को मिलती है। कहने का तात्पर्य यह, कि शिव प्रसाद सिंह जहाँ भी वस्तुनिष्ठ होकर बर्हिमुखता धारण करते हैं वहाँ वे कम आकर्षक नहीं लेकिन ऐसा वे कम ही कर पाए हैं।

"क्यों, मेरी सगाई हो गयी, सुना तूने!" वह उसके सामने आँखें नचाकर बोली, *"क्यों, खुश हो न !" भैंस की काँटेदार बालों वाली पीठ कनमनायी।* रोएँ सुई की तरह खड़े हो गये। भैंस उसके हाथ को चाटने लगी।.......वह बड़ी देर तक बैठी रही। सहसा अपने मुर्गे को आते देख उठी, उसके पीछे पकड़ने को दौड़ी। क् क् क् क् की आवाज से झोपड़ी गूँजी और गूँजती रही बड़ी देर तक, सुख से, उल्लास से।

(आर–पार की माला)

6.6. भाषा-सौन्दर्य एवं शब्द-संसार

जैसा कि, पहले चर्चा हो चुकी है कि भाषा किसी क्षेत्र विशेष की संस्कृति को भी प्रतिविम्बित करती है। उसके रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज, तीज–त्योहार की झलक उसमें मिलती है। दोनों कहानीकार एक ही भाषाक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। अतः भाषा के इस स्तर पर दोनों में तमाम समानताएँ मिलती है। मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह दोनों ही कहानीकारों का परिवेश गंगा–गोमती का दोआब क्षेत्र है। यह क्षेत्र धान और गेहूँ की फसलों के लिए विशेष रूप से जाना जाता है, साथ ही, यहाँ के खान–पान में मछलियों का खास स्थान है। इसके अतिरिक्त तीज–त्योहारों की परम्परा तथा उससे जुड़ी लोकगीतों एवं लोकनाट्य तथा कुश्ती–दंगल की परम्परा। यहीं इस क्षेत्र की विशेषता है। दोनों कहानीकारों की भाषा पर इसका प्रभाव समान रूप से झलकता है।

6.6.1. सौन्दर्य वर्णन

कार्तिक की बुआई शुरु हो गयी। दो घड़ी रात तक, मलमल की तरह फैली हुई चाँदनी में चारों ओर 'हट–हट' और बैलों के गलों में बँधी घण्टियों की झन–झन से रात बड़ी मनसायन रहती।

– बरगद का पेड़ (शिव प्रसाद सिंह)

गेहूँ और जौ के दानों से लदी हुई बालें हवा के झोकों से झुक–झुक कर, उसे एक बार फिर अपनी ओर देख लेने को बाध्य कर रही थीं –

– रामलाल (मार्कण्डेय)

एक बार फिर हरे–भरे खेत, धान–गेहूँ की बालियाँ और बाहर से चरकर लौटती गायों का रंभाना उसे याद आ गया।

– वही

सिरकी की झाब डाले गाड़ियाँ बोरे लादकर कस्बे से चलती हैं तो एक अजीब दृश्य खड़ा हो जाता है। सफेद छाजनों से ढँकी हुई, नयी दुल्हन की तरह घूँघट काढ़े, बैलों की घण्टियों की पायल बजाती, बत्तख की तरह मस्तानी चाल से झूमती गाड़ियों का चलना अजीब लगता है। जेठ–असाढ़ी बादलों की फुहारों में कान फड़फड़ाते, जुगाली करते हुए बैल अपनी चाल से चलते जाते हैं और गाड़ीवान सिरकी में देह छिपा बिरहे की ताल पर बादलों को ललकार उठते हैं।

– कर्ज (शिव प्रसाद सिंह)

फागुन के दूसरे पखवारे के थोड़े ही दिन बाकी थे – दिन को सुनहली धूप, शाम को अबीरी आकाश और रात को रुपहली, टहकी चाँदनी – खलिहान जौ–गेहूँ के डाँठ से खचाखच भरे हुए।

– गुलरा के बाबा (मार्कण्डेय)

गोमती की तलहटी में – पछुवा का वेग, पानी की लहरें और उसमें पड़ती हुई सुनहली रेखाएँ और पलास की छायाएँ। बसहटा, चारपाई, हुक्का–चिलम, फरसा–कुदार, गगरी और बाँस की पुरानी लाठी – सब एक नन्हीं–सी मड़इया में।

– वही

इस तरह दोनों ही कहानीकारों की सौन्दर्य–दृष्टि कृषि–संस्कृति से जुड़कर चलती है। *गाय–बैल, धान–गेहूँ, जौ की डॉठ, जौ की खुत्थियाँ* (कर्मनाशा की हार), नदी–सीवान मिलकर इस सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं जहाँ *भाषा का स्थानीय रंग भी है* लेकिन वह झलकता भर है, हावी नहीं होता। फिर भी दृष्टियों का अन्तर यहाँ भी है। शिव प्रसाद सिंह की भाषा जहाँ आत्मनिष्ठता के चलते अधिक अलंकारिक हो जाती है, तो वहीं मार्कण्डेय वस्तुनिष्ठता की वजह से भाषा की सहजता एवं स्वाभाविकता से छूट लेने की कोशिश नहीं करते।

शिव प्रसाद सिंह जहाँ वस्तुनिष्ठ हुए हैं वहाँ उनकी भाषा में दम है *'कर्जा'* और *'सुबह के बादल', 'मरहला', 'आर–पार की माला', 'कर्मनाशा की हार'* जैसी कहानियाँ इसकी मिसाल हैं। लेकिन, *'कर्जा' 'आर–पार की माला', 'कर्मनाशा की हार', 'मरहला'* की भाषा उसके कथ्य के साथ मिलकर चलती है। उसके केन्द्रीय उद्देश्य को गम्भीरता और तीव्रता प्रदान करती है, जबकि *'सुबह के बादल'* में कहानी बिना किसी उद्देश्य के चलती है जिसके चलते वह कुछ ग्रामीण संवेदना को छूती फुटकल चित्रों का संकलन होकर रह गयी है। यहीं बात *'शाखामृग', 'बहाव–वृत्ति', 'अँधेरा हँसता है', 'हीरो की खोज'* के साथ भी है। ऐसे में भाषा का सौन्दर्य कहानी में द्वीप सी स्थिति में पहुँचकर रह जाती है।

6.6.2. उपमानों एवं विशेषणों की भाषा एवं भाव

उपमानों एवं विशेषणों के प्रयोग में भी स्थानीय परिवेश की रंगत नजर आती है। रोहू, चेलवा मछलियों के उपमान एवं विशेषण दोनों कहानीकारों में हैं साथ ही फसलों के साथ, पशु–पक्षियों के साथ भी रूप एकमेक होकर चलते रहते हैं। लेकिन शिव प्रसाद सिंह जहाँ एक ही उपमान को दुहराते नजर आते हैं वहीं मार्कण्डेय के यहाँ ऐसा देखने को नहीं मिलता। मार्कण्डेय की भाषा में दृष्टियों के विस्तार की झलक, विस्तृत अनुभूति की परख दिखती है। उपमानों और विशेषणों पर भी यह असर झलकता है जहाँ वे दुहराव से बच जाते हैं।

शिव प्रसाद सिंह रोहू–चेलवा से आगे नहीं बढ़ पाते। वहीं, कहीं बैसाखी धान की करवाइन गन्ध है तो *कहीं दूधिया गन्ध ('आँखें', 'नन्हों', 'ताड़ीघाट का पुल', 'धारा')* इससे *अलग* पक्षियों में मोर, *बया* (सुबह के बादल), वनस्पतियों में दौने की गन्ध,

नागरमोथा की महक तथा अमोले के टटके पत्ते नये उपमान और विशेषण के रूप में सामने आते हैं वहीं गन्ने के रस का उपमान भी आकर्षित करता है। ('कर्ज', 'इन्हें भी इन्तजार है' 'एक यात्रा सतह के नीचे' तथा अन्य कहानियाँ)

मार्कण्डेय की 'हंसा जाई अकेला' में भी गन्ने के ताजे रस का उपमान प्रयुक्त हुआ है – इसी तरह मार्कण्डेय के यहाँ 'आम की फाँक–सी आँखों' तथा 'नहर–सी लकीरें', 'आलू सी नाक' जैसे उपमान नवीनता एवं ताजगी का अहसास कराते हैं।

(दौने की पत्तियाँ)

जैसा कि, 'सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण' में हम देख आए हैं, कि शिव प्रसाद सिंह विचारधारा में सामन्ती सन्तति ही हैं। प्रभुतामूलक अहंवाद तथा आत्मरति उस सभ्यता के गुण हैं। इस कारण वे अपनी कहानियों के चरित्रों को भावावेग नहीं दे पाते। और यह सब कुछ उनकी भाषा ही प्रकट करती है। उपमानों और विशेषणों के प्रयोग में वे उच्चता ग्रन्थि के शिकार हो जाते हैं। इसका बड़ा उदाहरण उनकी कहानी 'धारा' है।

'.........एक पचास के आसपास का काला आबनूस, जो किसी ठंठ बबूल की तरह कभी–कभी झोपड़ी के दरवाजे पर गड़ा नजर आया है। उसकी खाल को देखकर मुझे नफरत तो नहीं हैरानी जरूर हुई है। ऐसा मोटा, काला और चमकीला चमड़ा भैंसों का ही होता है। एक अधेड़ औरत भी दीखी है कभी–कभी उसी रंग और चमड़े की, एक छोकरा भी, जैसे बबूल का छोटा खूँटा हो।'

(धारा)

और यह क्रम थम्हता नहीं –

"काली–काली आबनूसी लड़की.........."

'उसका चमकदार काला उभरा हुआ बदन....'

जबकि कहानी में उसका नाम भी है 'तिउरा' लेकिन लेखक को जैसे नाम लेने में शर्म आती हो,

'काली बिना परत की चट्टान की मूरत है.....'

'वही काली चमक पर जैसे एक परत के राख के भीतर छिपी हुई।.....'

और तिउरा के नाम का महात्म्य लेखक यूँ प्रस्तुत करता है,

'......काला–काला चिकना सा एक बीज होता है जंगली पौधे का और उसका तेल तो ऐसा कि दूर से भी आँखों में अपनी झर्राहट से पानी ला दे। हाँ, ऐसा ही होता है तिउरा का बीज।.....'

उसके प्रति प्रभुतामूलक परिनिष्ठित भाव देखिए,

'.....हृदय के कोने में एक भाव था कभी कुछ गिजगिजा–सा कि इस काली चमकदार देह की छुवन कैसी होगी।......'

लेखक यह कहकर पर्दा डालता है कि 'यह भाव अब मर चुका है।'

जहाँ सिर्फ काला कह देने से ही काम चल सकता था वहाँ विशेषणों के ऐसे प्रयोग एवं वर्णन में चाव लेना कहानीकार का गुण नहीं होता। यह चरित्रों से लेखक के अलगाव एवं दूरी को दिखाता है जबकि एक लेखक अपने पात्रों के लिए भगवान होता है, कुम्हार की तरह होता है और एक कुम्हार अपने सभी पात्रों को सुन्दर बनाने की कोशिश करता है। कहानीकार का मतलब ही होता है बुरे से बुरे, गन्दे से गन्दे चरित्र के अन्दर भी सौन्दर्य का समावेश करना, सौन्दर्य की सृष्टि करना। लेकिन, शिव प्रसाद सिंह कहानीकार की अपेक्षा अहं और आत्मरति से पीड़ित भावुक, संवेदनशील सामन्ती नैतिकता से चालित लेखक हैं जो भाषा के चमत्कार से कहानी साधने की कोशिश करते हैं। यह किसी एक कहानी की बात नहीं है बल्कि यह उनकी अधिकांश कहानियों से उभरकर सामने आती है। 'आँखें', 'मुरदासराय', 'शाखामृग', 'बहाव–वृत्ति', 'हीरो की खोज' जैसी बहुत सी कहानियाँ हैं, जो जीवन से कहीं भी अनुराग पैदा करती नहीं दिखतीं।

'......मैं चुपचाप बारजे से हटकर कमरे में चला आया और उधर की ओर खुलने वाली सारी खिड़कियाँ बन्द कर दीं। अद्भुत बेहयाई–भरा दृश्य था वह!'

(आँखें)

कहीं गन्दगी तो कहीं बेहयायी भरा दृश्य और हर जगह नरेटर या तो खिसक लेता है, या तो छिप जाता है, या तो भाग जाता है।

'....उसने गर्दन उठाकर पहली बार भीड़ को देखा था, पर मैं दुबक कर एक आदमी के पीछे हो गया था.....' (इन्हें भी इन्तजार है)

'.....मैं कनखी से देख लेता हूँ। कबरी वैसे ही घुटने पर मुँह टिकाए एक टक लाइन की समानान्तर पटरियों को देख रही है.....' (इन्हें भी इन्तजार है)

'मैं तुरन्त वहाँ से खिसककर गेट के बाहर निकल आया।'

(धारा)

समस्याओं को कनखी से देखना और खिसकना जैसे लेखक की खास अदा हो। बेहयायी भरे दृश्यों की अपेक्षा वह निजी राग और निजी दुःखों को देखना पसन्द करता है। यहीं है शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का भाव जिसका खुलासा उनकी भाषा करती है। ऐसी भाषा यथार्थ को रचने की अपेक्षा यथार्थ का डर रचती है।

मार्कण्डेय की कहानियाँ, चूँकि एक स्पष्ट विचार धारा एवं केन्द्रीय कथ्य के साथ उतरती हैं इसलिए उनकी भाषा अतिरिक्त सजावट, सौन्दर्य प्रदर्शन की अपेक्षा कथानक की माँग के अनुरूप चलती है। रूप वर्णनों में भी यह प्रभाव दिखता है तथा भावों के प्रदर्शन में भी यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

'चैतू अहीर था – पूरा चेलिक, करीब चौबीस–पचीस का, काला मजीठ शरीर, जैसे कोल्हू की जाट। इसी ने तो बनारस के मशहूर पहलवान झग्गा को पटक दिया – केवल दो ही मिनट में।'

(गुलरा के बाबा)

एक तरफ काला मजीठ दूसरी तरफ कोल्हू की जाट जैसा उपमान उनकी भाषा सम्बन्धी सजगता और सतर्कता को दिखाता है। काला मजीठ शरीर, कोल्हू की जाट के साथ मिलकर जीवन के सौन्दर्य की सृष्टि करता है। कोल्हू की जाट तेल या रस निकालता है, खली और खोइया (थोथा) को अलग कर देता है। काला मजीठ शरीर और भी सौन्दर्यवान हो उठता है झग्गा को पटक कर और अपनी उपयोगिता भी सिद्ध कर देता है कोल्हू की जाट की तरह। मार्कण्डेय ने दो वाक्यों में सब कुछ सम्पन्न कर दिया जीवनगत सौन्दर्य के साथ। यह लेखक की तैयारी को दिखाता है, उसकी दृष्टि सम्पन्नता को दिखाता है, जिसका स्पष्ट अभाव शिव प्रसाद सिंह में दिखता है। भाषा के उन्हीं उपकरणों के प्रयोग से मार्कण्डेय जो उद्देश्यपूर्ण प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं वहीं शिव प्रसाद सिंह के यहाँ बिखरा हुआ, निरुद्देश्य हो जाता है।

इसी तरह गुलरा के बाबा के वर्णन में 'भींट ऐसी छाती और हाथी की सूँड़ जैसे हाथ' और लोगों द्वारा उनको हनुमान कहना और दालान में खाँसते ही सारी बखरियों के कुत्तों का मारे डर के बाहर भाग जाना एक संश्लिष्ट प्रभाव तो उत्पन्न ही करता है, सार्थकता भी प्रदान करता है। भींट जहाँ सामूहिक ग्रामीण उपयोग से जुड़ा होता है वहीं हनुमान में मानवीय गुणों का आरोपण, त्याग, बलिदान, शौर्य, पराक्रम, दया–करुणा की सामूहिक सृष्टि करता है। बाबा का यह वर्णन कहानी के अन्त में उभरकर आता है जहाँ उन गुणों की भौतिक अभिव्यक्ति होती है। शिव प्रसाद सिंह की बिलकुल इसी तरह की कहानी 'देऊ दादा' सब कुछ के बावजूद कहीं नहीं ठहरती। दुहराना आवश्यक है, कि कहानी कलम की घिसावट नहीं होती। उसमें एक स्पष्ट उद्देश्य होता है, उसकी एक स्पष्ट विचारधारा होती है और कहानी का कथानक, शिल्प, भाषा उसी के साधनस्वरूप आते हैं।

मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा की एक और विशेषता है, भावों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति।

"हाँ.........हाँ, सुनता हूँ! मेरी जान न खाओ !" (घुन)

"ठाकुर हमारा घर नाश कर रहे हो।" (कल्यानमन)

"पी लिया है न दो गिलास रस, बड़ी बात सूझेगी!" (दाना–भूसा)

इन वाक्यों में कहानी का मूल भाव छिपा है। इसके बिना न तो कहानी का उद्देश्य प्रकट होता है न ही उसकी मार्मिकता, उसकी गहनता, उसकी गम्भीरता, उसकी संवेदना। कहानी के साथ–साथ उसका समूचा परिवेश और उसमें खड़े पात्र अचानक एक ही वाक्य में जीवन्त हो उठते हैं, कहानी का आत्मा सामने आ जाती है। उसकी माँ बिगड़ती हुई आती है, "यह क्या तमाशा है। अभी तो आँख ही गयी है, अब हाथ–पाँव भी तोड़कर बैठोगी?"

(दूध और दवा)

उसका स्वर कानों में बज उठता है, "आखिर इसमें क्या ऐसा रखा है, जो तुम्हें विचलित कर देता है? मैं रुकी नहीं, कुछ कहा नहीं, तो क्या ऐसा आसमान फट पड़ा? मैं पूछती हूँ कि मुन्नी के दूध और दवाइयों का क्या हुआ? तुम कुछ लिखकर मुझे देने वाले थे न?" (दूध और दवा)

इस तरह भाषा के भावों और उसके उपमानों, विशेषणों के प्रति मार्कण्डेय की जो सतर्कता है, सजगता है, तैयारी है, यथार्थ की सृष्टि तो करती ही है, जीवन के संघर्षों को तो सामने लाती ही है साथ ही उन्हें नागार्जुन, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय की रचनाशीलता की श्रेणी में खड़ा कर देती है।

6.6.3. लोककथा शैली की भाषा एवं लोकगीत

लोककथात्मक शैली में भाषा का जो रूप होता है यानि सहज, सरल, सीधी एवं सपाट भाषा तथा कहानी सुनाने के अंदाज में उसकी प्रस्तुति जहाँ जिज्ञासाओं की उत्पत्ति, भावों की रोचकता एवं संवेदनशीलता की सृष्टि हो, उसका सधा प्रयोग दोनों कहानीकारों में दिखता है। व्यक्तित्वों का, दृष्टियों का असर यहाँ भी है। शिव प्रसाद सिंह उसे अधिक सम्भाल नहीं पाते तथा पात्रों की निजता एवं उनके अन्तरालाप उस पर हावी हो जाते हैं अन्तर्मुखता की छाया उस पर पड़ जाती है। मार्कण्डेय उसका निर्वाह करते हैं। वे इतने सचेत रहते हैं कि कहीं भी भाषा अन्तर्मुखी नहीं होने पाती। कहानी की भाव संवेदना, पाठक की भाव संवेदना से दूर नहीं होती तथा प्रकृति में बर्हिमुखी बनी रहती है।

शिव प्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार', 'आर–पार की माला', 'कर्ज', 'नन्हों', 'मरहला' आदि इस ढंग की लिखी बेहतरीन कहानियाँ हैं, तो वहीं, मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा', 'सवरइया', 'पान–फूल', 'घूरा', 'महुए का पेड़', 'कल्यानमनं', 'हंसा जाई अकेला', 'आदर्श कुक्कुट गृह', 'शव–साधना', 'दाना–भूसा', 'मधुपुर के सीवान का एक कोना', 'घुन', 'बीच के लोग' आदि कहानियाँ हैं।

लोकगीतों का प्रयोग शिव प्रसाद सिंह बहुतायत में करते हैं जबकि मार्कण्डेय के यहाँ उसका प्रयोग नहीं के बराबर है अर्थात जब तक कि वह कहानी के केन्द्रीय भाव के साथ अनिवार्यता न बन गयी हो लेकिन वहाँ भी वे उसके प्रति कोई अतिरिक्त मोह नहीं दिखाते जैसे कि 'हंसा जाई अकेला' में आया निर्गुन। लेकिन शिव प्रसाद सिंह लोकगीतों के प्रयोग में मोहग्रस्त दिखते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों में उसकी ठूसमठास है। और, राजेन्द्र यादव अगर ग्राम कहानियों पर नास्टेल्जिया का आरोप लगाते हैं, तो शायद इन्हीं कहानियों के कारण लगाते हैं। शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ अपने लोकगीत प्रेम के चलते शिथिल और बेतरतीब तो हुई ही है,

आंचलिकता की तरफ भी झुकी हुई हैं, और कुछ कहानियाँ, तो उनकी बकायदे आंचलिक हैं भी।

6.6.4. देशज एवं आंचलिक प्रयोग

आधुनिक कहानी की भाषा में देशज एवं आंचलिक शब्दों के प्रयोग वस्तुतः आधुनिक गद्य के विकास में राष्ट्रवाद की बढ़ती चेतना के साथ ही प्रविष्ट होते हैं। भिन्न–भिन्न राष्ट्रीयताओं का आजादी के संघर्ष में जुटना ही आधुनिक गद्य का निर्माण कर रहा था। साहित्य में उसका परिष्कृत एवं रचनात्मक स्वरूप सहजता और पैनेपन के साथ बालमुकुन्द गुप्त के यहाँ मिलता है और आधुनिक हिन्दी कहानियों में वहीं से वह प्रवेश करता है।

कहानी की भाषा में देशज एवं आंचलिक शब्दों के प्रयोग की तकनीक यथार्थ को उभारने की प्रक्रिया के तहत आधुनिक हिन्दी कहानियों में होता आया था। प्रेमचन्द और गुलेरी के अतिरिक्त अज्ञेय, जैनेन्द्र की कहानियों में भी यह मिलता है। नई कहानियों ने भी उसे बदलते सन्दर्भो के साथ स्थान दिया। नई कहानी चूँकि हर तरीके से जीवन के करीब होकर चलना चाहती थी, इसलिए उसने पृष्ठभूमि को यथार्थ बनाने में, चरित्रों को यथार्थ बनाने में देशज एवं आंचलिक शब्दों के प्रयोग से परहेज नहीं किया। लेकिन, यहीं आकर नये कहानीकार के सामने एक चुनौती भी थी, भाषा की सहजता बनाए रखने की, उसका प्रवाह बनाये रखने की।

एक तरफ जहॉ अमरकान्त, भीष्म साहनी, मार्कण्डेय, मोहन राकेश जैसे नये कहानीकारों ने इस चुनौती को स्वीकार किया वहीं राजेन्द्र यादव एवं शिव प्रसाद सिंह जैसे कहानीकारों ने कहानी की भाषा को प्रयोगों की परखनली ही बना डाला जहाँ से शब्दों के अबूझ रसायन निकलने लगे।

मार्कण्डेय जहाँ देशज एवं आंचलिक शब्दों के प्रयोग के प्रति सतर्क रहते हैं, वहीं शिव प्रसाद सिंह अपना जाना हुआ सब कुछ कहानी में झोंक देना चाहते हैं जहाँ कथा–रस की बजाय एक अबूझ एवं दुर्लभ रस की सृष्टि हो जाती है। कथानक एवं चरित्रों की बजाय वे परिवेश में ही रम जाते हैं और अंचल की एक–एक विशेषताओं को निखारने, सँवारने में लग जाते हैं। इस क्रम में वे आंचलिक शब्दों का मोहग्रस्त प्रयोग करते हैं। कथानक एवं चरित्रों के विकास में योग देते देशज एवं आंचलिक

शब्दों के प्रयोग उनमें मिलते हैं जैसे, *'एक यात्रा सतह के नीचे'*, *'आर–पार की माला'*, 'नन्हों' जो संगठन की दृष्टि से सधी कहानियाँ हैं। लेकिन ऐसा कम ही हुआ है। 85 कहानियों में 4–5 कहानियाँ किसी कहानीकार की प्रतिभा को नहीं दिखातीं।

शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में आंचलिक शब्दों एवं पदों की एक झलक द्रष्टव्य है :

जीमना, बाहान, सिरकी, (इन्हें भी इन्तजार है)

गोड़ चुमौना, गराँव, ढुर्रियाँ, भकचोनर, चपेटना, जाकड़ी, लहालोट, पक्खा, मुक्का (शाखामृग)

ओरवानी, झोंझ, बीया, खित्ता, बहिरबंड (सुबह के बादल)

हिश...., कोंढ़ी (ताड़ीघाट का पुल)

करइल, उमाच, मंगर, उनये, डिठौने, पछुवों, सिपाये, कजरी, जानू, छौरे, अछोर (कर्ज)

लह जाना, बकलोल, रन्ना (अँधेरा हँसता है)

लोई, काँखासोती, बखरी, निकसार, अइया (बड़ी लकीरें)

हँस मुसनी, बेंगा, एकलाई, भेली, सालन, कवर, पोढ़ाना, अनतै (तकावी)

डौन, लिहाड़ी, लगाबदी, चौचक, दहाने–बहाने, मूड़ ("तो......")

अरार, छनगी, काशीनाथ की सरन, लेवन, सिकड़े, कलौंज, करुआना (कर्मनाशा की हार)

मार्कण्डेय आंचलिक शब्दों से बचते हैं तथा देशज शब्दों को हिन्दी भाषा का संस्कार देते हैं। क्रियापदों में यह संस्कार शिव प्रसाद सिंह के यहाँ भी है, मार्कण्डेय के यहाँ भी। दोनों जगहों पर वह सहज होकर ही आता है।

बुड्‌ढा कहाँर बोला – "नइहर छोड़ते किसका हिया नहीं फटता !" (मरहला)

".....जाओ तुम्हारी अम्मा जोह रही थीं।" (एम यात्रा सतह के नीचे)

.....उसके एक–एक अक्षर को उचारने में पहाड़–सा समय लग गया जैसे। (नन्हों)

"....किसका करम इतना चोख है, भइया?"

(मधुपुर के सीवान का एक कोना)

"....उधर जो दौरी–दवन की मजूरी–धतूरी थी, वह भी गयी !"

(वही)

'तो इसमें कौन बुराई है, भाई, जो तुम इतना पिड़पिड़ाय रहे हो।'

(बीच के लोग)

"कहाँ जा रहे हो महाजन, इतनी बेला!" (सवरइया)

"जानवर भी अपना–पराया चीन्हते हैं, बहिनी!...... .(वही)

यही नहीं, बल्कि हिन्दी भाषा के शब्दों को देशी संस्कार भी दिया गया है, जो दोनों कहानीकारों में मिलता है।

'भासन शुरु न करो, भइया नहीं तो कोई पाल्टी पकड़ लेगी और फिर बुझावन महतो की तरह तुम्हारे घर में भी गुपुत सभा होने लगेगी।' (बीच के लोग)

'बात ठीक कहते हो हुड़दंगी, लेकिन यह भारत भूँय है। बड़े–बडे तीसमार यहाँ आए और गये। क्या–क्या लोगों ने नहीं किया लेकिन आपन सन्सकीरत जस की तस बनी रही।' (वही)

"अबहीं क्या उसे रोकड़ मिल जाएगा" (एक यात्रा सतह के नीचे)

"..आदमी–मवेशी की छय होगी, चारो ओर हाहाकार मच जाएगा, परलय होगी।"

(कर्मनाशा की हार)

देशज शब्दों को हिन्दी भाषा का संस्कार हो या हिन्दी भाषा के शब्दों का देशज संस्कार सभी का प्रयत्न चरित्रों को यथार्थ बनाने के लिए तथा भाषा को जीवन के करीब ले जाने के प्रयास के तहत ही हुआ, जो नई कहानी की अपनी विशेषता थी।

6.6.5 देशी–विदेशी शब्द

हिन्दी भाषा एक साझी सोच और साझी संस्कृति की देन है। देव वाणियों ने उसमें जितना योग दिया है उससे कम योग 'असुर', 'यवन' एवं 'म्लेच्छ' वाणियों ने नहीं दिया है। हिन्दी भाषा की अपनी जो पहचान है वह इन्हीं सामासिकताओं के साथ है, जो आम बोलचाल में तो सुरक्षित रही ही, हिन्दी साहित्य ने भी उसे कम संरक्षण नहीं दिया।

इसी तरह आधुनिक हिन्दी गद्य के विकास में आजादी के आन्दोलन के दौरान विभिन्न राष्ट्रीयताओं में पनपती सामूहिक चेतना ने महत्वपूर्ण योग दिया। हिन्दी गद्य साहित्य ने उसी चेतना को वाणी दी जो आगे चलकर कथा साहित्य की निधि बनी। इसलिए कहानियों मे आमबोलचाल की भाषा का जो सँवरा हुआ रूप प्रेमचन्द्र, गुलेरी के यहाँ मिलता है, नई कहानी ने स्वयं को उसी से जोड़ा। इसलिए उसमें हिन्दी भाषा का प्रवाहमान रूप मिलता है, जिसमें अरबी, फारसी, अंग्रेजी, उर्दू के आम बोलचाल में आने वाले शब्द भी मिलते हैं। मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में ऐसे शब्दों से परहेज नहीं है। बशर्ते, वे शब्द कथानक एवं चरित्र के विकास में योग देते हों, सहजता एवं स्वाभाविकता के साथ यथार्थ की सृष्टि करते हों। मार्कण्डेय यहाँ भी शिवप्रसाद सिंह से अधिक सजग हैं। देशी शब्दों का प्रयोग हम देख आये हैं, विदेशी शब्दों में अंग्रेजी, अरबी–फारसी शब्दों का उल्लेख महत्वपूर्ण है।

दुकान पर बैठूँगी, सौदे–सलूफ का परबन्ध करूँगी, लेहना–तकादा देखूँगी.

(घूरा)

तमाशबीन, बुलंद आवाज, अनजान आदमी, बेशुमार, अहसास, सलाम, उस्ताद, आखिरी समा, लत, अजब, महफिल, जवान, इनाम, कर्ज, रोशनी, जोश, हलाकाँन, पसीना, जुम्मिस, गरूर, तमीज।

(हंसा जाई अकेला)

मरद–मेहरारू, दुआ, दुनिया–जहान, फुरसत, तकरपोस, इश्तिहार, तमाशा, लालटेन, नतीजा (हंसा जाई अकेला)

मोट, टूबवेल, माइनर, टक्कर, सिनेमा, दरखास

(मधुपुर के सीवान का एक कोना)

पाल्टी, लूस, पुरवट, बेफजूल, फायदा, माफिक, खतौनी, काबिज, पंपिन–सिट, मिटिंग, स्कूल–कालेज, ब्लाक।

(बीच के लोग)

इस तरह मार्कण्डेय की कहानियों में वहीं शब्द आये हैं जो बोलचाल की भाषा बनकर यहाँ की भाषा में समाहित हो चुके हैं। लोकप्रचलित शब्दों के रूप में आज

उनकी पहचान बिलकुल देशी बनकर रह गयी है, जिसका प्रयोग मार्कण्डेय अपनी कहानियों में कर चरित्रों एवं परिवेश को हकीकत का जामा पहनाते हैं।

शिव प्रसाद सिंह की कुछ कहानियों को छोड़कर बाकी में शब्दों का प्रयोग या सहज समायोजन न होकर, प्रदर्शन मिलता है। वे अंग्रेजी, अरबी–फारसी के सरकारी या अदालती शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, जो कि आमतौर पर साधारण जनों में कम प्रचलित है, ज्यादेतर वे सरकारी महकमों या उससे सम्बन्धित वर्गों तक ही सीमित रहती हैं। शिव प्रसाद सिंह के साथ–समस्या वही है, आत्मनिष्ठता, वैयक्तिकता, शास्त्रीयता जिसके चलते उनका रचनात्मक व्यक्तित्व कहानियों में पूर्णतः विगलित नहीं हो पाता। शिव प्रसाद सिंह पात्रों की भाषा के शब्द कम बोलते हैं और पात्र, शिव प्रसाद सिंह के शब्दों को अधिक बोलते हैं।

मसवीरी, इजाफा, नक्कासी, पनाह, गुनाह, नेजा, तफरीह, बसर, सैलानी तबियत, आमद, दास्तान, लिबास।

(शाखामृग)

हुक्का, इत्तला, सदरमुकाम, बेसाख्ता (एक वापसी और) आसूदगी, जुर्म, दफा, ताजीरात

("तो.....")

मसरफ, तबर्रा, खस्ता, खालिस, नालिस जैसे शब्दों के प्रयोग के लिए ही जैसे कहानियाँ लिखी गई हों। शिव प्रसाद सिंह परिवेश एवं भाषा की अपनी जानकारियों का पिटारा कहानियों में खोलते हैं, जिसमें कहानियों का उद्देश्य बस इसी का प्रदर्शन रहता है। पहले ही कहा जा चुका है कि कहानी में सबसे मुख्य होता है केन्द्रीय उद्देश्य एवं उसकी विचारधारा लेकिन शिवप्रसाद सिंह के लिए कहानी आंचलिक जानकारियों, तथा उससे जुड़ी आलोचकीय, समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रदर्शन है। वे कहानियों में तथ्य एवं ब्यौरे गिनाते हैं। रीतिकालीन प्रवृत्तियों की छाप उनकी कहानियों में सर्वत्र देखी जा सकती है।

शिव प्रसाद सिंह ने बोलचाल में शामिल विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है वहीं जो प्रयोग कि मार्कण्डेय करते हैं लेकिन वे यह ध्यान नहीं रखते कि भाषा–बोली को इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसका प्रयोग कहानियों में होता है, न कि

कहानियों को इस बात का कि उसके अन्तर्गत भाषा–बोली की विशेषताएँ प्रदर्शित की गयी हैं।[4]

6.6.6. स्वप्न-प्रतीक और यथार्थ

शिव प्रसाद सिंह की कहानी 'परकटी तितली' स्वप्न–प्रतीकों को ही लेकर लिखी गयी है :

'उस कोठरी में एक ओर ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियों के बीच खाली जगह में पुराने बोरे का एक टुकड़ा, दो–चार टूटी–फूटी ईंटे, और टूटे, मुर्चा लगे लोहे का टुकड़ा पड़ा था। बगल में एक हाँड़ी,........'

(परकटी तितली)

'कमरा चौड़ा था, जिसमें उसी के नाप की मोटी पर्त की रंगीन दरी बिछी थी। एक तरफ दीवार में सोफा सेट था। सामने एक छोटी सी अठकोनी मेज थी, जिस पर मिर्जापुरी मिट्टी के एक गुलदस्ते में मुर्झाए हुए, निर्गन्ध अंग्रेजी फूल थे।'

(वही)

'सामने एक पहाड़ी का दृश्य था। ऊँचे–ऊँचे भुर्ज के पेड़। उस ऊँची पहाड़ी पर सांप की तरह घूमती हुई चिकनी पगडण्डी, जो उसे विशाल शिवलिंग की तरह अपने गुंजलक में लपेटे जा रही थी। पगडण्डी से दो छायाएँ चली जा रही हैं, काली–काली छायाएँ।'

(वही)

'उसकी लम्बी–लम्बी उँगलियाँ वीणा के तारों पर फिरने लगीं। मैंने उसकी आंखों में देखा, उसके अधरों पर देखा, सर्वत्र एक प्रसन्नता की छाया थी।'

(वही)

'दक्खिन वाली दीवार का दरवाजा खोलकर भीतर घुसी।... कमरे के भीतर एक चारपाई थी जिस पर सफेद बिस्तरे पर एक आदमी लेटा था। जिसके दोनों पैर, घुटने तक कट गये थे।'

(वही)

'वह चुपचाप सीढ़ियों पर उतरती हुई चली और मैं उसके पीछे मूक चलता रहा। दरवाजे पर आकर वह रूकी। मैं चुपचाप उस कमरे से बाहर हुआ।'

(वही)

इसमें अधिकांश स्वप्न प्रतीक सेक्स से सम्बन्धित हैं जिसमें पुरूष जननेन्द्रिय तथा स्त्री जननेन्द्रिय से सम्बन्धित प्रतीक हैं। फ्रायड लिखता है– शिश्न की मुख्य प्रतीक वही वस्तुएँ हैं जो आकृति में इससे मिलती–जुलती हैं, अर्थात लम्बी और सीधी खड़ी होने वाली होती हैं जैसे– लाठी, छतरी,, खम्भा,, पेड़ और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ। (फ्रायडः मनोविश्लेषण, पृ.142)[5]

इसी में वह आगे कहता है, 'पुरूष–लिंग के कम आसानी से समझने में आने वाले प्रतीक कुछ रेंगने वाले कीड़े और मछलियाँ है; सबसे विचित्र प्रतीक है साँप, टोप और चोगा.... इसी तरह वह हाथों एवं पैरों को भी उसी में गिनाता है। (वही, पृ.143)[6]

इसी तरह स्त्री जननेन्द्रियों का प्रतीकात्मक निरूपण ऐसी सब वस्तुओं से होता है जिनमें उनकी तरह स्थान को चारों ओर से घेरने का गुण होता है, या जो पात्र के रूप में प्रयोग में आ सकते हैं, जैसे गढ़े, खोखली जगह और गुफा तथा मर्तबान और बोतलें,... पेटियां, तिजोरियां, जेब.... अल्मारियाँ, स्टोव, कमरे, दरवाजे, किवाड़, लकड़ी, कागज, मेज।

(वही, पृ.143)[7]

जैसा कि, शिव प्रसाद सिंह की नई कहानी में प्रयोग करते रहने की स्थिति है, यह कहानी उसी का एक रूप है। कहना न होगा कि, इससे कहानियों का भला नहीं होने वाला था। जिस उद्देश्य को लेकर नई कहानी आन्दोलन उठा था अर्थात जीवन की सच्चाइयों, उसके संघर्षों, द्वन्द्वों को लेकर विडम्बनाओं को लेकर, ऐसी कहानियाँ उसे भटकाती हैं। नई कहानी जहां बदलते जीवन सन्दर्भों को तलाशने निकलता है, उसकी कठोरता, उसकी जिजीविषा को पकड़ने निकलता है, वहाँ शिल्प और भाषा से सम्बन्धित इस तरह के प्रयोग उसे दूसरी दिशा में ले जाते हैं। और न चाहते हुए भी उसे पूँजीवादी समर्थित रूपवादी अन्धी गली की तरफ मोड़ देते हैं, जहां प्रेम और मृत्यु तथा निजीराग के अतिरिक्त जीवन और जीवन के यथार्थ के नाम पर कुछ बचता ही नहीं।

बुर्जुआ और सामन्ती विचारों से प्रभावित लेखकों के लिए आन्तरिक संसार का कलात्मक चित्रण ही यथार्थवाद की कसौटी है। ऐसे लोग जीवन और जगत को अमूर्त और भाववादी दृष्टि से देखते हैं। वे यथार्थ को व्यक्ति और उसकी समस्याओं विशेष

रूप रो रोक्स के चित्रण को प्रमुख मानते हैं। उनके लिए व्यक्ति केवल यौन वर्जनाओं का पुंज है। वे यह मानते हैं कि साहित्य हमारी अन्तश्चेतना में पड़े भावों एवं संस्कारों का यथार्थ उन्मेष है। वे पूरे सामाजिक मूल्यों पर व्यक्ति के हावी होने की आकांक्षा करते हैं। (साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पृ.148)[8] ऐसे लेखक प्रकृति और वातावरण के कलात्मक सृजन में अधिक रूचि लेते हैं। लेकिन इनके उद्देश्य, लक्ष्य अंधेरे के कुहारो में खोए रहते हैं।

(वही, पृ.149)[9]

जैसा कि पहले देख आए हैं कि शिव प्रसाद सिंह यथार्थ के नाम पर जीवन का भ्रम पैदा करते हैं। कुंवर पाल सिंह लिखते है, जिन्दगी इतनी हसीन नहीं है जितनी आदर्शवादी मानते हैं और उतनी भयानक और विकृत भी नहीं है जितनी व्यक्तिवादी प्रस्तुत करते हैं।

(वही, पृ.148)[10]

शिव प्रसाद सिंह यथार्थ के नाम पर,या तो शिल्प सम्बन्धी भाषा का भ्रम रचते हैं, या फिर विषय के नाम पर 'अन्धकूप', मुरदा–सराय', 'परकटी तितली', 'हत्या और आत्महत्या के बीच', 'टूटे तारे', 'ताड़ी घाट का पुल', 'धतूरे का फूल', टूटे शीशे की तस्वीर', 'प्लास्टिक का गुलाब', 'मैं कल्याण और जहांगीर नामा', 'केवड़े का फूल', 'हाथ का दाग', महुवे का फूल', 'बरगद का पेड़', 'मंजिल की मौत', 'पोशाक की आत्मा', जैसी कहानियाँ हैं जहां प्रेम का गम है, मृत्यु का शोक है, स्त्री–पवित्रता की नैतिकता है।

6.6.7. अतिरिक्त शब्द योजना

आम बोलचाल की भाषा में कभी–कभी भाव बलाघात के रूप में, कभी अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करने में, कभी शब्द–बालाघात के चलते अतिरिक्त शब्द योजना या निरर्थक शब्द योजना करनी पड़ती है। यहां उसका कोई अलग अर्थ नहीं होता बल्कि एक ही अर्थ को और प्रभावी बनाने में योग देना होता है। इससे भाव–भंगिमा एवं मुद्रा की भी अभिव्यक्ति होती है। कहानी में लेखक द्वारा इसका प्रयोग जहां , उसे मूर्त बनाने के लिए होता है, वहीं संवादों में उसका प्रयोग चित्र उपस्थित करता है तथा चरित्रों को सजीव बनाता है। इसका प्रयोग दोनों कहानीकारों ने किया है।

गड़हे–गुच्चे, ऊभ–चूभ, देश–दिहात, नामी–गिरामी, भाव–ताव, बह–दह, हूँ–हाँ, छैल–छबीलों, ताम–झाम, बाजा–गाजा, हल्दी–सिंदूर, मौज–उत्सव, हंसी–रूलाई, गीन–मेख, भीख–भोजी, सौदा–सुलुफ, खेल–तमाशे, हाय–तौबा, दुनिया–जहान, चोरी–चमारी, दहाने–बहाने, लोआ–पोआ, (शिव प्रसाद सिंह)

इसमें गड़हे–गुच्चे, बह–दह, ऊभ–चुभ, भीख–भोजी, दहाने–बहाने, लोआ–पोआ, जैसे युग्म देशज हैं।

चिरइ–चुरमुन, भूँय–बाँगर, लेहना–तकादा, सौदे–सलूफ, हरजी–गरजी, शादी–ब्याह, लकड़ी–फाटा, अनाज–पानी, मरने–जरने, मजूर–धतूर, मर–बिलाय, पान–दान, गुग–सुम, नाव–गांव, खाइयों–खंदकों, चमार–सियार, जात–कुजात, छुआ–छिरका, दीन–धरम, वजड़ी–बजड़े, साज–बाज, खिला–पिला, आठ–दस, साफ–सुथरी, खर्ची–वर्ची, गाहे–वगाहे, भूल–चूक, कोल्हू–चक्की, स्कूल–कालेज, आसरम–ब्लाक, ठाकुर–बाम्हन। (मार्कण्डेय)

यहाँ देशज युग्म अधिक हैं, साथ ही, वर्गीय चेतना का भी प्रभाव है। एक तरफ चमार–सियार, जात–कुजात, छुआ–छिरका है तो दूसरी तरफ ठाकुर–बाम्हन, हरजी–गरजी, दीन–धरम आदि शब्द युग्म हैं जो वर्गीय चरित्रों को उद्घाटित करते हैं। इसी तरह चूंकि मार्कण्डेय भूमि समस्याओं के प्रति सजग, सचेत रहते हैं इसलिए उसका प्रभाव भी है। भूँय–बाँगर लेहना–तकादा जैसे शब्द युग्मों का प्रयोग हुआ है। इससे भाषा का सांस्कृतिक स्वरूप भी निखरता है जो सामसिकता की पहचान को स्पष्ट करता है।

6.6.8. कृषि-समाज से जुड़ी चीजें

नागार्जुन की एक कविता इसका एक बढ़िया चित्र उपस्थित करती है जहां मनुष्य के सुख–दुख में कौआ, गिलहरी, चूहे छिपकली यहां तक कि कानी कुतिया भी शामिल है। 'अकाल और उसके बाद' कविता की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं;

> कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
> कई दिनों तक कानी कुतिया, सोई उसके पास
> कई दिनों तक छिपकलियों की लगी भीत पर गश्त
> कई दिनों तक चूहे की हालत रही शिकस्त।

दानें आए घर के अन्दर, कई दिनों के बाद।
धुआं उठा आंगन के ऊपर, कई दिनों के बाद।
कौए ने खुजलाइ पांखें कई दिनों के बाद।
चमक उठी घर भर की आँखें, कई दिनों के बाद।[11]

यानी, कृषि जीवन में आदमी के सुख–दुख के भागीदार पशु–पक्षी जन्तु–जानवर भी होते हैं। मार्कण्डेय की कहानी 'दाना–भूसा' इसका मार्मिक चित्र सामने रखती है। मार्कण्डेय की दृष्टि बर्हिमुखी है। वे एक सजग रचनाकार हैं। उनकी दृष्टि फैली हुई है, वह चिरइ–चुरमुन से लेकर खरगोश तक की दौड़ लगाती है। शिव प्रसाद सिंह का परिवेश चूंकि स्मृतियों से निकलता है, उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी है, उसमें व्यापकता की कमी है। वे कृषि समाज से जुड़ी इन छोटी–छोटी लेकिन महत्वपूर्ण चीजों पर नजर नहीं डाल पाते।

(i) **पक्षी :** भुचेंग, बुलबुल, श्यामा, कोयल, मैना, दहियल, कबूतर, सारस, हारिल, वगुला, टिटहरी, पनडुब्बी, नीलकण्ठ, महोप, सरोइया, मोर, चील्ह, खंजन, तीतर, तोता, गौरैया, कौआ, (मार्कण्डेय)
मोर, बया, जांघिले, लेदियां, चाहे, कराकुल, (शिव प्रसाद सिंह)

(ii) **पेड़-पालव :** मार्कण्डेय की कहानी 'गुलरा के बाबा' में आमों के स्थानीय नाम विशेष आकर्षित करते हैं। कहानियों में उनके प्रयोग से सजीवता और स्वाभाविता तो आयी ही है भाषा भी प्रभावी हुई है। अमिलहवा, लेहसुनवां, अकेलवा।

(iii) **फूल-पत्ती :** शिव प्रसाद सिंह की कहानियों में शीर्षकों के रूप में तो केवड़े के फूल, धतूरे के फूल, महुवे के फूल आदि आते हैं लेकिन प्राकृतिक चित्र उपस्थित करने में वे असफल रहे हैं जबकि मार्कण्डेय की दृष्टि से चकवड़ तक नहीं बचते। रूमानियत के बावजूद यह भाषा–चित्र द्रष्टव्य है;

'अगल–बगल सनई और ज्वार–बाजरे के बड़े–बड़े पौधे चुप–चाप डरे– से खड़े थे। सनई के फूलों की पंखुड़ियां और चकवड़ की पत्तियाँ, जैसे किसी दुख में डूबकर सिकुड़ गयी थीं। हवा बहुत थक कर आम की पत्तियों पर सो गई थी। रास्ता किसी मधुर स्वप्न में डूबा हुआ था और इधर–उधर हुई कांस का मन बुढ़ापे के कारण लटक गया था।' (पान–फूल)

इसके अतिरिक्त पुरइन के पत्ते, कमल का फूल, कनइल की डालियाँ, पारिजात, शेफाली भी इस दृष्टि से बच नहीं पाते।

(iv) **मछलियाँ** : मछलियां, जैसा कि पहले चर्चा हो आयी है उस क्षेत्र की आजीविका में एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। मार्कण्डेय के यहां जहां उनकी भरमार है वहीं शिवप्रसाद सिंह रोहू चेलवा तक ही सिमट कर रह जाते हैं। मार्कण्डेय की कहानी 'प्रलय और मनुष्य' में जलचरों को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

(v) **खेल-कूद** : खेल-कूद ग्रामीण संस्कृति के अभिन्न हिस्से होते हैं। शिव प्रसाद सिंह के यहां कुछ गंवई खेलों की चर्चा उल्लेखनीय है जिसमें धुरिया-विचार, होला-पाती मुख्य हैं। आम खेलों में कबड्डी, कुश्ती-दंगल की चर्चा दोनों कहानीकारों के यहां मिलता है। गिल्ली-डण्डा की भी चर्चा है। इसके अलावा रामलीला एक ग्रामीण सांस्कृतिक प्रयोजन है जिसकी चर्चा मार्कण्डेय के यहां मिलती है वहीं नौटंकी की चर्चा शिव प्रसाद सिंह के यहाँ है।

कुल मिलाकर इनसे एक ग्रामीण परिवेश की जीवन्तता और सजीवता तो सामने आती ही है, सबसे बढ़कर भाषा की प्रतीकात्मकता, प्रभावोत्पादकता में भी वे प्रतीक, विम्ब, उपमान विशेषण के रूप में अपना योग देते हैं। भाषा का सांस्कृतिक महत्व भी इसी रूप में सुरक्षित रहता है जिसपर लोक जीवन के रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा का प्रभाव पड़ता है। कहानियां इसीलिए भाषाई रूप में सांस्कृतिक निधि भी होती हैं जिनसे किसी भी समाज का इतिहास बखूबी पढ़ा जा सकता है। इसकी झलक हम प्रथम अध्याय में देख आये हैं।

टिप्पणी

1.speech in the english novel-norman page, page 51

2. 'मार्कण्डेय की कहानियां' (हंसा जाई अकेला की भूमिका)–मार्कण्डेय,

3. वही, पृ.185

4. 'उपन्यास–लेखन शिल्प' (अनूदित)–ए.एस. ब्युरैक (सं.), पृ.180

5. 'फ्रायडः मनोविश्लेषण' (अनूदित)–देवेन्द्र कुमार, पृ.142

6. वही, पृ.143

7. वही, पृ.143

8. 'साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद' कुंवर पाल सिंह (सं.), पृ.148

9. वही, पृ.149

10. वही, पृ.148

11. 'नागार्जुन (प्रतिनिधिकविताएँ)'–नामवर सिंह (सं.), पृ.98

❑ ❑ ❑

अध्याय - 7
उपसंहार

उपसंहार

कहानी–साहित्य का इतिहास मनुष्य की आदिम जिज्ञासा के इतिहास का ही एक रूप है। भले ही आधुनिक कथा–साहित्य का सम्बन्ध पूंजीवादी विकास से जुड़ा हो और उपन्यासों को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा गया हो लेकिन वह उसी जिज्ञासा का ही बढ़ा हुआ रूप और उसकी आधुनिक अभिव्यक्ति थी क्यूँकि, मनुष्य के संघर्षों की कहानी नई नहीं थी, नया था तो उसकी अभिव्यक्ति का तरीका।

हमारे देश में यूँ तो कथा–साहित्य के आने के पूर्व काव्य ही साहित्य की केन्द्रीय विधा थी, लेकिन महत्वपूर्ण है, कि उनको 'कथा' कहा गया है। रासोकारों से लेकर मानसकार तक ने अपने काव्य को कथा कहा है। इसका सीधा मतलब यहीं हो सकता है, कि हमारे देश में लोकजीवन में किस्सा–कहानियों की विशाल परम्परा अलिखित रूप में चली आयी थी जिसकी अभिव्यक्ति काव्यों के रूप में होती थी। फिर, हमारे देश में रूपक कथाओं, पुराण कथाओं, जातक कथाओं की लोकप्रियता भी उसी ओर इशारा करती है। जाहिर सी बात थी, कि आधुनिक कथाएँ भी वहाँ से प्रभाव ग्रहण करतीं क्यूँकि, कोई भी मनुष्य अपनी संस्कृति का ही अंग होता है। एक लेखक उससे जूझकर ही आकार ग्रहण करता है। कहानी–परम्परा और विकास के अन्तर्गत यहीं देखने का प्रयास किया गया है। जहाँ, इन्द्र सम्बन्धी कथाओं का विकास, सुर–असुर संघर्षों की कथाओं का विकास, धार्मिक कथाओं का विकास कैसे समय के साथ रूप और आकार ग्रहण करता हुआ समाज और मनुष्य की प्रवृत्तियों से, समस्याओं से जुड़ता रहा है।

आधुनिक हिन्दी कहानियों ने जहाँ स्वतन्त्र एवं लोकप्रिय पहचान बनायी वहाँ अपने जातीय कथा साहित्य परम्परा और आधुनिक कथा साहित्य के बीच कड़ी के रूप में प्रेमचन्द मिलते हैं जहाँ कहानी लिखित रूप में धार्मिक आवरण एवं मन बहलाव का आवरण हटाकर मनुष्य के चिन्तन का लौकिक रूप ग्रहण करती है। समय से सीधा साक्षात्कार करती हुई सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है। इसी यथार्थ से जुड़ने की कोशिश, समय के समानान्तर, शोध–विषय से जुड़े दोनों कहानीकार अपने–अपने ढंग

से करते हैं। उल्लेखनीय है कि दोनों कहानीकार एक ही आन्दोलन (नई कहानी) की उपज एवं समकालीन तो हैं ही, एक बड़ी समानता उनके बीच यह है, कि वे एक ही अंचल से ताल्लुक रखते हैं। लेकिन, समानता के इन तत्वों के बीच असमानता के विन्दु अधिक आकर्षण प्रस्तुत करते हैं। जहाँ दृष्टिओं का अन्तर महत्वपूर्ण हो जाता है। चाहे वह अपने युग एवं परिवेश से जुड़ने की, पहचान की प्रक्रिया हो, या फिर विषयों के चुनाव एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रिया हो।

मार्कण्डेय मनुष्य की समग्र सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक चेतना के सजग, सचेत कहानीकार हैं। वे समय और समाज से सीधे मुठभेड़ करते कहानीकार हैं। उसके मूल्य, उसकी नैतिकता, उसके अन्तर्विरोध वहाँ रूप और आकार ग्रहण करते हैं। वे समग्र परिवर्तनों के प्रति गहरी अन्तर्दृष्टि से परिचालित होते हैं। इसीलिए उनमें चेतना के कई स्तर मिलते हैं तथा चरित्रों की प्रकृति में हो रहे परिवर्तनों के कई स्तर भी दिखते हैं। पुराने पितृवत सम्बन्धों पर टिके कृषि–समाज में तथा नये पूंजीवादी–नवसामन्ती कृषि समाज में हो रहे चरित्रगत परिवर्तनों को भी लक्षित करने में वे सफल हैं। और ऐसा इसलिए कर पाते हैं, कि वे वस्तुगत ऐतिहासिक चेतना से सम्पन्न रचनाकार हैं तथा वर्गीय इतिहास की गहरी समझ के साथ कहानियों में उतरते हैं। उनकी पक्षधरता स्पष्ट है। वे स्त्री मुक्ति के सवाल को वर्ग मुक्ति से जोड़कर सामाजिक रूपान्तरण की वकालत करते अकेले कहानीकार हैं। यह उनकी सजगता ही है, कि वे बुर्जुआ समाज की बुनियादी सीमाओं को रेखांकित करने में अन्य कहानीकारों से आगे रहते हैं। जो उन्हें पीछे प्रेमचन्द से गहराई से तो जोड़ता ही है आगे चलकर नब्बे के दशक की कथा–चेतना से भी जोड़ता है। कहना न होगा, कि इस दशक में खासकर के महिला उपन्यासकारों ने प्रेमचन्द की परम्परा का असली बढ़ाव प्रस्तुत किया है जबकि नई कहानी के उनके वारिस अपनी रचनात्मक मुक्ति आजादी के पहले की घटनाओं की पड़ताल में तलाश रहे हैं, नई दृष्टि ढूढ़ रहे हैं। जहाँ तक शिव प्रसाद सिंह का सवाल है, वे ग्राम कहानीकारों के रूप में तो देखे जा सकते हैं लेकिन उन्हें प्रेमचन्द की परम्परा में नहीं रखा जा सकता, ऐसा करना प्रेमचन्द की परम्परा को गलत दिशा देना होगा। अगर उनकी कोई परम्परा ढूढ़नी ही है तो वह संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक रूपवादी एवं प्रकृतिवादी रूझानों में ढूढ़ी जानी चाहिए।

शिव प्रसाद सिंह दृष्टि के मामले में शास्त्रीय ठहरते हैं जो हमारे संस्कृत साहित्य की परम्परा से चली आयी है। वे साहित्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों की अगुवाई नई कहानी मे करते हैं। इसीलिए वे कोई वृहत्तर सामाजिक सन्दर्भ उभारने में असफल रहे हैं। उनकी कहानियों में सामाजिक सन्दर्भ जिस नाटकीय ढंग से आता है उसी तरह गायब भी हो जाता है। कहानियाँ समाज में घुसते–घुसते अचानक निजता की तरफ मुड़ जाती हैं, जहाँ दुःख, वेदना, पीड़ा, सामाजिक कटाव के सिवाय कुछ नहीं होता। समाज उनके लिए 'मुरदासराय', 'अन्धकूप' हो जाता है। उनकी विचारधारा जहाँ उन्हें सामन्ती नैतिकता के दायरे में खींच ले जाती है वहीं उनकी दृष्टि आत्मवादी एवं नितान्त वैयक्तिक हो जाती है। यहीं कारण है कि कुछ उपेक्षितों, पीड़ितों को लेकर लिखी गयीं उनकी कहानियाँ करूणामूलक दयादृष्टि के सिवा कुछ उभार नहीं पातीं। वे समाज के बुनियादी ढांचे से सम्बन्धित कोई भी प्रश्न उठाने में असफल रहते हैं। उनकी कहानियों में वस्तुगत ऐतिहासिक समझ का नितान्त अभाव तो दिखता ही है केन्द्रीयता भी गायब रहती है। शिव प्रसाद सिंह के पास कोई केन्द्रीय विचार नहीं है जिसके प्रति कोई तीव्र प्रतिक्रिया महसूस की जा सके जबकि मार्कण्डेय की कहानियाँ केन्द्रीय विचारों की प्रतिक्रिया के आलोक में ही सामने आती हैं।

संरचनात्मक या संस्थागत परितर्वतनों को लेकर जो उद्वेलन मार्कण्डेय के अन्दर है, वह शिव प्रसाद सिंह के यहाँ नहीं, और इसका प्रमाण कहानियाँ स्वयं हैं। एक तरफ जहाँ राजनीतिक चेतना को प्रतिबिम्बित करती अनेक कहानियाँ हैं वहीं भूमिसुधारों से जुड़ी सच्चाइयों को पूरी शिद्दत से व्यापक पैमाने पर उठाने वाले वे अकेले कहानीकार हैं। आजादी के बाद होने वाले सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों एवं जनता–जर्नादन पर पड़ने वाले उसके प्रभावों तथा परिणामों पर जो दृष्टि, जो समझ मार्कण्डेय की कहानियों में मिलती है, वह उतनी गहराई से उनके समकालीनों में किसी के यहाँ नहीं। कहना लाजिमी हो जाता है, कि आजादी ने अगर किसी की जिन्दगी के सवालों को अनसुलझा छोड़ दिया, तो वे थे, भूमिहीन खेतिहर मजदूर। और उस सवाल की प्रासंगिकता किसी ने महसूस की तो वे अकेले कहानीकार थे मार्कण्डेय। यहीं नहीं पूंजीवादी समय की धमक को पहचानने वाले कहानीकारों में उनका स्थान अलग है जहाँ वे प्रेमचन्द और नब्बे के दशक के कथा–साहित्य के बीच की अकेली

कड़ी वन जाते हैं। इसी चेतना के बल पर मार्कण्डेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय और नागार्जुन के कविता–संसार के समानान्तर कथा–संसार रचते, अपने समय के अकेले कहानीकार हैं।

नई कहानी आन्दोलन अपने शिल्पगत प्रयोगों के लिए भी जाना जाता है। लेकिन उसके कुछ नकारात्मक पहलू भी थे जहाँ सिर्फ प्रयोग के लिए ही प्रयोग किये जाने लगे। विषय से लेकर शैली तक। शिव प्रसाद सिंह ऐसे प्रयोगकारों में से एक थे। उनकी कहानियों में 'मैं' का बोलबाला है। वह दोहरी भूमिका में उतरता है नरेटर और भोक्ता, जहाँ नरेटर का चरित्र ही प्रधान हो जाता है, उसकी दया, उसकी करूणा, कहानी का मुख्य उद्देश्य बन जाती है। वह जिसकी कहानी कहता है वह गौण हो जाता है। जहाँ कोई सन्दर्भ उभरने के बजाय नरेटर के मानवीय गुण उभरते हैं।

शिव प्रसाद सिंह स्मृतियों के लेखक हैं, साथ ही वे आंचलिक मोह से ग्रस्त हैं जिसके चलते उनकी कहानियाँ संस्मरणात्मक तो हुई हैं, आंचलिकता की ओर झुक गयी हैं। उनकी कहानियों में कोई सार्वदेशिक चरित्र नही उभरता और न ही कोई सार्वदेशिक परिवेश। उनकी सारी कहानियों को मिला दिया जाय तो वहाँ आंचलिकता ही उभरकर आएगी। उसकी नैतिकता, उसकी रूढ़ियाँ, उसकी भाषा–बोली का मिजाज एवं उससे जुड़े ग्रामीण चित्र।

मार्कण्डेय पूरी तैयारी के साथ कहानियों में उतरते हैं। विषयों के चुनाव से लेकर शैली–भाषा तक के मामले में वे सचेत रहते हैं। कहीं भी कहानियों का कथ्य परिवेश के पीछे नहीं चला जाता आदि से अन्त तक उसमें संगठन देने की कोशिश रहती है। शिव प्रसाद सिंह के यहाँ विषयान्तर तो है ही, पूर्वदीप्तियों के अधिकाधिक प्रयोग से उनकी कहानियाँ फुटकल चित्रों का समायोजन सी करती दिखती हैं जहाँ उनकी कहानियाँ कलम की घिसावट होकर रह जाती हैं।

कहानियों के कुछ अपने विधान होते हैं जो उसे अन्य साहित्य विधाओं से अलगाते हैं। प्रमुख घटना, प्रमुख पात्र एवं कथानक को एक संगठन का रूप देकर प्रभावों एवं धारणाओं की सृष्टि करना तथा जिज्ञासा को बनाए रखना कहानी का अपना लक्ष्य होता है और एक सजग कहानीकार उसका पालन करते हुए पात्रों को सजीव बनाता, घटनाओं को जीवन्त कर देता है उसमें प्राण डाल देता है। कहानीकार

पात्रों को पाकेट में नहीं रखता बल्कि उन्हें मुक्त करता है। अर्थात वे अपना स्वतन्त्र एव स्वाभाविक विकास करते हैं। कहानियों के ये नियम कहानीकारों पर लागू होने चाहिए लेकिन शिव प्रसाद सिंह के कुछ अपने नियम–कानून हैं जो कहानियों पर लागू होते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि न तो घटने वाली सभी घटनाएँ कहानी बन जाती हैं, और न ही विशिष्टता का दावा करने वाला हर आदमी। लेखक को चीजों को चुनना पड़ता है तथा उसे ऐतिहासिक विकासक्रम में रखकर, सामान्य नियमों से परिचालित करना पड़ता है। उन्हें एक विचारधारा देनी पड़ती है। स्मृतियों और संस्मरणों के लिए अन्य साहित्यिक विधाएँ भी हैं और प्रत्येक कहानीकार को इस सीमा से परिचित होना चाहिए।

परिशिष्ट

परिशिष्ट – अ

मार्कण्डेय और शिव प्रसाद की कहानियाँ

मार्कण्डेय

1 गुलरा के बाबा
2. बासवी की माँ
3. नीम की टहनी
4. सवरइया
5. पान–फूल
6. भूरा
7. रेखाएँ
8. रामलाल
9. संगीत, आँसू और इंसान
10. मुंशी जी
11. सात बच्चों की माँ
12. कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए
13. जूते
14. एक दिन की डायरी
15. नौ सौ रूपये और एक ऊँट दाना
16. साबुन
17. मिस शान्ता
18. महुए का पेड़
19. मन के मोड़
20. हरामी के बच्चे

शिव प्रसाद

1. धरातल
2. दादी माँ
3. बरगद का पेड़
4. हीरो की खोज
5. महुवे के फूल
6. नयी–पुरानी तस्वीरें
7. कर्मनाशा की हार
8. देऊ दादा
9. मंजिल की मौत
10. मास्टर सुखलाल
11. पोशाक की आत्मा
12. चितकबरी
13. उसकी भी चिट्‌ठी आयी थी
14. मुर्गे ने बाँग दी
15. उपधाइन मैया
16. आर–पार की माला
17. कबूतरों का अड्‌डा
18. उस दिन तारीख थी
19. प्रायश्चित
20. पापजीवी

21. मिट्टी का घोड़ा
22. अगली कहानी
23. कल्यानमन
24. सोहगइला
25. दौने की पत्तियाँ
26. बातचीत
27. हंसा जाई अकेला
28. चाँद का टुकड़ा
29. प्रलय और मनुष्य
30. माई
31. आदर्श कुक्कुट–गृह
32. धूल का घर
33. भूदान
34. बिन्दी
35. शव–साधना
36. उत्तराधिकार
37. दाना–भूसा
38. दूध और दवा
39. सतह की बातें
40. माही
41. सूर्या
42. तारों का गुच्छा
43. आदर्शों का नायक
44. पक्षाघात

21. उपहार
22. वशीकरण
23. शहीद–दिवस
24. केवड़े का फूल
25. सँपेरा
26. भग्न प्राचीर
27. हाथ का दाग
28. रेती
29. बेहया
30. माटी की औलाद
31. गंगा–तुलसी
32. मरहला
33. बिना दीवार का घर
34. आदिम हथियार
35. बिन्दा महराज
36. कहानियों की कहानी
37. अन्धकूप
38. एक यात्रा सतह के नीचे
39. नन्हों
40. इन्हें भी इन्तजार है
41. धूल और हँसी
42. टूटे तारे
43. बहाव–वृत्ति
44. शाखामृग

45. आवाज

46. धुन

47. आदमी की दुम

48. ऑखें

49. मधुपुर के सीवान का एक कोना

50. सहज और शुभ

51. कानी घोड़ी

52. एक काला दायरा

53. लंगड़ा दरवाजा

54. बादलों का टुकड़ा

55. बीच के लोग

56. *बयान*

57. गनेशी

58. प्रिया रौनी

59. हलयोग (प्रकाशनाधीन)

45. सुबह के बादल

46. आखिरी बात

47. ताड़ीघाट का पुल

48. धतूरे का फूल

49. परकटी तितली

50. आँखें

51. बीच की दीवार

52. पैटमैन

53. खैरा पीपल कभी न डोले

54. खेल

55. कर्ज

56. टूटे शीशे की तस्वीरें

57. अरून्धती

58. मैं कल्याण और जहाँगीरनामा

59. प्लास्टिक का गुलाब

60. किसकी पाँखें

61. धारा

62. चेन

63. अँधेरा हँसता है

64. जंजीर, फायर ब्रिगेड और इन्सान

65. बेजुबान लोग

66. हत्या और आत्महत्या के बीच

67. एक वापसी और

68. राज गूजरी

69. "तो..."

70. बड़ी लकीरें

71. भेड़िये

72. तकावी

73. कलंकी अवतार

74. मुरदा सराय

75. मरना एक पेड़ का

76. श्रृंखला

77. काला जादू

78. चरित्रहीन

79. सुनो परीक्षित सुनो

80. शरीफ लोग

81. प्रमाण–पत्र

82. अमृता

83. आदमखोर पैंथर

84. एक और देवयानी

85. अमोक्ष

परिशिष्ट – ब

सहायक पुस्तक–सूची

आधार पुस्तक

1. अन्धकूप (सम्पूर्ण कहानियाँ–1) : शिव प्रसाद सिंह, प्रथम संस्करण : 1985, वाणी, नई दिल्ली
2. अमृता (सम्पूर्ण कहानियाँ–3) : शिव प्रसाद सिंह, दूसरा संस्करण : 1998, वाणी, नई दिल्ली
3. एक यात्रा सतह के नीचे (सम्पूर्ण कहानियॉ–2) : शिव प्रसाद सिंह, दूसरा संस्करण 1998, वाणी, नई दिल्ली
4. मार्कण्डेय की कहानियाँ : मार्कण्डेय, प्रथम संस्करण : 2002 लोकभारती, इलाहाबाद

उपन्यास

1. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह
2. अग्निबीज : मार्कण्डेय
3. आधा गाँव : डॉ0 राही मासूम रजा
4. गली आगे मुड़ती है : शिव प्रसाद सिंह
5. नौकर की कमीज : विनोद कुमार शुक्ल
6. मैला ऑचल : फणीश्वरनाथ रेणु
7. महाभोज : मन्नू भण्डारी
8. राग दरबारी : श्री लाल शुक्ल
9. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त
10. सेमल के फूल : मार्कण्डेय

कहानी-संग्रह

1. एक दुनिया समानान्तर : राजेन्द्र यादव (सं0), संस्करण : 1993, राधाकृष्ण, नई दिल्ली
2. कथा–धारा : मार्कण्डेय (सं0) द्वितीय संस्करण : 2000, लोक भारती, इलाहाबाद
3. कथा–सेतु : डॉ0 उमाशंकर तिवारी, श्रीमती माधुरी सिंह (सं0) संस्करण : 2001, वाणी, नई दिल्ली
4. कथा स्वर : संपादित, उत्तर महाराष्ट्र विद्यापीठ, जलगाँव द्वारा, संस्करण : 2000, वाणी, नई दिल्ली
5. काठ का सपना : मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली
6. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड–एक) : अन्तोन चेखव, प्रथम संस्करण : 2002, परिकल्पना, लखनऊ
7. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड–एक) : मक्सिम गोर्की, द्वितीय संस्करण : 2002, परिकल्पना, लखनऊ
8. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड–दो) : मक्सिम गोर्की, प्रथम संस्करण : 2002, परिकल्पना, लखनऊ
9. जातक : भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग
10. पुराणों की अमर कहानियाँ : राम प्रताप त्रिपाठी, प्रथम संस्करण : 1961, साहित्य भवन, इलाहाबाद
11. प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ : अमृतराय (सं0), हंस, 2002
12. प्रेमचन्द (प्रतिनिधि कहानियाँ) : भीष्म साहनी (सं0), तीसरा संस्करण : 1990, राजकमल, नई दिल्ली
13. प्रेगचन्द की श्रेष्ठ कहानियाँ : कुमार कृष्ण (सं0), संस्करण : 2000, वाणी, नई दिल्ली

14. पांच कहानियाँ : अलेक्सान्द्र पुश्किन, संस्करण : 2000, परिकल्पना, लखनऊ

15. मानक कहानियाँ : मार्कण्डेय (सं0), संस्करण : 1997, लोक भारती, इलाहाबाद

16. वोल्गा से गंगा : राहुल सांकृत्यायन, संस्करण : 2001, किताब महल, इलाहाबाद

17. सतह से उठता आदमी : मुक्तिबोध, चौथा संस्करण : 2000,भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली

18. हिन्दी कहानियाँ : डॉ0 श्रीकृष्ण लाल, 31वां संस्करण : 1994, साहित्य भवन, इलाहाबाद

19. हिन्दी कहानी के अठारह कदम : बटरोही (सं0), प्रथम संस्करण : 2002, वाणी, नई दिल्ली

कविता – संग्रह

1. आत्महत्या के विरुद्ध : रघुवीर सहाय, तीसरा संस्करण : 1985, राजकमल, नई दिल्ली

2. गजानन माधव मुक्तिबोध (प्रतिनिधि कविताएँ) : अशोक वाजपेयी (सं0), चतुर्थ संस्करण : 1991, राजकमल, नई दिल्ली

3. नागार्जुन (प्रतिनिधि कविताएँ) : नामवर सिंह (सं0), तृतीय संस्करण : 1988, राजकमल, नई दिल्ली

4. बीच का कोई रास्ता नहीं होता : पाश, संपादन–अनुवाद चमनलाल द्वारा, द्वितीय संस्करण : 1991, राजकमल, नई दिल्ली

5. शमशेर बहादुर सिंह (प्रतिनिधि कविताएँ) : नामवर सिंह (सं0) पहला संस्करण : 1990, राजकमल, नई दिल्ली

6. संसद से सड़क तक : धूमिल, छठवाँ संस्करण : 1990, राजकमल, नई दिल्ली

शोध, समीक्षा, आलोचना

अंग्रेजी

1. E.M. Forster (the personal voice) : John Colmer, Routledge & Kegan Paul, London and Boston.

2. E.M. Forster (the endless journey) : John Sayre Martin, First edition 1976, Cambridge University Press, London

3. Modern Fiction Studies : (D.H. Lawrence – special number), A Critical Quarterly Published at Purdue Univerity.

4. Speech in the English Novel : Norman Page, First published, 1973, Longman, London.

5. The theory of the Novel (New essays) : edited by John Halperin, Oxford University Press, 1974

6. The Rhetoric of Fiction : Wayne C. Booth, The University of Chicago Press Chicago & London, 1961.

हिन्दी

1. अधूरे साक्षात्कार : नेमिचन्द्र जैन, द्वितीय संस्करण : 1989, वाणी, नई दिल्ली

2. उपन्यास के पक्ष : (Aspect of the Novel - ई0एम0 फार्स्टर का अनुवाद) – श्रीमती राजुल भार्गव, प्रथम संस्करण : 1982, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

3. उपन्यास–लेखन शिल्प : (The craft of Novel writing - ए0एस0 ब्युरैक द्वारा सम्पादित का अनुवाद), रमेशचन्द्र शुक्ल, राममित्र चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण : 1973, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

4. एक साहित्यिक की डायरी : मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

5. कथा विवेचना और गद्यशिल्प : रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण : 1982, वाणी, नई दिल्ली

6. कहानी : नयी कहानी : नामवर सिंह, संस्करण : 1989, लोकभारती, इलाहाबाद

7. कहानी की बात : मार्कण्डेय, प्रथम संस्करण : 1984, लोक भारती, इलाहाबाद

8. कहानी की वर्णमाला : राजेन्द्र अरूण (सं0), प्रथम संस्करण : 1982, मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भोपाल

9. कहानी : रचना प्रक्रिया और स्वरूप : बटरोही, प्रथम संस्करण : 1973, अक्षर, नई दिल्ली

10. कथाकार शिव प्रसाद सिंह : डॉ0 कामेश्वर प्रसाद सिंह, प्रथम संस्करण : 1985, संजय बुक सेण्टर, गोलघर, वाराणसी

11. कहानी–शिक्षण, भारतीय भाषा विभाग, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, उत्तर प्रदेश (राज्य हिन्दी संस्थान, वाराणसी)

12. कुछ विचार : प्रेमचन्द, संस्करण : 1999, लोकभारती, इलाहाबाद

13. कल्पना और हिन्दी साहित्य : डॉ0 विवेकी राय, प्रथम संस्करण : 1999, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद

14. तुलनात्मक अध्ययन : स्वरूप और समस्याएँ – डॉ0 भ0ह0 राजूरकर, डॉ0 राजकमल बोरा, वाणी, नई दिल्ली

15. दूसरी परम्परा की खोज : नामवर सिंह, पहला संस्करण : 1983 राजकमल, नई दिल्ली

16. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति : डॉ0 देवीशंकर अवस्थी (सं0), प्रथम संस्करण : 1973, राजकमल, नई दिल्ली

17. नयी कविता और अस्तित्ववाद : राम विलास शर्मा, प्रथम छात्र संस्करण : 1993, राजकमल, नई दिल्ली

18. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध : मुक्तिबोध, द्वितीय संस्करण : 1977, विश्वंभारती, नागपुर

19. प्रेमचन्द : प्रकाशचन्द गुप्त, प्रथम संस्करण : 1969, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली

20. प्रेमचन्द और उनका युग : राम विलास शर्मा, पहला छात्र संस्करण : 1993, राजकमल, नई दिल्ली

21. प्रेमचन्द की विरासत और गोदान : शिव कुमार मिश्र, प्रथम संस्करण : 1999, अभिव्यक्ति, इलाहाबाद

22. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ : रामविलाश शर्मा, पाँचवाँ संस्करण : 1999, राजकमल, नई दिल्ली

23. मार्कण्डेय : कथाकार एवं समीक्षक : बलभद्र सिंह, शोध–प्रबन्ध, हिन्दी विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

24. यशपाल : कमला प्रसाद, प्रथम संस्करण : 1984, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली

25. लोक–कथा विज्ञान : श्री चन्द्र जैन, प्रथम संस्करण : 1997, मंगल प्रकाशन, जयपुर

26. शिव प्रसाद सिंह का कथा साहित्य : डॉ० सत्यदेव त्रिपाठी, प्रथम संस्करण : 1988, लोकभारती, इलाहाबाद

27. साहित्य–सहचर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, द्वितीय संस्करण : 1968, नैवेद्य निकेतन, रविन्द्रपुरी, वाराणसी

28. सृजन प्रक्रिया और शिल्प के बारे में : मक्सिम गोर्की, परिकल्पना, लखनऊ

29. साहित्य और यथार्थ : हावर्ड फास्ट, अनुवाद–विजय सुषमा संस्करण : 1993, अरुणोदय प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली

30. साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद : कुँवरपाल सिंह (सं0) प्रथम संस्करण : 1985, पीपुल्स लिटरेसी, मटियामहल, दिल्ली

31. सामाजिक यथार्थ और कथाभाषा : सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन अज्ञेय (सं0), प्रथम संस्करण : 1986, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

32. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम–जीवन : डॉ0 विवेकी राय, प्रथम संस्करण : 1974, लोकभारती, इलाहाबाद

33. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी चतुर्थ संस्करण : 1980, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद, पटना

34. हिन्दी के विकास में अपभ्रंस का योग : नामवर सिंह, पंचम संशोधित संस्करण : 1971, लोकभारती, इलाहाबाद

35. हिन्दी कहानी : अ–लगाव का दर्शन (The theme of alienation in Modern Hindi Short Stories – डॉ0 गॉर्डन चार्ल्स रोडरमल का अनुवाद) – अर्चना वर्मा, डॉ0 नत्थन सिंह, प्रथम संस्करण : 1982, अक्षर, नई दिल्ली

36. हिन्दी कहानी : समीक्षा और सन्दर्भ : डॉ0 विवेकी राय, प्रथम संस्करण : 1977, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद

37. हिन्दी कहानी का विकास : मधुरेश, तृतीय संस्करण : 2001, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद

38. हिन्दी कहानी का शैली–विज्ञान : डॉ0 बैकुण्ठ नाथ ठाकुर, प्रथम संस्करण : 1976, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना

39. हिन्दी भाषा : डॉ0 हरदेव बाहरी, तृतीय संस्करण, 1998, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद

40. हिन्दी आलोचना : पहचान और परख : डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, (सं0), लिपि प्रकाशन, दिल्ली

संस्कृत साहित्य

1. ईशावास्योपनिषद् : तारिणीश झा (सं0), रामनारायण लाल, विजय कुमार, कटरा रोड, इलाहाबाद
2. वेदचयनम् : विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी (सं0), संस्करण : 2002, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
3. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : डॉ0 कपिल देव द्विवेदी, संस्करण : 2002, रामनारायण लाल, विजय कुमार, कटरा रोड, इलाहाबाद

हिन्दी साहित्य का इतिहास

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी
2. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, संस्करण : 1991, लोकभारती, इलाहाबाद
3. हिन्दी का गद्य साहित्य : डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी

इतिहास – राजनीति

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध : इग्नू की बुकलेट
2. अद्भुत भारत (The wonder that was India - ए0एल0 बाशम का हिन्दी रूपान्तर) : वेंकटेश चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी संस्करण : 1994, शिव लाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा
3. आजादी के बाद का भारत (1947–2000) : विपिनचन्द्र, प्रथम संस्करण : 2002, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

4. आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास : सव्यसाची भट्टाचार्य, अनुवाद–डॉ0 माहेश्वर, पहला हिन्दी संस्करण : 1990, राजकमल, नई दिल्ली

5. आधुनिक भारत (1885–1947) : सुमित सरकार, अनुवाद सुशीला डोभाल, पहला छात्र संस्करण : 1992, राजकमल, नई दिल्ली

6. प्राचीन भारत (एक रूपरेखा) : डी0एन0 झा, अनुवादक–कन्हैया, सातवां हिन्दी संस्करण : 1995, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

7. प्राचीन भारत, सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक विकास की पड़ताल : डी0एन0 झा, प्रथम संस्करण : 2000, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली

8. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास : ओम प्रकाश, चतुर्थ संस्करण : 1997, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली

9. प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास : रामशरण शर्मा, द्वितीय संस्करण : 1993, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

10. भारतीय सामन्तवाद : रामशरण शर्मा, पहला संस्करण : 1993, राजकमल, नई दिल्ली

11. भारतीय इतिहास में मध्यकाल : इरफान हबीब, सहमत, नई दिल्ली

12. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए0आर0 देसाई, अनुवाद – प्रयागदत्त त्रिपाठी, द्वितीय हिन्दी संस्करण : 1997, मैकमिलन, नई दिल्ली

13. भारत का इतिहास : रोमिला थापर, बारहवाँ संशोधित संस्करण : 1989, राजकमल, नई दिल्ली

14. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष : विपिनचन्द्र, दूसरा संस्करण : 1998, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

15. स्वतन्त्र भारत : विकास की ओर 1947–1964 (आधुनिक भारत 1857–1964) : इग्नू की बुकलेट

समाजशास्त्रीय अध्ययन

1. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन : एम0एन0 श्रीनिवास, छठा हिन्दी संस्करण : 1991, राजकमल, नई दिल्ली
2. जाति तथा आर्थिक परिधि : एफ0जी0 बेली, अनुवाद – गोपाल कृष्ण सिन्हा (मूल–caste and the Economic Frontier), ओरियंट लांग्मैन, 1978
3. भारतीय ग्राम : श्यामाचरण दूबे, वाणी, नई दिल्ली .
4. स्त्री : उपेक्षिता (The second sex - सिमोन द बोउवा, का हिन्दी अनुवाद) – प्रभा खेतान, संस्करण : 2002, हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली
5. स्वप्न और यथार्थ (आजादी की आधी सदी) : पूरनचन्द जोशी, पहला संस्करण : 2000, राजकमल, नई दिल्ली

मनोविज्ञान

1. 'मनोविश्लेषण – फ्राइड' (A general introduction to Psycho Analysis का हिन्दी अनुवाद) देवेन्द्र कुमार, संस्करण : 1999, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

दर्शन-समीक्षा

1. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद : डॉ0 शिव प्रसाद सिंह : द्वितीय संस्करण : 1998, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
2. गान्धीवाद की शवपरीक्षा : यशपाल, संस्करण : 1998, लोकभारती, इलाहाबाद

पत्र-पत्रिकाएँ

1. **अब**, शताब्दी अंक, 2000–01 सम्पादन : शंकर, अभय, नर्मदेश्वर, सासाराम, बिहार
2. **आलोचना** (त्रैमासिक), सहस्त्राब्दी अंक, एक, दो, तीन तथा सात–आठ, प्रधान संपादक : नामवर सिंह, संपादक – परमानन्द श्रीवास्तव, राजकमल, नई दिल्ली
3. **आजकल** (मासिक)

   अंक, फरवरी 1996

   जुलाई 1996

   फरवरी–मार्च 1997

अगस्त 1998

जुलाई 2000 (निर्मल वर्मा पर विशेष)

दिसम्बर 2002 (यशपाल पर विशेष)

प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली

4. **इंडिया टुडे** (साहित्य वार्षिकी), 1992–93, 1995–96, 1997
   प्रधान संपादक : अरूणपुरी
   संपादक : प्रभु चावला
   नई दिल्ली
5. **उत्तर प्रदेश** (मासिक) , अक्टूबर 1998
   प्रधान संपादक : लीलाधर जगूड़ी
   सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश
6. **उद्भावना**, अंक 63, मार्च 2003 में प्रकाशित
   संपादक – अजेय कुमार
   शाहदरा, दिल्ली
7. **कथन** (त्रैमासिक) पूर्णांक – 30, अप्रैल–जून 2001
   संपादक – रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय
   पश्चिम विहार, नई दिल्ली
8. **तद्भव**,अंक–8,अक्टूबर,2002, संपादक–अखिलेश, लखनऊ
9. **साक्षात्कार**, मार्च 1997
   संपादक – आग्नेय
   मध्य प्रदेश साहित्य परिषद, भोपाल

समाचार पत्र

1. राष्ट्रीय सहारा (नई दिल्ली)
2. सहारा–समय (नई दिल्ली)
3. हिन्दुस्तान (नई दिल्ली)

❑ ❑ ❑